एस धम्मो सनंतनो, भाग 10

प्रवचन-क्रम

92. मृत्यु की महामारी में खड़ा जीवन...2
93. जीने में जीवन है..27
94. धर्म के त्रिरत्न...49
95. मातरम् पितरम् हंत्वा..69
96. लोभ संसार है, गुरु से दूरी है...89
97. मृत्युबोध के बाद ही महोत्सव संभव...111
98. सत्यमेव जयते..137
99. एकमात्र साधना--सहजता..160 100..ध्यान का दीप, करुणा का प्रकाश .... 183 101..हम अनंत के यात्री हैं ....205 102..जीवन का परम सत्य: यहीं, अभी, इसी में 225

एस धम्मो सनंतनो, भाग 10
बान्वे प्रवचन

मृत्यु की महामारी में खड़ा जीवन

मत्तासुखपरिच्चागा पस्से चे विपुलं सुखं।
चजे मत्तासुखं धीरो संपस्सं विपुलं सुखं।। 241।।

परदुक्खूपदानेन यो अत्तनो सुखमिच्छति।
वेरसंसग्गसंसट्ठो वेरा सो न परिमुच्चति।। 242।।

यं हि किच्चं तदपविद्धं अकिच्चं पन कयिरति।
उन्नलानं पमत्तानं तेसं बड्ढंति आसवा।। 243।।

येसंच सुसमारद्धा निच्चं कायगतासति।
अकिंचन्ते न सेवंति किच्चे सातच्चकारिनो।
सतानं संपजानानं अत्थं गच्छंति आसवा।। 244।।

मातरं पितरं हंत्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हंत्वा अनीघो याति ब्राह्मणो।। 245।।

मातरं पितरं हंत्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपंचमं हंत्वा अनीघो याति ब्राह्मणो।। 246।।

प्रथम दृश्य--

एक समय वैशाली में दुर्भिक्ष हुआ था और महामारी फैली थी। लोग कुत्तों
की मौत मर रहे थे। मृत्यु का तांडव नृत्य हो रहा था। मृत्यु का ऐसा विकराल रूप तो लोगों ने कभी नहीं देखा था, न सुना था। सब उपाय किए गए थे, लेकिन सब उपाय हार गए थे। फिर कोई और मार्ग न देखकर लिच्छवी राजा राजगृह जाकर भगवान को वैशाली लाए। भगवान की उपस्थिति में मृत्यु का नंगा नृत्य धीरे-धीरे शांत हो गया था--मृत्यु पर तो अमृत की ही विजय हो सकती है। फिर जल भी बरसा था, सूखे वृक्ष पुनः हरे हुए थे; फूल वर्षों से न लगे थे, फिर से लगे थे, फिर फल आने शुरू हुए थे। लोग अति प्रसन्न थे।
और भगवान ने जब वैशाली से विदा ली थी तो लोगों ने महोत्सव मनाया था, उनके हृदय आभार और अनुग्रह से गदगद थे। और तब किसी भिक्षु ने भगवान से पूछा था--यह चमत्कार कैसे हुआ? भगवान ने कहा था--भिक्षुओ, बात आज की नहीं है। बीज तो बहुत पुराना है, वृक्ष जरूर आज हुआ है। मैं पूर्वकाल में शंख नामक ब्राह्मण होकर प्रत्येक बुद्धपुरुष के चैत्यों की पूजा किया करता था। और यह जो कुछ हुआ है, उसी पूजा के विपाक से हुआ है। जो उस दिन किया था वह तो अल्प था, अत्यल्प था, लेकिन उसका ऐसा महान फल हुआ है। बीज तो होते भी छोटे ही हैं। पर उनसे पैदा हुए वृक्ष आकाश को छूने में समर्थ हो जाते हैं। थोड़ा सा त्याग भी, अल्पमात्र त्याग भी महासुख लाता है। थोड़ी सी पूजा भी, थोड़ा सा ध्यान भी जीवन में क्रांति बन जाता है। और जीवन के सारे चमत्कार ध्यान के ही चमत्कार हैं। तब उन्होंने ये गाथाएं कही थीं--

मत्तासुखपरिच्चागा पस्से चे विपुलं सुखं।
चजे मत्तासुखं धीरो संपस्सं विपुलं सुखं।।
परदुक्खूपदानेन यो अत्तनो सुखमिच्छति।
वेरसंसग्गसंसट्ठो वेरा सो न परिमुच्चति।।

"थोड़े सुख के परित्याग से यदि अधिक सुख का लाभ दिखायी दे तो धीरपुरुष अधिक सुख के ख्याल से अल्पसुख का त्याग कर दे।"

2

"दूसरों को दुख देकर जो अपने लिए सुख चाहता है, वह वैर में और वैर के चक्र में फंसा हुआ व्यक्ति कभी वैर से मुक्त नहीं होता।"
पहले तो इस छोटी सी कथा को ठीक से समझ लें, क्योंकि कथा में ही सूत्रों
के प्राण छिपे हुए हैं।
मनुष्य का मन ऐसा है कि दुख में ही भगवान को याद करता है। सुख हो तो भगवान को भूल जाता है। और दुर्भाग्य की बात है यह। क्योंकि जब तुम दुख में याद करते हो तो भगवान से मिलन भी हो जाए तो भी तुम्हारी बहुत ऊपर गति नहीं हो पाती। ज्यादा से ज्यादा दुख से छूट जाओगे। अगर सुख में याद करो तो सुख से छूट जाओगे और महासुख को उपलब्ध होओगे। जब तुम दुख में याद करते हो तो याद का इतना ही परिणाम हो सकता है कि दुख से छूट जाओ, सुख में आ जाओ। लेकिन सुख कोई गंतव्य थोड़े ही है। सुख कोई जीवन का लक्ष्य थोड़े ही है। जो सुखी हैं वे भी सुखी कहां हैं! दुखी तो दुखी है ही, सुखी भी सुखी नहीं है। इसलिए अगर सुख भी मिल जाए तो कुछ मिला नहीं बहुत।
जो सुख में याद करता है, उसकी सुख से मुक्ति हो जाती है, वह महासुख में पदार्पण करता है। वह ऐसे सुख में पदार्पण करता है जो शाश्वत है, जो सदा है। सुख तो वही जो सदा हो। सुख की इस परिभाषा को खूब गांठ बांधकर रख लेना। सुख तो वही जो सदा रहे। जो आए और चला जाए, वह तो दुख का ही एक रूप है। आएगा, थोड़ी देर भ्रांति होगी कि सुख हुआ, चला जाएगा--और भी गहरे गड्ढे में गिरा जाएगा, और भी दुख में पटक जाएगा।
जो क्षणभंगुर है, वह आभास है, वास्तविक नहीं। वास्तविक तो मिटता ही नहीं, मिट सकता नहीं। जो है, सदा है और सदा रहेगा। जो नहीं है, वह कभी भासता है कि है और कभी तिरोहित हो जाता है। जैसे दूर मरुस्थल में तुम्हें जल-सरोवर दिखायी पड़े। अगर है, तो तुम उसके पास भी पहुंच जाओ तो भी है, तुम उससे जल पी लो तो भी है, तुम उससे दूर भी चले जाओ तो भी है। लेकिन अगर मृगमरीचिका है, अगर सिर्फ दिखायी पड़ रहा है, अगर सिर्फ तुम्हारे प्यास के कारण तुमने ही कल्पना कर ली है, तो जैसे-जैसे पास पहुंचोगे वैसे-वैसे जल का सरोवर तिरोहित होने लगेगा। जब तुम ठीक उस जगह पहुंच जाओगे जहां जल-सरोवर दिखायी पड़ता था, तब तुम अचानक पाओगे, रेत के ढेरों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। तुम्हारी प्यास ने ही सपना देख लिया था।
प्यास सपने पैदा करती है। अगर तुमने दिन में उपवास किया है तो रात तुम सपना देखोगे भोजन करने का। भूख ने सपना पैदा कर दिया। अगर तुम्हारी कामवासना अतृप्त है तो रात तुम सपने देखोगे कामवासना के तृप्त करने के। क्षुधा ने सपना पैदा कर दिया। गरीब धन के सपने देखता है। अमीर स्वतंत्रता के सपने देखता है। जो हमारे पास नहीं है, उसका हम सपना देखते हैं। और अगर हमारी क्षुधा इतनी बढ़ जाए, प्यास इतनी बढ़ जाए कि हमारा पूरा मन आच्छादित हो जाए उसी प्यास से, तो फिर हम भीतर ही नहीं देखते, आंख बंद करके ही नहीं देखते, खुली आंख भी सपना दिखायी पड़ने लगता है। वही मृगमरीचिका है। तब तुम्हारा सपना इतना प्रबल हो गया कि तुम सत्य को झुठला देते हो और उसके ऊपर सपने को आरोपित कर लेते हो।
हम सबको ऐसा अनुभव है, हमने चाहे समझा हो चाहे न समझा हो; जो नहीं है, उसको भी हम देख लेते हैं। किसी स्त्री से तुम्हारा प्रेम है, तुम्हें उसकी क्षुधा है, तुम्हें उसकी प्यास है, उस स्त्री को तुमसे कुछ लेना-देना नहीं है, लेकिन तुम उसकी भाव-भंगिमा में, उसके उठने-बैठने में देख लोगे इशारा कि उसको तुमसे प्रेम है। वह तुमसे अगर हंसकर भी बोल लेगी--हंसकर वह सभी से बोलती होगी--अगर वह तुम्हें कभी घर चाय पिलाने के लिए बुला लेगी, तो तुम समझोगे कि उसे प्रेम है। तुम इस छोटी सी बात पर अपनी पूरी वासना को आरोपित कर दोगे। राह पर रुककर तुमसे बात कर लेगी तो तुम समझोगे कि उसको भी मेरी आकांक्षा है।
हम प्रतिपल ऐसा करते हैं। जो नहीं है, उसको देख लेते हैं, क्योंकि हम चाहते हैं कि वह हो। जो है, उसको झुठला देते हैं, क्योंकि हम चाहते नहीं कि वह हो। ऐसे हम जीवन को झूठ करके जीते हैं। क्षणभर को दिख भी जाए, इससे कुछ फर्क न पड़ेगा। सपना तो टूटेगा। सपनों में सुख कहां! सुख तो शाश्वतता में है।

इसलिए बुद्ध कहते हैं--एस धम्मो सनंतनो। जो सदा रहे वही धर्म है।
सनातन धर्म का स्वभाव है।
वैशाली में दुर्भिक्ष हुआ। वैशाली के पास ही राजगृह में भगवान ठहरे हैं, लेकिन जब तक दुखी न थे लोग तब तक उन्हें निमंत्रित न किया था।
ये कथाएं तो प्रतीक-कथाएं हैं। यही तो हमारी दशा है। जब सब ठीक चलता होता, कौन मंदिर जाता, कौन पूजा करता, कौन प्रभु को स्मरण करता! जब तुम जीत रहे होते, तब तो परमात्मा की याद भूल जाती है; जब तुम हारने लगते, तब तुम साधु-सत्संग खोजते। जब जीवन में विषाद पकड़ता, जब तुम्हारे किए कुछ भी नहीं होता, तब तुम कोई सहारा खोजते, तब तुम राम-राम जपते, तब तुम माला पकड़ते, तब तुम ध्यान में बैठते। और ख्याल रहे, दुख में ध्यान करना बहुत कठिन है। दुख बड़ा व्याघात है। दुख बड़ा विघ्न है। सुख में ध्यान करना सरल है, लेकिन सुख में कोई ध्यान करता नहीं।
सुख की तरंग पर अगर तुम ध्यान में जुड़ जाओ--मन सुख से भरा है, मन प्रफुल्लित है, मन ताजा है, युवा है--इस उत्साह के क्षण को अगर तुम ध्यान में लगा दो, तो जो ध्यान वर्षों में पूरा न होगा, वह क्षणों में पूरा हो सकता है।
इसलिए मेरी अनिवार्य शिक्षा यही है कि जब सुख का क्षण हो, तब तो चूकना
ही मत। तब तो सुख के क्षण को ध्यान के लिए समर्पित कर देना। तब भगवान को याद कर लेना। वह याद बड़ी गहरी जाएगी। वह तुम्हारे अंतस्तल को छू लेगी। वह तुम्हारे प्राणों की गहराई में प्रतिष्ठित हो जाएगी। तुम मंदिर बन जाओगे।
जब तुम्हारी आंखें आंसू से भरी हैं, तब तुम भगवान को बुलाते हो, द्वार
तो अवरुद्ध है। जब तुम्हारे ओंठ मुस्कुराहट से भरे हैं, तब बुलाओ। तब द्वार खुले हैं। तब उस मुस्कुराहट के सहारे तुम्हारे प्रभु का स्मरण तुम्हारी आत्मा तक को रूपांतरित करने में सफल हो जाएगा। सुख में करो याद। जो दुख में करते हैं, दुख से राहत मिल जाती है। प्रभु की स्मृति है, राहत तो देगी। लेकिन जो सुख में याद करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। इस बात को ख्याल में रखना।
वैशाली में पड़ा दुर्भिक्ष, बड़ी महामारी फैली, लोग कुत्तों की मौत मरने लगे, तब घबड़ाए। मृत्यु का तांडव नृत्य, ऐसा कभी देखा न था, सुना भी न था। इतिहास में वर्णित भी न था। सब उपाय किए... ।
ख्याल रखना, आदमी पहले और सब उपाय कर लेता है, परमात्मा अंतिम उपाय है। और जिसको तुम अंतिम उपाय मानते हो, वही प्रथम है। लेकिन तुम उसे क्यू में आखिर में खड़ा करते हो। तुम पहले और सब उपाय कर लेते हो। जब तुम्हारा कोई उपाय नहीं जीतता, तब तुम परमात्मा की तरफ झुकते हो। थके-हारे, इस विचार से कि शायद, अब और तो कहीं होता नहीं, शायद हो जाए। यह आस्था नहीं है-- आस्थावान तो पहले परमात्मा की तरफ झुकता है--यह अनास्था है। पहले तुम जाओगे उस दिशा में जिसमें तुम्हारी आस्था है।
समझो कि बीमार पड़े। तो तुम पहले होमियोपैथ के पास नहीं जाओगे, पहले एलोपैथ के पास जाओगे। उसमें तुम्हारी आस्था है। फिर अगर एलोपैथ न जीत सका, तो तुम आयुर्वेद के पास जाओगे, उसमें तुम्हारी थोड़ी सी डगमगाती आस्था है-- पुराना संस्कार है। फिर वह भी न जीता, तो तुम शायद होमियोपैथ के पास जाओ। अब तुम सोचते हो, शायद! होमियोपैथ भी न जीते तो फिर तुम शायद नेचरोपैथ के पास जाओ। और जब सब पैथी हार जाएं, तो शायद तुम परमात्मा का स्मरण करो; तुम कहो, अब तो कोई सहारा नहीं, अब तो बेसहारा हूं। अंत में तुम याद करते हो? अंत में याद करते हो, यही बताता है कि तुम्हारी कोई आस्था नहीं। अन्यथा पहले तुम परमात्मा की याद किए होते। पहला मौका तुम उसको देते हो जिसमें तुम्हारी आस्था है। परमात्मा आखिर में हमने रख छोड़ा है।
वैशाली के लोग हमसे कुछ भिन्न न थे, ठीक हम जैसे लोग थे। ऐसी घटना कभी घटी या नहीं घटी, इसकी फिकर में मत पड़ना। वैशाली के लोग हम जैसे लोग थे। इसीलिए तो लोग बुढ़ापे में परमात्मा का स्मरण करते हैं, जवानी में नहीं। तब तो सब ठीक चलता मालूम पड़ता है। नाव बहती मालूम पड़ती है। दूसरा किनारा बहुत दूर नहीं मालूम पड़ता। पैरों में बल होता है, अपने अहंकार पर भरोसा होता है;

कर लेंगे। खुद जूझने की हिम्मत होती है। फिर धीरे-धीरे पैर कमजोर हो जाते हैं, नाव टूटने-फूटने लगती है, दूसरा किनारा दूर होने लगता है, लगता है मझधार में ही डूबकर मरना है; अपने पर अब भरोसा नहीं रह जाता, अपने सब किए उपाय व्यर्थ होने लगते हैं, तब आदमी भगवान की स्मृति करता है। तब सोचता है, शायद!
पर ख्याल रखना, जिसने अंत में भगवान को मौका दिया है उसके भीतर शायद
तो मौजूद रहेगा ही। अंत में मौका देने का मतलब ही है कि तुम्हारा भगवत्ता में विश्वास नहीं है।
ये वैशाली के लोग, दुर्भिक्ष फैला होगा, महामारी फैली होगी, सब उपाय किए होंगे, चिकित्सा-व्यवस्था की होगी, लेकिन कुछ भी रास्ता न मिला, लोग कुत्तों की मौत मर रहे थे... यह कुत्तों की मौत शब्द मुझे बहुत ठीक लगा। गुरजिएफ निरंतर अपने शिष्यों से कहा करता था कि जिस व्यक्ति ने ध्यान नहीं किया, वह कुत्ते की मौत मरेगा। किसी ने उससे पूछा, कुत्ते की मौत का क्या अर्थ होता है? तो गुरजिएफ ने कहा, कुत्ते की मौत का अर्थ यह होता है कि व्यर्थ जीआ और व्यर्थ मरा। दुत्कारें खायीं, जगह-जगह से भगाया गया, जहां गया वहीं दुत्कारा गया, रास्ते पर पड़ी जूठन से जिंदगी गुजारी, कूड़े- करकट पर बैठा और सोया, और ऐसे ही आया और ऐसे ही व्यर्थ चला गया, न जिंदगी में कुछ पाया न मौत में कुछ दर्शन हुआ--कुत्ते की मौत!
लेकिन, हमें लगता है कि कभी-कभी कोई कुत्ते की मौत मरता है। बात उलटी है, कभी-कभी कोई मरता है जिसकी कुत्ते की मौत नहीं होती। अधिक लोग कुत्ते की मौत ही मरते हैं। हजार में एकाध मरता है जिसकी मौत को तुम कहोगे कुत्ते की मौत नहीं है। जो जीआ, जिसने जाना, जिसने जागकर अनुभव किया, जिसने जीवन को पहचाना, जिसने जीवन की किरण पकड़ी और जीवन के स्रोत की तरफ आंखें उठायीं, जो ध्यानस्थ हुआ, वही कुत्ते की मौत नहीं मरता।
फिर हम बड़े बेचैन हो जाते हैं--महामारी फैल जाए, लोग मरने लगें, तो हम बड़े बेचैन हो जाते हैं। और एक बात पर हम कभी ध्यान ही नहीं देते कि सभी को मरना है--महामारी फैले कि न फैले। इस जगत में सौ प्रतिशत लोग मरते हैं। ख्याल किया? ऐसा नहीं कि निन्यानबे प्रतिशत लोग मरते हैं, कि अट्ठानबे प्रतिशत लोग मरते हैं, कि अमरीका में कम मरते हैं और भारत में ज्यादा मरते हैं। यहां सौ प्रतिशत लोग मरते हैं--जितने बच्चे पैदा होते हैं उतने ही आदमी यहां मरते हैं। महामारी तो फैली ही हुई है। महामारी का और क्या अर्थ होता है? जहां बचने का किसी का भी कोई उपाय नहीं। जहां कोई औषधि काम न आएगी। साधारण बीमारी को हम कहते हैं--जहां औषधि काम आ जाए, तो उसको कहते हैं बीमारी, रोग। महामारी कहते हैं जहां कोई औषधि काम न आए। जहां हमारे सब उपाय टूट जाएं और मृत्यु अंततः जीते। महामारी तो फैली हुई है, सदा से फैली हुई है। इस पृथ्वी पर हम मरघट में ही खड़े हैं। यहां मरने के अतिरिक्त और कुछ होने वाला नहीं है। देर-अबेर घटना घटेगी। थोड़े समय का अंतर होगा। वैशाली के लोगों ने यह कभी न देखा था कि सभी लोग मरते हैं, सभी को मरना है। अगर यह देखा होता तो भगवान को पहले बुला लाए होते कि हमें कुछ जीवन के सूत्र दे दें, कोई सोपान दें कि हम भी जान सकें, अमृत क्या है? लेकिन नहीं गए, क्योंकि महामारी फैली नहीं थी।
आदमी ने कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि मौत दिखायी नहीं पड़ती। जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण है वह दिखायी नहीं पड़ती। और जो व्यर्थ की बातें हैं, खूब दिखायी पड़ती हैं। तुम एक कार को खरीदते हो तो जितना सोचते हो, जितनी रात सोते नहीं, जितनी केटलाग देखते हो; तुम एक मकान खरीदते हो तो जितनी खोजबीन करते हो; तुम एक सिनेमागृह में जाते हो तो जितना विचार करते हो अखबार उठाकर कि कहां जाना, कौन सी फिल्म देखनी, तुम जीवन के संबंध में इतना भी नहीं सोचते! तुम यह भी नहीं देखते कि यह जीवन हाथ से बहा जा रहा है और मौत रोज पास आयी चली जा रही है। मौत द्वार पर खड़ी है, कब ले जाएगी कहा नहीं जा सकता। हमने इस तरह से झुठलाया है मौत को कि जिसका हिसाब नहीं!
मेरी एक किताब है--अनटिल यू डाय, जब तक तुम मरो नहीं। इंग्लैंड में एक प्रकाशक उसे छापना चाहता है--शैल्टन प्रेस। उनका पत्र मुझे मिला तो मैं चकित हुआ। उन्होंने लिखा, किताब अदभुत है, हम इसे छापना चाहते हैं

इंग्लैंड में, लेकिन नाम हम यह नहीं रख सकते। अनटिल यू डाय, यह तो इसका शीर्षक देखकर ही लोग इसे खरीदेंगे नहीं। लोग मौत से इतना डरते हैं। ऐसी किताब कौन खरीदेगा जिसके ऊपर यह लिखा हो--अनटिल यू डाय! नाम यह हम नहीं रख सकते हैं, नाम हमें बदलना पड़ेगा, उन्होंने लिखा।
सूचक है बात, हम मौत की बात ही कहां करते हैं! कोई मर जाता है तो कहते हैं, देहावसान हो गया। छिपाते हैं। कोई मर गया तो कहते हैं, स्वर्गवासी हो गए। चाहे नरक ही गए हों! सौ में से निन्यानबे नरक ही जा रहे होंगे, जैसा जीवन दिखता है उसमें शायद ही कोई कभी स्वर्गवासी होता हो। लेकिन यहां जो भी मरे, जहां भी मरे--दिल्ली में भी मरो--तो भी स्वर्गवासी! बस मरे कि स्वर्गवासी हो गए! कि परमात्मा के प्यारे हो गए! कि प्रभु ने उठा लिया! मौत शब्द का सीधा उपयोग करने में भी हम घबड़ाते हैं। क्यों?
मौत शब्द से बेचैनी होती है, मौत शब्द में अपनी मौत की खबर मिलती है, धुन मिलती है। मौत शब्द हमें याद दिलाता है कि मुझे भी मरना होगा। देहावसान में ऐसी धुन नहीं मिलती। स्वर्गीय में ऐसा भाव नहीं पैदा होता है, कि चलो किसी दिन हम भी स्वर्गीय हो जाएंगे, कोई बात नहीं, स्वर्ग मिलेगा। मौत बहुत स्पष्ट कह देती है बात को, स्वर्गीय में बहुत छिपाकर बात कही गयी है। जहर को छिपा दिया मिठास में, ऊपर एक शक्कर की पर्त लगा दी। मरघट को देखते हो, सारी दुनिया में, कोई जाति हो, कोई धर्म हो, कोई देश हो, गांव के बाहर बनाते हैं। और मौत खड़ी है जिंदगी के बीच में। ठीक जहां तुम्हारा बाजार है, एम.जी. रोड पर, वहां होना चाहिए मरघट। ठीक बीच बाजार में। ताकि जितनी बार तुम बाजार जाओ--सब्जी खरीदो, कि कपड़ा खरीदो, कि सिनेमा-गृह जाओ--हर बार तुम्हें मौत से साक्षात्कार हो, हर बार तुम देखो कि कोई चिता जल रही है। हर बार तुम देखो कि फिर कोई अर्थी आ गयी। बीच बाजार में होना चाहिए मरघट, क्योंकि जिंदगी के बीच में खड़ी है मौत। उसे हम बाहर हटाकर रखते हैं--दूर गांव के, जहां हमें जाना नहीं पड़ता। या कभी-कभी किसी के साथ जाना पड़ता है अर्थी में, तो बड़े बेमन से चले जाते हैं और जल्दी से भागते हैं वहां से। जाना वहीं पड़ेगा जहां से तुम भाग-भाग आते हो। जैसे तुम दूसरों को पहुंचा आए वैसे दूसरे तुम्हें पहुंचा आएंगे--ठीक ऐसे ही।
मैं छोटा था--तो जैसा सभी घरों में होता है--कभी कोई मर जाए तो मेरी मां मुझे जल्दी से अंदर बुलाकर दरवाजा बंद कर लेती, चलो अंदर चलो, अंदर चलो! मैं पूछता, बात क्या है? वह कहती, अंदर चलो, बात कुछ भी नहीं है। मेरी उत्सुकता बढ़ी, स्वाभाविक था, कि बात क्या है? जब भी कोई हंडी लिए निकलता, बाजा-बैंड बजता, मुझे अंदर बुला लिया जाता, दरवाजा बंद कर दिया जाता--मौत दिखायी नहीं पड़नी चाहिए बच्चों को। अभी से इतनी खतरनाक बात दिखायी पड़े, कहीं जीवन में हताश न हो जाएं। मगर मेरी मां का दरवाजे को बंद करना मेरे लिए बड़ा कारगर हो गया; वह एक दरवाजे को बंद करतीं, मैं दूसरे से नदारद हो जाता। मैं धीरे-धीरे जो भी गांव में मरता उसी के साथ मरघट जाने लगा। फिर तो गांव में जितने आदमी मरे, मैं सुनिश्चित था, लोग मुझे पहचानने भी लगे कि वह लड़का आया कि नहीं! कोई भी मरे, इसकी फिर मुझे फिकर ही नहीं रही कि कौन मरता है, इससे क्या फर्क पड़ता है, फिर मैं जाने ही लगा। हर आदमी की मौत पर मरघट जाने लगा। और धीरे-धीरे बात यह मुझे ख्याल में उस समय से आने लगी कि मरघट को गांव के बाहर छिपाकर क्यों बनाया है, दीवाल उठा दी है, सब तरफ से छिपा दिया है, कहीं से दिखायी न पड़े।
एक म्युनिसिपल कमेटी में विचार किया जा रहा था मरघट के चारों तरफ बड़ी दीवाल उठाने का, सब पक्ष में थे, एक झक्की सा आदमी खड़ा हुआ और उसने कहा कि नहीं, इसका क्या सार! क्योंकि जो वहां दफना दिए गए हैं, वे निकलकर बाहर नहीं आ सकते; और जो बाहर हैं, वे अपने आप भीतर जाना नहीं चाहते, इसलिए दीवाल की जरूरत क्या?
मगर दीवाल का प्रयोजन दूसरा है। उसका प्रयोजन है, जो बाहर हैं, उनको दिखायी न पड़े कि जीवन का सत्य क्या है। जीवन का सत्य है मृत्यु। जीवन महामारी है। क्योंकि जीवन सभी को मार डालता है। इसका कोई इलाज नहीं है। तुमने कभी सोचा, जीवन का कोई इलाज है! टी.बी. का इलाज है, कैंसर का भी इलाज हो जाएगा अगर नहीं है तो, मगर जीवन का कोई इलाज है! और जीवन सभी को मार

डालता है, तुमने देखा? सौ प्रतिशत मार डालता है। जो जीवित हुआ, वह मरेगा ही। जीवन का कोई भी इलाज नहीं है। जीवन महामारी है।
लेकिन वैशाली के लोगों को पता नहीं था--जैसा तुमको पता नहीं है, जैसा किसी को पता नहीं है--हम महामारी के बीच ही पैदा होते हैं। क्योंकि हम मरणधर्मा दो व्यक्तियों के संयोग से पैदा होते हैं। हम मौत के बीच ही पैदा होते हैं, हम मौत के नृत्य की छाया में ही पैदा होते हैं। हम मौत की छाया में ही पलते और बड़े होते हैं। और एक दिन हम मौत की ही दुनिया में वापस लौट जाते हैं--मिट्टी मिट्टी में गिर जाती है। हम महामारी में ही जी रहे हैं। जिसे यह दिख जाता है, उसके जीवन में क्रांति का सूत्रपात होता है।
वैशाली में दुर्भिक्ष हुआ तब लोगों को याद आयी, महामारी फैली तब याद आयी; सब उपाय कर लिए, सब उपाय हार गए, तब याद आयी। फिर उन्होंने अपने राजा को राजी किया होगा कि अब आप जाएं, भगवान राजगृह में ठहरे हैं, उन्हें बुला लाएं। शायद! शायद उनकी मौजूदगी और चीजें बदल जाएं।
ख्याल रखना कि तुम चाहे शायद ही भगवान को बुलाओ तो भी चीजें बदल जाती हैं। कभी-कभी तुम संयोगवशात ही याद करो तो भी परिवर्तन हो जाता है। तुम्हारी आस्था अगर होती है तब तो बड़ा गहरा परिवर्तन हो जाता है, तुम अगर कभी संदेह से भरे हुए भी याद कर लेते हो, तो तुम्हारे संदेह को भी हिलाकर परिणाम होते हैं। तुम्हारा संदेह बाधा तो बनता है, लेकिन बिल्कुल ही रोक नहीं पाता, कुछ न कुछ हो ही जाता है। पूरा सागर मिल सकता था अगर आस्था होती, अब पूरा सागर शायद न मिले, मगर छोटा-मोटा झरना तो फूट ही पड़ता है। तुम्हारे संदेह को तोड़कर भी भगवान फूट पड़ता है। इसलिए जो न बुला सकते हों आस्था से, कोई फिकर नहीं, शायद-भाव से ही बुलाएं, मगर बुलाएं तो। जो न बुला सकते हों सुख में, कोई फिकर नहीं, दुख में ही बुलाएं, मगर बुलाएं तो। आज दुख में बुलाया, कल शायद सुख में भी बुलाएंगे।
राजा गया, राजगृह जाकर भगवान को वैशाली लिवा आया। भगवान ने एक बार भी
न कहा कि अब आए! बड़ी देर करके आए। और मैं तो निरंतर यही कहता रहा हूं कि जीवन दुख है और जीवन मृत्यु है और सब क्षणभंगुर है और सब जा रहा है, तुमने कभी न सुना! मेरी नहीं सुनी, महामारी की सुन ली!
कभी-कभी ऐसा होता है, श्रेष्ठतम पुकार हम नहीं सुनते, निकृष्ट की पुकार हमें समझ में आ जाती है, क्योंकि हम निकृष्ट हैं। हमारी भाषा निकृष्ट की भाषा है। बुद्ध बीच में खड़े होकर हमें पुकारें तो शायद हम न सुनें, दिवाला निकल जाए और हमारी समझ में आ जाए। पत्नी मर जाए और हमारी समझ में आ जाए। जुए में हार जाएं और हमारी समझ में आ जाए। और बुद्ध पुकारते रहें और हमारी समझ में न आए। हमारी एक दुनिया है, कीड़े-मकोड़ों की दुनिया है, जमीन पर सरकती हुई दुनिया है। हम आकाश में उड़ते नहीं, आकाश की भाषा हमारी पकड़ में नहीं आती।
लेकिन बुद्ध ने इनकार न किया। उन्होंने कहा, चलो, किसी बहाने सही, मुझे याद किया। चलो महामारी इनको एक संदेश ले आयी कि अब भगवान की जरूरत है, चलो इसका भी उपयोग कर लें।
भगवान की उपस्थिति में मृत्यु का नंगा नृत्य धीरे-धीरे शांत हो गया।
ऐसा हुआ या नहीं, इसकी फिकर में मत पड़ना। ये बातें कुछ भीतर की हैं। बाहर हुआ हो तो ठीक, न हुआ हो तो ठीक। लेकिन भगवान की उपस्थिति में मृत्यु का नृत्य शांत हो ही जाता है। तुम अपने हृदय की वैशाली में भगवान को बुलाओ, इधर भगवान का प्रवेश हुआ, उधर तुम पाओगे, मौत बाहर निकलने लगी। यह है अर्थ। बौद्ध शास्त्रों में भी ऐसा अर्थ नहीं लिखा है। वे यही मानकर चलते हैं कि यह तथ्यगत बात है। मैं नहीं मानता कि यह तथ्यगत बात है। यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है--तत्वगत है, तथ्यगत नहीं। इसमें तत्व तो बहुत है, लेकिन इसको फैक्ट और तथ्य मानकर मत चलना। अन्यथा व्यर्थ के विवाद पैदा होते हैं कि ऐसा कैसे हो सकता है! महामारी कैसे दूर हो जाएगी! और कैसे दूर होगी, बुद्ध को खुद भी तो एक दिन मरना पड़ा। यह शरीर तो जाता ही है, बुद्ध का हो तो भी जाता है। बुद्ध जैसे प्यारे आदमी का शरीर हो तो भी जाता है।
तो मौत बुद्ध की मौजूदगी में हट गयी हो वैशाली से, ऐसा तो लगता नहीं, लेकिन किसी और गहरे तल पर बात सच है। जब भी कोई व्यक्ति भगवान को बुला ले

आता है अपने हृदय में, तो मौत हट जाती है। तुम्हें पहली दफा अमृत की प्रतीति होनी शुरू होती है। भगवान की मौजूदगी में तुम्हारे भीतर पहली दफे वे स्वर उठते हैं जो शाश्वत के हैं। एस धम्मो सनंतनो। तुम्हें एक दृष्टि का नया आयाम खुलता हुआ मालूम पड़ता है।
हमने देह के साथ अपने को एक समझ लिया है, तो हम मरणधर्मा हो गए हैं। हम भूल ही गए हैं कि हम देह नहीं हैं--देह में जरूर हैं। हमें स्मरण नहीं रहा है कि हम मिट्टी के दीए नहीं हैं। मिट्टी के दीए में जलती हुई जो चिन्मय ज्योति है, वही हैं। तुम्हारे भीतर जो जागरण है, होश है, चैतन्य है, वही तुम हो। देह तो मंदिर है, तुम्हारा देवता भीतर विराजमान है। और देवता मंदिर नहीं है। देवता के हटते ही मंदिर कचरा हो जाएगा, यह भी सच है। मगर देवता के रहते मंदिर मंदिर है। जैसे ही तुम्हारी अंतर्दृष्टि बदलती है, तुम्हें अपने साक्षीभाव का स्मरण आता है, वैसे ही अमृत का प्रवेश होता है।
तो मैं तो इसका ऐसा अर्थ करता हूं--तत्वगत। तथ्यगत, मुझे चिंता नहीं है। मैं कोई ऐतिहासिक नहीं हूं। और मेरे मन में तथ्यों का कोई बड़ा मूल्य नहीं है। मैं तथ्यों को हमेशा तत्वों की सेवा में लगा देता हूं।
भगवान की उपस्थिति में मृत्यु का नंगा नृत्य धीरे-धीरे शांत हो गया था।
हो ही जाना चाहिए। हो ही जाता है। जैसे ही याद आनी शुरू होती है कि मैं आत्मा हूं, कि मैं परमात्मा हूं, कि मेरे भीतर दिव्य ज्योति जल रही है, वैसे ही देह की बात समाप्त हो गयी। फिर जो तुम्हारे मां-बाप से पैदा हुए तुम, वह तुम न रहे। तादात्म्य टूट गया। तुम तो वह हो गए जो सदा से हो। तुम्हारे मां-बाप भी न थे तब भी तुम थे। तुम्हारी देह मिट्टी में गिर जाएगी फिर भी तुम रहोगे। उसकी जरा सी याद आती है, सब बदल जाता है।
मृत्यु पर तो अमृत की ही विजय हो सकती है।
और जिसको अमृत की उपलब्धि हो गयी है, उसकी मौजूदगी में यह सरलता से घट जाता है। इसलिए सत्संग का बड़ा मूल्य है। महामारी तो सभी नगरियों में फैली हैं, सभी नगरियां वैशाली हैं। तुम भी छोटे-मोटे नहीं हो, तुम भी एक बड़े नगर हो। एक-एक व्यक्ति एक-एक नगर है।
हमारे पास जो शब्द है पुरुष, वह बहुत बहुमूल्य है। पुरुष उसी से बना
है जिससे पुर--नगर। पुरुष का मतलब होता है, तुम एक पूरे नगर हो, और तुम्हारे नगर में छिपा हुआ, बसा हुआ मालिक है--पुरुष।
वैज्ञानिकों से पूछो तो वे कहते हैं, एक शरीर में कम से कम सात करोड़ जीवाणु हैं। सात करोड़! बंबई छोटी नगरी है। बंबई से समझो कि चौदह गुना ज्यादा। एक शरीर में सात करोड़ जीवाणु हैं। सात करोड़ जीवन। उन सबके बीच में तुम बसे हो। नगर तो हो ही। वैशाली छोटी रही होगी। और इस नगर में जल्दी ही मौत आने वाली है, महामारी आने वाली है। उसके कदम तुम्हारी तरफ पड़ ही रहे हैं। इस बीच अगर तुम्हें कभी भी, कहीं भी भगवत्ता का साथ मिल जाए, किसी भी ऐसे व्यक्ति का साथ मिल जाए जिसके भीतर घटना घट गयी हो, तो उसकी मौजूदगी तुम्हें तुम्हारी गर्त से उठाने लगेगी--सिर्फ मौजूदगी।
सत्संग का अर्थ होता है, गुरु कुछ करता नहीं--करने का यहां कुछ है भी नहीं, किया कुछ जा भी नहीं सकता--लेकिन उसकी मौजूदगी, सिर्फ उसकी उपस्थिति, उसकी तरंगें तुम्हें सोते से जगाने लगती हैं। तुमने देखा न, कोई नाचता हो, तुम्हारे पैर में थाप पड़ने लगती है। कोई हंसता हो, तुम्हारे भीतर हंसी फूटने लगती है। कोई उदास हो, तुम्हारे भीतर उदासी घनी हो जाती है। दस आदमी उदास बैठे हों, तुम जब आए थे तो बड़े प्रसन्न थे, उनके पास बैठ जाओगे उदास हो जाओगे। तुम बड़े उदास थे, दस आदमी बड़े खिलखिलाकर हंसते थे, गपशप करते थे, तुम आए, तुम अपनी उदासी भूल गए, तुम भी हंसने लगे। किसी जागरूक पुरुष के सत्संग में, जो उसके भीतर घटा है, वह तुम्हारे भीतर तरंगित होने लगता है। हम अलग-अलग नहीं हैं, हम एक-दूसरे से जुड़े हैं। हमारे तंतु एक-दूसरे से गुंथे हैं। अगर तुम किसी भी व्यक्ति के साथ हो जाओ, तो जैसा वह व्यक्ति है वैसे तुम होने लगोगे।
इसलिए अपने से छोटे व्यक्तियों का साथ मत खोजना--अक्सर हम खोजते हैं; क्योंकि अपने से छोटे के साथ एक मजा है, क्योंकि हम बड़े मालूम होते हैं।

अपने से छोटे के साथ एक रस है, अहंकार की तृप्ति मिलती है। दुनिया में लोग अपने से छोटे का साथ खोजते रहते हैं। अपने से बड़े के साथ तो अड़चन होती है। तुमने सुना न, ऊंट जब हिमालय के पास पहुंचा तो उसे बड़ा दुख हुआ। उसने हिमालय की तरफ देखा ही नहीं, वह रास्ता बदलकर वापस अपने मरुस्थल में लौट आया। ऊंट को हिमालय के पास बड़ी पीड़ा होती है, क्योंकि ऊंट को पहली दफा पता चलता है कि अरे, मैं कुछ भी नहीं हूं। ऊंट को तो रेगिस्तान जमता है, जहां वह सब कुछ है, सबसे ऊंची चीज है।
अक्सर यह होता है, यह मन की एक बहुत बुनियादी प्रक्रिया है कि हम अपने
से छोटे को खोज लेते हैं। यह रोज होता है, सब दिशाओं में होता है। राजनेता अपने से छोटे छुटभइयों को खोज लेते हैं। अपने से छोटे लोगों पर ही अपने अहंकार को बसाया जा सकता है, और कोई उपाय नहीं है।
सत्संग का अर्थ है, अपने से बड़े को खोजना। वह मन की प्रक्रिया के विपरीत जाना है, वह ऊर्ध्वगमन है, वह मन का नियम तोड़ना है। क्योंकि अगर अपने से छोटे को खोजा तो तुम्हारा अहंकार मजबूत होगा, अपने से बड़े को खोजा तो तुम्हारा अहंकार विसर्जित होगा। अपने से बड़े को खोजा तो उसकी दूर जाती हुई किरणें तुम्हें भी दूर ले जाने लगेंगी, उसके भीतर हुआ प्रकाश तुम्हारे भीतर सोए प्रकाश को भी तिलमिला देगा। उसकी चोट तुम्हें जगाएगी-- सिर्फ मौजूदगी।
सत्संग अनूठा शब्द है, दुनिया की किसी भाषा में ऐसा कोई शब्द नहीं है; क्योंकि दुनिया में कभी इस बात को ठीक से खोजा ही नहीं गया है जैसा हमने इस देश में खोजा। सत्संग अनूठा शब्द है। इसका मतलब है, सिर्फ उसके साथ हो जाना जिसे सत्य मिल गया हो। सिर्फ उसके पास हो जाना, बैठ जाना--चाहे चुप बैठे रहो तो भी चलेगा--उसके संग-साथ हो लेना; उसके और अपने बीच की दीवालें गिरा देना, अपने ऊपर कोई रक्षा का इंतजाम न करना, अपने हृदय को खोल देना कि अब जो हो हो, उसकी तरंगों को अपने भीतर आने देना; उसकी स्वरलहरी को गूंजने देना, धीरे-धीरे तुम उसमें डुबकी लगा लोगे। उसको अमृत मिला है, तुम्हें भी अमृत की तरफ पहले-पहले अनुभव आने शुरू हो जाएंगे, झरोखा खुलेगा।
मृत्यु पर तो अमृत की ही विजय हो सकती है। फिर जल भी बरसा, फिर वृक्षों में पत्ते आए; फिर फूल खिले, जहां फूल खिलने बंद हो गए थे, जहां जीवन सूखा जा रहा था वहां नए पल्लव लगे।
एक जीवन है बाहर का और एक जीवन है भीतर का, सत्संग की वर्षा हो जाए तो भीतर के जीवन में फूल आने शुरू होते हैं। वे ही फूल वास्तविक फूल हैं, क्योंकि वे टिकेंगे, उनकी सुगंध सदा रहेगी; सुबह खिले सांझ मुर्झा गए, ऐसे फूल नहीं; खिले तो खिले, फिर मुर्झाते नहीं।
इस कथा को दोनों तल पर समझना।
लोग अति प्रसन्न थे। और भगवान ने जब वैशाली से विदा ली तो लोगों ने महोत्सव मनाया था। उनके हृदय आभार और अनुग्रह से गदगद थे। और तब किसी भिक्षु ने भगवान से पूछा--यह चमत्कार कैसे हुआ? लोगों का दुख मिट गया है, लोग शांत हुए हैं, लोगों की मृत्यु से दृष्टि हट गयी, महामारी विदा हो गयी, सूखे वृक्षों पर पत्ते आ गए हैं, जिन्होंने कभी जीवन का रस न जाना था उनमें जीवन की रसधार बही, यह चमत्कार कैसे हुआ?
लोग अति प्रसन्न थे। यद्यपि और बहुत कुछ हो सकता था, लेकिन दुख में पुकारो तो इतना ही हो सकता है। इससे ज्यादा हो सकता था, अगर सुख में पुकारते। जब दुखी थे तो भगवान को ले आए थे, जब सुखी हो गए तो रोकना न चाहा। तब रोक लेना था, कहते कि अब कहां जाते हैं! अब तो न जाने देंगे। जिससे दुख में इतना मिला था, काश उसे रोक लेते सुख में भी, तो फिर सब कुछ मिल जाता! लेकिन सोचा होगा, बात तो पूरी हो गयी, अब क्यों रोकना? अब क्या प्रयोजन? सुख आया कि फिर हम फिर भूलने लगते हैं, फिर हम विदा देते हैं। हम कहते हैं, अब जब जरूरत होगी तब फिर याद कर लेंगे। हम भगवान का भी उपयोग करते हैं। और यह भगवान का उपयोग बड़ा छोटा है। यह तो ऐसे ही है जैसे कोई तलवार से एक चींटी को मारे। चींटी को मारने के लिए तलवार की क्या जरूरत है?
भगवान की मौजूदगी से सिर्फ दुख मिटे, तो यह तुमने तलवार का उपयोग चींटी मारने के लिए किया। चींटी तो बिना ही तलवार के मारी जा सकती थी।

यहां मेरी दृष्टि तुम्हें समझा देना चाहता हूं। इसलिए मैं विज्ञान का पक्षपाती हूं। मैं कहता हूं, यह काम तो विज्ञान से हो सकता है, इसके लिए धर्म की कोई जरूरत नहीं। बीमारी तो विज्ञान से दूर हो सकती है, दरिद्रता तो विज्ञान से दूर हो सकती है, विक्षिप्तता तो विज्ञान से दूर हो सकती है, देह की और मन की आधियां और व्याधियां तो विज्ञान से दूर हो सकती हैं, इसके लिए धर्म की कोई जरूरत नहीं है। धर्म की तो तब जरूरत है जब विज्ञान अपना काम पूरा कर चुका, तुम सब भांति सुखी हो, अब महासुख चाहिए। इसलिए मैं विज्ञान का पक्षपाती हूं। तो मैं मानता हूं, विज्ञान का कुछ काम है।
मेरे पास लोग आ जाते हैं, वे कहते हैं कि लड़के को नौकरी नहीं मिलती, कि पत्नी बीमार है, कि बेटी को वर नहीं मिल रहा है, आप कुछ करें। मैं कहता हूं कि इन बातों का इंतजाम तुम खुद ही कर ले सकते हो, कर ही लोगे, कुछ न कुछ हो ही जाएगा, इन बातों के लिए मेरे पास मत आओ। कुछ और बड़ा नहीं खोजना है? कुछ और विराट की दिशा में यात्रा नहीं करनी है?
गांव के लोग प्रसन्न थे, अति प्रसन्न थे। बहुत छोटा ही पाया था, शुरुआत ही हुई थी यात्रा की, लेकिन बुद्ध को उन्होंने रोका नहीं।
बुद्ध के भिक्षुओं ने पूछा होगा किसी ने राह में जाते वक्त--यह चमत्कार कैसे हुआ? भगवान ने कहा--भिक्षुओ, बात आज की नहीं है।
बुद्ध बड़े वैज्ञानिक हैं। वह प्रत्येक चीज कीशृंखला जोड़ते हैं। विज्ञान का अर्थ होता है, कार्य-कारण का नियम। अगर वृक्ष है, तो बीज रहा होगा। अगर बीज था, तो पहले भी वृक्ष रहा होगा। अगर वृक्ष था, तो उसके भी पहले बीज रहा होगा। एक चीज से दूसरी चीज पैदा होती है, सब चीजें संयुक्त हैं, कार्य-कारण का जाल फैला हुआ है। यहां अकारण कुछ भी नहीं होता, सब सकारण है। बुद्ध का इस पर बहुत जोर था। इस सकारण होने की धारणा का ही नाम कर्मवाद है।
तो बुद्ध से जब भी कोई कुछ पूछता है तब वह तत्क्षणशृंखला की बात करते हैं। वे कहते हैं, किसी कृत्य को आणविक रूप से मत लेना, एटामिक मत लेना, कोई कृत्य अपने में पूरा नहीं है, उस कृत्य का जोड़ कहीं पीछे है और कहीं आगे भी।
तो बुद्ध ने कहा--बात आज की नहीं है। बीज बहुत पुराना है, वृक्ष जरूर
आज हुआ है।
जब भी बुद्ध के शिष्य उनसे पूछते हैं उनके संबंध में कोई बात, वह उन्हें अपने अतीत जीवनों में ले जाते हैं। वह बड़ी गहरी खोज करते हैं कि कहां से यह संबंध जुड़ा होगा, कैसे यह घटना शुरू हुई होगी। बीज से ही शुरुआत करो तो ही वृक्ष को समझा जा सकता है। कारण को ठीक से समझ लो तो कार्य समझा जा सकता है। सूक्ष्म को ठीक से समझ लो तो स्थूल समझा जा सकता है। क्योंकि सारे स्थूल की प्रक्रियाएं सूक्ष्म में छिपी हैं।
वृक्ष जरूर आज हुआ है, बुद्ध ने कहा। मैं पूर्वकाल में शंख नामक ब्राह्मण होकर प्रत्येक बुद्धपुरुष के चैत्यों की पूजा किया करता था। प्रत्येक बुद्धपुरुष की! ऐसा कोई हिसाब न रखता था कि कौन जैन, कौन हिंदू, कौन अपना, कौन पराया, कौन श्रमण, कौन ब्राह्मण, ऐसी कोई चिंता न रखता था। जो भी जाग गए हैं, उन सभी की पूजा करता था। गांव में जितने मंदिर थे, सभी पर फूल चढ़ा आता था। ऐसी निष्पक्ष भाव से मेरी पूजा थी। कुछ बहुत बड़ा काम न था। लेकिन, बुद्ध ने कहा, उसका ही जो बीज मेरे भीतर पड़ा रहा, उससे ही चमत्कार हुआ है। वह जो निष्पक्ष भाव से पूजा की थी, वह जो निष्कपट भाव से पूजा की थी, अपना-पराया न देखा था, वही बीज खिलकर आज इस जगह पहुंच गया है कि मैं अमृत को उपलब्ध हुआ हूं। और जिनका मुझसे साथ हो जाता है, जो मुझे किसी भी कारण पुकार लेते हैं अपने पास, उनको भी अमृत की झलक मिलने लगती है, उनके जीवन से भी मृत्यु विदा होने लगती है।
मैं प्रत्येक बुद्धपुरुष के चैत्यों की पूजा किया करता था। और यह जो कुछ हुआ, उसी के विपाक से हुआ है। जो उस दिन किया था वह तो अल्प था, अत्यल्प था, लेकिन उसका ऐसा महान फल हुआ है। बीज तो होते भी छोटे ही हैं। पर इससे पैदा हुए वृक्ष, छोटे से बीज से पैदा हुए वृक्ष आकाश के साथ होड़ लेते हैं।
थोड़ा सा त्याग भी, अल्पमात्र त्याग भी महासुख लाता है।

कुछ बड़ा मैंने त्याग भी न किया था उस जन्म में, इतना ही त्याग किया था, अपना-पराया छोड़ दिया था। सभी जाग्रतपुरुषों को बेशर्त आदर दिया था। समझते हो, यह धार्मिक आदमी का लक्षण है। छोटा मत समझना इसे, बुद्ध कितना ही कहें कि अल्पमात्र, यह छोटा नहीं है। तुम मस्जिद के सामने से ऐसे ही गुजर जाते हो जैसे मस्जिद है ही नहीं। तुम गुरुद्वारे के सामने से ऐसे निकल जाते हो जैसे गुरुद्वारा है ही नहीं। अगर तुम मुसलमान हो तो हिंदू का मंदिर तुम्हें दिखायी नहीं पड़ता। अगर तुम हिंदू हो तो जैन का मंदिर तुम्हें दिखायी नहीं पड़ता। यह धार्मिक होने का लक्षण न हुआ। यह तो राजनीति हुई। यह तो समूह और संप्रदाय और धारणा और सिद्धांत से बंधे होना हुआ।
धार्मिक व्यक्ति को तो जहां भी दीए जले हैं, जिसके भी दीए जले हैं, वे सभी दीए परमात्मा के हैं। फिर नानक का दीया जला हो गुरुद्वारे में तो कोई फर्क नहीं पड़ता, वहां भी झुक आएगा। फिर राम का दीया जला हो राम के मंदिर में, वहां भी झुक आएगा। फिर कृष्ण का दीया हो, वहां भी झुक आएगा। फिर मोहम्मद का दीया हो, वहां भी झुक आएगा। धार्मिक व्यक्ति ने तो एक बात सीख ली है कि जब भी कहीं कोई दीया जलता है तो परमात्मा का ही दीया जलता है। बुझे दीए संसार के, जले दीए भगवान के। बुझे बुझों में भेद होगा, जले जलों में कोई भेद नहीं है। बुझा दीया एक तरह का, दूसरा बुझा दीया दूसरे तरह का! मिट्टी अलग होगी, कोई चीनी का बना होगा, कोई लोहे का बना होगा, कोई सोने का बना होगा, कोई चांदी का बना होगा। स्वभावतः, मिट्टी के दीए और चांदी के दीए में बड़ा फर्क है। लेकिन जब ज्योति जलेगी तो ज्योति कहीं चांदी की होती है, कि सोने की होती है, कि मिट्टी की होती है! ज्योति तो सिर्फ ज्योति की होती है। ज्योति को जो देखेगा, उसको तो सभी जले दीयों में एक ही ज्योति का निवास दिखायी पड़ेगा। एक ही सूरज उतर आया है, एक ही किरण प्रविष्ट हो गयी है।
इसको बुद्ध तो कहते हैं अल्प, लेकिन मैं न कहूंगा अल्प। क्योंकि यह अल्प भी हो नहीं रहा है। लोग सोचकर जाते हैं, अपना मंदिर, अपना गुरु, अपना शास्त्र। दूसरे का मंदिर तो मंदिर ही नहीं है। दूसरे के मंदिर में जाना तो पाप। ऐसे शास्त्र हैं इस देश में... ।
जैन-शास्त्रों में लिखा है--ऐसा ही हिंदू-शास्त्रों में भी लिखा है--
कि अगर कोई पागल हाथी तुम्हें रास्ते पर मिल जाए, जैन-शास्त्र कहते हैं, और तुम मरने की हालत में आ जाओ, और पास में ही हिंदुओं का देवालय हो, तो हाथी के पैर के नीचे मर जाना बेहतर, लेकिन हिंदुओं के देवालय में शरण मत लेना। ऐसा ही हिंदू के शास्त्र भी कहते हैं--ठीक यही का यही। पागल हाथी के पैर के नीचे दबकर मर जाना बेहतर है, लेकिन जैन-मंदिर में शरण मत लेना। अगर जैन-मंदिर के पास से निकलते हो और जैन-गुरु कुछ समझा रहा हो तो अपने कानों में अंगुलियां डाल लेना, सुनना मत।
ये धार्मिक आदमी के लक्षण हैं? तो फिर अधार्मिक के क्या लक्षण होंगे? बुद्ध कहते हैं--कुछ और मेरी विशिष्टता न थी; जब मैं शंख नामक ब्राह्मण था किसी जन्म में, तो मेरी इतनी ही विशिष्टता थी--छोटी ही समझो, बीजमात्र-- कि मैं सभी बुद्धपुरुषों को नमस्कार करता था; सभी चैत्यों में जाता, सभी शिवालयों में जाता और प्रार्थना कर आता था, पूजा कर आता था। मैंने कोई भेदभाव न रखा था। उस अभेद दृष्टि से यह धीरे-धीरे बीज फैला।
जो अभेद को देखेगा, वह एक दिन अभेद को उपलब्ध हो जाएगा। जिसने मिट्टी
के दीयों का हिसाब रखा, वह दीयों में ही पड़ा रहेगा। जिसने ज्योति देखी, वह एक दिन ज्योतिर्मय हो जाएगा। तुम जो देखते हो वही हो जाते हो। दृष्टि एक दिन तुम्हारे जीवन की सृष्टि हो जाती है।
तो बुद्ध कहते हैं, आज यह जो चमत्कार हुआ, इसका बीज बड़ा छोटा है।
अब समझना। मैंने इसलिए कहा कि दो तल पर यह कथा है। एक तल पर तो बुद्ध
का आना महामारी से भरी हुई वैशाली में, वह एक तल है। फिर दूसरा तल है, भिक्षुओं का बुद्ध से पूछना। बुद्ध कोई अवसर नहीं चूकते। उन्होंने अपने भिक्षुओं को भी संदेश दे दिया कि कैसा भाव होना चाहिए। अगर कभी तुम अमृत को उपलब्ध करना चाहते हो, मृत्यु के विजेता होना चाहते हो, वस्तुतः जिन

होना चाहते हो, तो भेद मत करना। सभी बुद्धपुरुष, सभी जाग्रतपुरुष एक ही सत्य को उपलब्ध हो गए हैं--इस बीज को अपने भीतर जितने गहराई में डाल सको डाल देना। इसी से किसी दिन वृक्ष पैदा होगा, फूल लगेंगे। ठीक समय, ठीक अवसर पर तुम्हारे जीवन में बसंत आ जाएगा। तब न केवल तुम्हारे भीतर बसंत आएगा, तुम जहां से गुजर जाओगे वहां भी बसंत की हवा बहेगी। तुम जिनके साथ खड़े हो जाओगे, उनके भीतर भी ज्योति पैदा होगी। तुम जिनका हाथ पकड़ लोगे, उनका जीवन से छुटकारा होना शुरू हो जाएगा। तुम्हारा जो सहारा पकड़ लेंगे, तुम उनके लिए नाव बन जाओगे।
"थोड़े सुख के परित्याग से यदि अधिक सुख का लाभ दिखायी दे तो धीरपुरुष अधिक सुख के ख्याल से अल्पसुख का त्याग कर दे।"
और बुद्ध ने कहा, यह छोटा सा गणित याद रखो कि कभी-कभी ऐसा होता है कि आज हमें लगता है कि इसमें खूब सुख है और हमें यह भी दिखायी पड़ता है कि अगर इसका त्याग कर दें तो कल अनंतगुना सुख हो सकता है, लेकिन वह कल होगा, तो हम आज के ही सुख को पकड़ लेते हैं। कल के अनंत गुने को छोड़ देते हैं। इसलिए हम दीन रह जाते हैं, दरिद्र रह जाते हैं। समझो कि तुम्हारे पास मुट्ठीभर अन्न है, तुम आज खा लो उसे, तो थोड़ा सा सुख मिलेगा। लेकिन अगर तुम इसे बो दो--तो शायद दो-चार महीने प्रतीक्षा करनी पड़ेगी--लेकिन बड़ी फसल पैदा होगी। शायद सालभर के लायक भोजन पैदा हो जाए।
तो बुद्ध कहते हैं, बुद्धिमान कौन है? बुद्धिमान वह है, जो अल्प को छोड़कर विराट को उपलब्ध करने में लगा रहता है। जो जीवन के आत्यंतिक गणित पर सदा ध्यान रखता है कि जो मैं कर रहा हूं, इसका अंतिम फल क्या होगा? आज का ही सवाल नहीं है, इसका आत्यंतिक परिणाम क्या होगा?
स्वभावतः, उस दिन जब बुद्ध शंख नाम के ब्राह्मण थे, थोड़ी अड़चन हुई होगी। अगर जैनों के मंदिर में गए होंगे तो हिंदुओं ने कहा होगा, तू वहां क्यों जाता है--ब्राह्मण थे--कष्ट हुआ होगा। अगर हिंदुओं के मंदिर में गए होंगे तो जैनों ने कहा होगा, कि तू तो हमारे मंदिर में आता है, अब वहां क्यों जाता है? कष्ट हुआ होगा। गांव में शायद पागल समझे जाते होंगे।
तुम जरा सोचो कि तुम सब मंदिर-मस्जिद में जाकर नमस्कार करने लगो, लोग समझेंगे दिमाग खराब हो गया। जिनका दिमाग खराब है, वे समझेंगे कि तुम्हारा दिमाग खराब हो गया। कष्ट हुआ होगा। प्रतिष्ठा गंवायी होगी। लोगों ने पागल समझा होगा।
लेकिन बुद्ध कहते हैं, वह छोटा सा त्याग था, क्या फर्क पड़ता है कि लोगों ने पागल समझा! क्या फर्क पड़ता था अगर लोग समझते कि मैं पागल नहीं हूं! कुछ भी फर्क नहीं पड़ता था। लेकिन उसका जो परिणाम हुआ, व्यापक है।
जब गंगा पैदा होती है तो बूंद-बूंद पैदा होती है। गोमुख से गिरती है गंगोत्री, तुम अपनी मुट्ठी में सम्हाल ले सकते हो। फिर रोज बड़ी होती जाती है, बड़ी होती जाती है। जब गंगा सागर में गिरती है तब तुम विश्वास भी न कर सकोगे कि यह वही गंगा है जो गोमुख से गिरती है। जो गंगोत्री में बूंद-बूंद टपकती है, जिसको तुम मुट्ठी में बांध ले सकते थे, यह वही गंगा है? पहचान नहीं आती।
बीज छोटा, वृक्ष बहुत बड़ा हो जाता है। बुद्धिमान व्यक्ति अल्पसुख को छोड़ता चले महासुख के लिए। छोटे को न पकड़े, क्षुद्र को न पकड़े, विराट पर ध्यान रखे।
"दूसरे को दुख देकर जो अपने लिए सुख चाहता है, वह वैर-चक्र में फंसा हुआ व्यक्ति कभी वैर से मुक्त नहीं होता।"
और बुद्ध ने कहा, सुख तो सभी चाहते हैं, मगर सुख की चाह में एक बात ख्याल रखना--पहला तो सूत्र कहा, अल्पसुख को छोड़ देना महासुख के लिए; दूसरा सूत्र कहा--यह ख्याल रखना कि सुख तो चाहना, लेकिन दूसरे के दुख पर तुम्हारा सुख निर्भर न हो। दूसरे के दुख पर आधारित सुख तुम्हें अंततः दुख में ही ले जाएगा, महादुख में ले जाएगा।
हम जो जीवन में दुख भोग रहे हैं, वह हमने कभी न कभी उन सुखों की आकांक्षा में पैदा कर लिए थे, जिनके कारण हमें दूसरों को दुख देना पड़ा था।
दूसरों के लिए खोदे गए गड्ढे एक दिन स्वयं को गिराते हैं।

मैं एक गांव में ठहरा हुआ था। उस रात उस गांव में एक बड़ी अनूठी घटना घट गयी, फिर मैं उसे भूल न सका। छोटा गांव, बस एक ही ट्रेन आती और एक ही ट्रेन जाती, तो दो बार स्टेशन पर चहल-पहल होती। आने वाली ट्रेन दिन को बारह बजे आती, जाने वाली ट्रेन रात को दो बजे। स्टेशन पर भी कुछ ज्यादा लोग नहीं हैं--एक स्टेशन मास्टर है, एकाध पोर्टर है, एकाध और आदमी क्लर्क है। कोई ज्यादा यात्री आते-जाते भी नहीं हैं।
उस रात ऐसा हुआ कि एक आदमी रात की गाड़ी पकड़ने के लिए सांझ स्टेशन पर आया। वह बार-बार अपने बैग में देख लेता था। स्टेशन मास्टर को संदेह हुआ, शक हुआ कि कुछ बड़ा धन लिए हुए है। वह अपने बैग को भी दबाए था, एक क्षण को भी उसे छोड़ता नहीं था। आदमी देखने से भी धनी मालूम पड़ता था। रात दो बजे ट्रेन जाएगी। मन में बुराई आयी। उसने पोर्टर को बुलाकर कहा कि ऐसा कर, दो बजे रात तक कहीं भी इसकी जरा भी झपकी लग जाए--और आठ बजे रात के बाद तो गांव में सन्नाटा हो जाता है, गांव भी कोई दो मील दूर--इसको खतम करना है।
पोर्टर ने कुल्हाड़ी ले ली और वह घूमता रहा कि यह कब सो जाए। मगर वह भी आदमी जागा रहा, जागा रहा, जागा रहा। पोर्टर को झपकी आ गयी। और जब पोर्टर को झपकी आ गयी तो वह आदमी जिस बेंच पर बैठा था उससे उठकर, उसको नींद आने लगी थी तो अपना बैग लेकर वह टहलने लगा प्लेटफार्म पर। इस बीच स्टेशन मास्टर आकर उस बेंच पर लेट गया, जिस पर वह धनी लेटा था। पोर्टर की आंख खुली, देखा कि सो गया, उसने आकर गर्दन अलग कर दी। स्टेशन मास्टर मारा गया। सुबह गांव में खबर आयी। मैं उसे भूल नहीं सका उस घटना को। इंतजाम उसी ने किया था, मारा खुद ही गया।
जीवन में करीब-करीब ऐसा ही हो रहा है। जो दुख तुमने दूसरों को दिए हैं,
वे लौट आएंगे। जो सुख तुमने दूसरों को दिए हैं, वे भी लौट आएंगे। दुख भी हजारगुने होकर लौट आते हैं, सुख भी हजारगुने होकर लौट आते हैं।
इसलिए बुद्ध कहते हैं, दूसरा सूत्र याद रखना, सुख बन सके तो दे देना; अगर सुख न दे सको, तो कम से कम दुख मत देना। दूसरों को दुख मत देना। अपना सुख ऐसा बनाना कि तुम पर ही निर्भर हो, दूसरे के दुख पर निर्भर न हो।
फर्क समझो।
एक आदमी धन के इकट्ठे करने में सुख लेता है। निश्चित ही यह कई लोगों
का धन छीनेगा। बिना धन छीने धन आएगा भी कहां से? धन बहुत बहुलता से है भी नहीं, न्यून है। धन ऐसा पड़ा भी नहीं चारों तरफ। जितने लोग हैं, उनसे धन बहुत कम है। तो धन छीनेगा तो धन इकट्ठा कर पाएगा। यह आदमी दूसरों को दुख दिए बिना धनी न हो सकेगा। और धन पाने से जो सुख मिलने वाला है, दो का.ैडी का है। और जितना दुख दिया है, उसके जो दुष्परिणाम होंगे, अनंत समय तक उसकी जो प्रतिक्रियाएं होंगी, वे बहुत भयंकर हैं।
एक दूसरा आदमी ध्यान में सुख लेता है। ध्यान और धन में यही खूबी है। ध्यान जब तुम करते हो तो तुम किसी का ध्यान नहीं छीनते। तुम्हारा ध्यान बढ़ता जाता है, किसी का ध्यान छिनता नहीं।
तो बुद्ध कहेंगे, अगर ध्यान और धन में चुनना हो तो ध्यान चुनना, यह अप्रतियोगी है, इसकी किसी से कोई स्पर्धा नहीं है। और तुम्हारा आनंद बढ़ता जाएगा। और आश्चर्य की बात यह है कि तुम जितने आनंदित होते जाओगे, अनायास तुम दूसरों को भी आनंद देने में सफल होने लगोगे, समर्थ होने लगोगे।
जो है, उसे हम बांटते हैं। दुखी आदमी दुख देता है, सुखी आदमी सुख देता है--देना ही पड़ेगा। जब फूल खिलेगा और गंध निकलेगी तो हवाओं में बहेगी ही। जब तुम्हारा ध्यान सघनीभूत होगा, तो तुम्हारे चारों तरफ गंध उठेगी। सुख दोगे तो सुख मिलेगा। ऐसा सुख खोजना जो किसी के दुख पर आधारित न होता हो, यही बुद्ध की मौलिक शिक्षा है।
और फिर अल्प भी सुख मिले आज, अल्प भी शायद छोड़ना पड़े कल के महासुख के लिए, तो उसे भी छोड़ देना। अल्प मिले तो अल्प ले लेना, अल्प छोड़ना पड़े तो छोड़ देना, मगर एक ख्याल रखना--जीवन का पूरा विस्तार ख्याल रखना। चीजें एक-दूसरे से संयुक्त हैं। अंतिम परिणाम क्या होगा, उस पर ध्यान रहे। और ऐसा सुख कमाना, जो तुम्हारा अपना हो, जिसके लिए दूसरे को दुखी नहीं करना पड़ता है।

अब एक आदमी को राजनेता बनना है, तो उसे दूसरों को दुखी करना होगा। अब इंदिरा और मोरारजी दोनों साथ-साथ सुखी नहीं हो सकते, इसका कोई उपाय नहीं है। कोई न कोई दुखी होगा।
तो बुद्ध कहते हैं, ऐसी दिशा में मत जाना, जहां किसी को बिना दुखी किए तुम सुखी हो ही न सको। हजार और उपाय हैं जीवन में आनंदित होने के।
अब एक आदमी बांसुरी बजाता हो, तो इससे किसी का कुछ लेना-देना नहीं है,
यह अपने एकांत में बैठकर बांसुरी बजा सकता है। एक आदमी नाचता हो, यह एकांत में नाच सकता है। एक आदमी ध्यान करता हो, यह एकांत में ध्यान कर सकता है, इसका किसी से कुछ लेना-देना नहीं है।
ऐसे सुख खोजना जो निजी हैं। और ऐसे बहुत सुख हैं जो निजी हैं। वस्तुतः
वे ही सुख हैं। क्योंकि दूसरे को दुखी कर कैसे सुखी होओगे? कैसे सुखी हो सकते हो? पूरे वक्त पीड़ा भीतर बनी रहेगी कि दूसरे को दुख दिया है, बदला आता होगा, प्रतिकार होकर रहेगा, दूसरा भी क्षमा तो नहीं कर देगा।
इसलिए बुद्ध कहते हैं, वैर-चक्र पैदा हो जाता है; विशियस सर्किल पैदा
हो जाता है, दुष्ट-चक्र पैदा हो जाता है। तुम दूसरे को दुख देते हो, दूसरा तुम्हें दुख देने को आतुर हो जाता है। फिर इसशृंखला का कहीं कोई अंत नहीं है।
महासुख के लिए अल्प को छोड़ देना, बड़े के लिए छोटे को छोड़ देना, शाश्वत
के लिए क्षणभंगुर को छोड़ देना; और ऐसा सुख खोजना जो तुम्हारा अपना हो, जिसके लिए दूसरे पर निर्भर नहीं होना पड़ता है, तब तुम स्वतंत्र हो गए। यही मुक्त जीवन की आधारशिला है।
दूसरा सूत्र, द्वितीय दृश्य--

मन के मार्ग अति सूक्ष्म हैं। संसार के छोड़ने में ही मन नहीं छूटता है। मन संसार का मूल है, संसार मन का मूल नहीं है। संसार छोड़ना हो तो फूल-पत्ते तोड़ने जैसा है, और जड़ें तो इससे नष्ट नहीं होती हैं। हां, जड़ें उखाड़ फेंक देने पर निश्चय ही संसार वृक्ष अपने आप सूख जाता है। मन है जड़ संसार की, इसलिए मन से मुक्ति ही वास्तविक संन्यास है।
भगवान के जात्यावन नामक विहार में विहरते समय की घटना है। कुछ भिक्षु भिक्षापात्रों को सुंदर बनाने, या वस्त्रों पर नाना बेल-बूटे निकालने, या नाना प्रकार की पादुकाएं रचने, उन पर पच्चीकारी करने, या इसी तरह के कामों में संलग्न रहते थे। उन्हें ध्यान-भावना का समय ही नहीं था। और समय भी हो तो ध्यान का तो वे जैसे विस्मरण ही कर बैठे थे।
इस बात की खबर भगवान को मिली। उन्होंने उन भिक्षुओं को खूब डांटा। वे उन्हें डांटते समय अति कठोर थे। वह करुणा का ही रूप है। गुरु का प्रयोजन ही यही है कि वह चेताए, फिर चेताए और फिर-फिर चेताए। उन्होंने उन भिक्षुओं से कहा--किसलिए आए हो और क्या कर रहे हो! आए थे हरि भजन को ओटन लगे कपास! क्या इसीलिए भिक्षु-जीवन स्वीकार किया था? सुंदर पादुकाएं बनाने के लिए? वस्त्रों पर बेल-बूटे काढ़ने के लिए? फिर संसार में ही क्या बुराई थी? मन के जाल को समझो, भिक्षुओ! मन के सूक्ष्म खेल समझो, भिक्षुओ! एक पल को भी लक्ष्य को विस्मृत मत करो। सोते-जागते, उठते-बैठते होश रखो, भिक्षुओ! तो ही समय पाकर अनुकूल ऋतु में निर्वाण की फसल काट सकोगे। ध्यान नहीं बोया, तो निर्वाण की फसल भी हाथ लगने वाली नहीं है। फिर पछताओगे। और फिर पछताए होत का जब चिड़िया चुग गयी खेत। अभी समय है, अभी कुछ कर लो। और तब उन्होंने ये गाथाएं कहीं--

यं हि किच्चं तदपविद्धं अकिच्चं पन कयिरति।
उन्नलानं पमत्तानं तेसं बड्ढंति आसवा।।

"जो करने योग्य है उसको तो छोड़ देता है, लेकिन जो न करने योग्य है उसे करता है, ऐसे उमड़ते मलों वाले प्रमादियों के आस्रव बढ़ते हैं।"

येसंच सुसमारद्धा निच्चं कायगतासति।

अकिंचन्ते न सेवंति किच्चे सातच्चकारिनो।
सतानं संपजानानं अत्थं गच्छंति आसवा।।

"जिन्हें नित्य कायगता-स्मृति उपस्थित रहती है, वे अकर्तव्य को नहीं करते और कर्तव्य से कभी नहीं चूकते हैं। उन स्मृतिवान और संप्रज्ञावान पुरुषों के आस्रव अस्त हो जाते हैं।"
ऐसा निरंतर होता है। तुम बाहर के रूप तो बदल लेते हो, लेकिन भीतर की वृत्ति नहीं बदलती। बाहर के ढंग बदलना तो बहुत आसान है, असली बात तो भीतर के ढंग बदलने की है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि बाहर के ढंग मत बदलो। बाहर के ढंग इसलिए बदलो ताकि भीतर के ढंग बदलने में सहारा मिले। लेकिन भूलकर भी यह मत समझना कि बाहर का ढंग बदल लिया तो भीतर के ढंग अपने आप बदल गए।
अब कोई भिक्षु होंगे, संन्यस्त हो गए। जब संन्यस्त न हुए होंगे तो सुंदर वस्त्र पहनते होंगे, पोशाक पहनते होंगे, कीमती जूते पहनते होंगे, रास्तों पर अकड़कर चलते होंगे, इत्र-खुशबूएं अपने वस्त्रों पर छिड़कते होंगे; मोहक, सुंदर होने की चेष्टा करते होंगे। संन्यस्त हो गए, लेकिन अब भी चेष्टा जारी है, नए ढंग से जारी है। अब कुछ और नहीं है उनके पास, भिक्षापात्र है, तो भिक्षापात्र में ही खुदाई कर-कर के उसे सुंदर बना रहे हैं, उसमें ही कंकड़-पत्थर लगाकर सुंदर बना रहे हैं। अब कुछ नहीं है, लकड़ी की पादुकाएं हैं, तो उन पादुकाओं को भी सुंदर बनाने की चेष्टा में लगे हैं। अब कुछ बचे नहीं हैं, तीन चीवर हैं, तीन वस्त्र हैं, मगर उन पर भी कसीदा तो किया ही जा सकता है, उनको भी सुंदर तो बनाया ही जा सकता है। वह पुराना मन अभी भी पीछा कर रहा है।
इससे फर्क नहीं पड़ता, तुम सोने-चांदी के आभूषण पहनो, या जाकर जंगल के पत्तों के आभूषण बना लो और उनको पहन लो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, आभूषण पहनने की आकांक्षा वाला मन तो वही का वही है।
मैं मोहक दिखूं, यह वासना क्यों पैदा होती है? यह इसलिए पैदा होती है
कि कोई मुझे मोहक जाने, कोई मुझमें आकर्षित हो, कोई मुझमें आसक्त हो, कोई मुझे पाने योग्य, चाहने योग्य माने। तो इसका अर्थ साफ है कि तुम किसी को पाने में लगे हो, तुम किसी को अपने में उलझाने में लगे हो।
संसार में तो ठीक है कि तुम बन-संवरकर निकलते हो रास्ते पर, लेकिन भिक्षु बन-संवरकर निकले तो फिर बात गलत हो गयी। बात इसलिए गलत हो गयी कि भिक्षु होने का अर्थ ही यही था कि अब मुझे और आसक्ति के जाल नहीं फैलाने हैं। बहुत हो चुका। मैंने देख लिया कि आसक्ति से सिवाय दुख के कुछ भी नहीं मिलता है। तो अब मुझमें कोई आसक्त हो, इसकी मैं कोई योजना न करूंगा। मुझे लोग देखें, इसकी चेष्टा न करूंगा। मैं ऐसे निकल जाऊंगा जैसे निकला ही नहीं। कोई मुझे देखे न, कोई मुझमें उत्सुक न हो, मैं चुपचाप ऐसे निकल जाऊंगा जैसे था ही नहीं। ऐसे चुपचाप जीने जो लगता है, वही संन्यासी है। दूसरा मुझे पकड़े, दूसरा मुझे समझे मूल्यवान, दूसरा मुझमें उत्सुक हो, दूसरा मुझसे सम्मोहित हो, इसके पीछे वासना ही छिपी है, ताकि मैं दूसरे का भोग कर सकूं।
लोग बड़ी उलटी वासनाओं से भरे हैं। स्त्रियां घर में बैठी रहती हैं भूत-प्रेत बनीं, घर से बाहर जाती हैं, खूब सज-संवर जाती हैं, फिर जवान हो जाती हैं। सौ प्रतिशत सौंदर्य में नब्बे प्रतिशत तो प्रसाधन से होता है, दस प्रतिशत शायद स्वाभाविक होता हो। और वह जो दस प्रतिशत स्वाभाविक होता है, उसको नब्बे प्रतिशत की जरूरत भी नहीं होती। नब्बे प्रतिशत की जरूरत तो वह जो दस प्रतिशत भी नहीं होता, उसी को छिपाने के लिए होती है। कुरूप व्यक्ति ज्यादा सजता-संवरता है। कुरूप स्त्री ज्यादा आभूषणों में रस लेती है। परिपूरक करना होता है। जो सौंदर्य से नहीं पूरा हो रहा है, उसे किसी और चीज से पूरा कर देना है। चेहरा तो सुंदर नहीं है, तो बालों की शैली बदली जा सकती है। नाक तो बहुत सुंदर नहीं है, तो हीरे की नथ पहनी जा सकती है। नाक न दिखायी पड़ेगी फिर, जब दूसरा आदमी देखेगा तो उसे हीरा चमकता हुआ दिखायी पड़ेगा। और हीरे की ओट में नाक सुंदर हो जाएगी। जैसे ही स्त्रियां बाहर निकलती हैं, खूब सज-संवर जाती हैं--वही पुरुष भी करते हैं--फिर अगर

कोई धक्का मार दे स्त्री को, या कंकड़ फेंक दे, या एक फिल्मी गाना गा दे, तो वह नाराज होती है। और आयोजन यही करके निकली है। इसको मैं कहता हूं, विरोधाभासी चित्त की दशा।
मैं एक विश्वविद्यालय में शिक्षक था। एक दिन बैठा था प्रिंसिपल के कमरे में, कुछ बात करता था, कि एक युवती आयी और उसने शिकायत की कि किसी ने उसे कंकड़ मार दिया। मैं बैठा था तो प्रिंसिपल ने मुझसे कहा कि अब आप ही बताइए क्या करें? यह रोज का उपद्रव है! मैंने उस लड़की की तरफ देखा, मैंने कहा, कंकड़ कितना बड़ा था? उसने कहा, जरा सा था। मैंने कहा, उसने जरा सा मारा यही आश्चर्य है, तुझे बड़ी चट्टान मारनी थी! तू इतनी सज-संवरकर आयी है, उसने कंकड़ मारा यह बात जंचती नहीं ठीक! इतने सज-संवरकर विश्वविद्यालय आने की जरूरत क्या थी? यहां कोई सौंदर्य-प्रतियोगिता हो रही है? इतने चुस्त कपड़े पहनकर, इतने आभूषण लादकर, इतने बालों को संवारकर, यहां तू पढ़ने आयी है या किसी बाजार में!
फिर मैंने उस युवती से पूछा कि मैं एक बात और पूछना चाहता हूं, तू किसी दिन इतना सज-संवरकर आए और कोई कंकड़ न मारे, तो तेरे मन को दुख होगा कि सुख? पहले तो वह बहुत चौंकी मेरी बात से, फिर सोचने भी लगी, फिर उसने कहा कि शायद आप ठीक ही कहते हैं। क्योंकि मैंने देखा विश्वविद्यालय में जिन लड़कियों के पीछे लोग कंकड़-पत्थर फेंकते हैं, वे दुखी हैं--कम से कम दिखलाती हैं कि दुखी हैं--और जिनके पीछे कोई कंकड़-पत्थर नहीं फेंकता, वे बहुत दुखी हैं, महादुखी हैं कि कोई कंकड़-पत्थर फेंकने वाला मिलता ही नहीं। कोई चिट्ठी- पत्री भी नहीं लिखता। जिनको चिट्ठी-पत्री लिखी जाती है वे शिकायत कर रही हैं और जिनको चिट्ठी-पत्री नहीं लिखी जाती वे शिकायत कर रही हैं। मन बड़ा विरोधाभासी है।
लेकिन संसार में ठीक है, संसार विरोधाभास है। वहां हम कुछ चाहते हैं, कुछ दिखलाते हैं। कुछ दिखलाते हैं, कुछ और चाहते हैं। अगर तुम अपने मन को देखोगे तो तुम बड़े चकित हो जाओगे कि तुमने कैसे सूक्ष्म जाल बना रखे हैं। तुम निकलते इस ढंग से हो कि प्रत्येक व्यक्ति तुम में कामातुर हो जाए, और अगर कोई कामातुर हो जाए तो तुम नाराज होते हो। आयोजन उसी का करते हो, फिर जब सफलता मिल जाए तब तुम बड़े बेचैन होते हो। और सफलता करने के लिए घर से बड़ी व्यवस्था करके निकले थे। अगर कोई न देखे तुम्हें, रास्ते से तुम अपना सारा सौंदर्य-प्रसाधन करके निकल गए और किसी ने भी नजर न डाली, तो भी तुम उदास घर आओगे कि बात क्या है? मामला क्या है? लोग क्या मुझमें उत्सुक ही नहीं रहे?
दूसरे की उत्सुकता अहंकार का पोषण है। तुम्हें अच्छा लगता है जब दूसरे लोग उत्सुक होते हैं, तुम मूल्यवान मालूम होते हो। जिनके भीतर कोई मूल्य नहीं है, वे इसी तरह मूल्य का अपने लिए धोखा पैदा करते हैं। दूसरे लोग उत्सुक हैं, जरूर मूल्यवान होना चाहिए। इतने लोगों ने मेरी तरफ आंख उठाकर देखा, जरूर मुझमें कुछ खूबी होनी चाहिए। तुम्हें खुद अपनी खूबी का कुछ पता नहीं है--है भी नहीं खूबी--एक झूठा भरोसा इससे मिलता है कि अगर खूबी न होती तो इतने लोग मुझमें उत्सुक क्यों होते? जरूर मैं सुंदर होना चाहिए, नहीं तो इतने लोग उत्सुक हैं! तुम्हें अपने सौंदर्य पर खुद तो कोई आस्था नहीं है, तुम दूसरों के मंतव्य इकट्ठे करते हो। मगर संसार में ठीक। संसार पागलों की दुनिया है।
बुद्ध ने संसारी को कुछ भी न कहा होता। लेकिन संन्यस्त हो जाने के बाद
ये भिक्षु नाना प्रकार के आयोजन करते थे--पादुका सम्हालते, सजाते, वस्त्रों पर कसीदा निकालते। भिक्षापात्र! आदमी का मन कैसा है? भिक्षापात्र का मतलब ही यह होता है कि अब मैं आखिरी जगह खड़ा हो गया, अब मुझे प्रथम खड़े होने की इच्छा ही नहीं। वह तो भिक्षापात्र का प्रतीक है, कि मैं अब अंतिम हो गया, भिक्षु हो गया, भिखारी हो गया, अब मुझे कोई सम्राट होने का आकर्षण नहीं है, अब मैं प्रथम नहीं होना चाहता, मैं प्रतियोगिता से हट गया। प्रतियोगिता-त्याग की ही सूचना भिक्षापात्र है, कि मैं दीन-हीन हो गया, अब मैं भीख मांगकर ले लूंगा, दो रोटी मिल जाएं बस बहुत हैं। मगर वह

भी भिक्षापात्र को सजाता है, वह भी उस पर बड़ी कारीगरी करता है। उसमें भी झंझट चलती है।
मैं तेरापंथी जैन-मुनियों के एक सम्मेलन में सम्मिलित हुआ, तो वहां जिसके पास जितना सुंदर भिक्षापात्र, जितना कारीगरी से बनाया भिक्षापात्र, वह उतना बड़ा भिक्षु, वह उतना बड़ा मुनि। तेरापंथी बड़ी मेहनत करते हैं, उनका भिक्षापात्र सुंदर होता है, चित्त लुभा जाए इतना सुंदर बनाते हैं।
अब भिक्षापात्र, उसको इतना सुंदर बनाने का क्या प्रयोजन है! पर आदमी ऐसा है कि भीतर तो वही रहता है, वह जहां भी जाएगा वहीं अपने भीतर के लिए कुछ न कुछ उपाय खोज लेगा; मन फिर नए जाल बुनने लगेगा।
तो बुद्ध ने उन्हें बुलाया, उन्हें खूब डांटा। बुद्ध डांटते हों, ऐसा सुनकर हमें हैरानी होती है। और न केवल डांटा, डांटते समय अति कठोर भी थे। यह कठोरता करुणा का ही रूप है। गुरु को कठोर होना ही पड़ेगा, बहुत बार उसे अति कठोर भी होना पड़ेगा। क्योंकि हमारी नींद इतनी गहरी है कि अगर वह न चिल्लाए तो शायद हम सुनेंगे भी नहीं। अगर वह न झकझोरे, तो शायद हम जागेंगे भी नहीं। हमारे सपने मधुर हैं और हम सपनों में बड़े डूबे हुए हैं।
बुद्ध ने कहा--भिक्षुओ, किसलिए आए हो और क्या कर रहे हो?
तुम्हें ध्यान की फुर्सत ही नहीं है, समय ही नहीं है, तुम तो भूल ही गए
कि ध्यान के लिए आए थे। संन्यास का मौलिक लक्ष्य ध्यान है। ध्यान से संन्यास निकलता है, संन्यास से और ध्यान निकलना चाहिए। फिर ध्यान से और संन्यास, फिर और संन्यास से और ध्यान--ध्यान और संन्यास एक-दूसरे को बढ़ाते चले जाएं, तो तुम्हारी गति होती है। ध्यान और संन्यास दो पंख हैं, जिनसे परमात्मा तक पहुंचा जा सकता है। लेकिन ध्यान ही भूल गए तो संन्यास का कोई मूल्य नहीं है।
मन के जाल समझो भिक्षुओ, बुद्ध ने कहा। सोते-जागते, उठते-बैठते होश रखो भिक्षुओ, नहीं तो पीछे पछताओगे। अभी समय है, अभी कुछ कर लो।
और तब उन्होंने ये सूत्र कहे, "जो करने योग्य है उसको तो छोड़ देता है, लेकिन जो न करने योग्य है उसे करता है... ।"
भिक्षापात्र पर खुदाई कर रहे हो! कि पादुका पर खुदाई कर रहे हो! तुम्हें होश है, क्या कर रहे हो? यह सारा समय व्यर्थ गया। पादुका यहीं पड़ी रह जाएगी, भिक्षापात्र यहीं पड़े रह जाएंगे। जैसे महल पड़े रह जाएंगे, वैसे ही झोपड़ियां भी पड़ी रह जाएंगी, सब यहीं पड़ा रह जाएगा। कुछ ऐसा कमाओ जो मौत के पार तुम्हारे साथ जा सके। वही करने योग्य है जो मौत के पार साथ जा सके। "जो उसे तो करता जो व्यर्थ था और उसे छोड़ देता जो सार्थक था, ऐसे उमड़ते मलों वाले प्रमादियों के आस्रव बढ़ते हैं।"
इससे तो संसार और बड़ा होगा। इससे संसार छोटा नहीं होगा।
"जिन्हें नित्य कायगता-स्मृति उपस्थित रहती है... ।"
अपने शरीर का बोध रखो। कायगता-स्मृति बुद्ध के ध्यान का प्रथम चरण है। इसका अर्थ होता है--यह शरीर सुंदर है ही नहीं, लाख उपाय करो तो भी सुंदर न हो सकेगा, सब धोखा है।
बुद्ध ने बत्तीस कुरूपताएं शरीर में गिनायी हैं। इन बत्तीस कुरूपताओं का स्मरण रखने का नाम कायगता-स्मृति है। पहली तो बात, यह शरीर मरेगा। इस शरीर में मौत लगेगी। यह पैदा ही बड़ी गंदगी से हुआ है।
मां के गर्भ में तुम कहां थे, तुम्हें पता है? मल-मूत्र से घिरे पड़े थे। उसी मल-मूत्र में नौ महीने बड़े हुए। उसी मल-मूत्र से तुम्हारा शरीर धीरे-धीरे निर्मित हुआ। फिर बुद्ध कहते हैं कि अपने शरीर में इन विषयों की स्मृति रखे--केश, रोम, नख, दांत, त्वक्, मांस, स्नायु, अस्थि, अस्थिमज्जा, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुफ्फुस, आंत, उदरस्थ मल-मूत्र, पित्त, कफ, रक्त, पसीना, चर्बी, लार आदि। इन सब चीजों से भरा हुआ यह शरीर है, इसमें सौंदर्य हो कैसे सकता है!
सौंदर्य तो सिर्फ चेतना का होता है। देह तो मल-मूत्र का घर है। देह तो धोखा है। देह के धोखे में मत पड़ना, बुद्ध कहते हैं। इस बात को स्मरण रखना कि इसको तुम कितने ही इत्र से छिड़को इस पर, तो भी इसकी दुर्गंध नहीं जाती।

और तुम इसे कितने ही सुंदर वस्त्रों में ढांको, तो भी इसका असौंदर्य नहीं ढंकता है। और तुम चाहे कितने ही सोने के आभूषण पहनो, हीरे-जवाहरात सजाओ, तो भी तुम्हारे भीतर की मांस-मज्जा वैसी की वैसी है।
जिस दिन चेतना का पक्षी उड़ जाएगा, तुम्हारी देह को कोई दो पैसे में खरीदने को राजी न होगा। जल्दी से लोग ले जाएंगे, मरघट पर जला आएंगे। जल्दी समाप्त करेंगे। घड़ी दो घड़ी रुक जाएगी देह तो बदबू आएगी। यह तो रोज नहाओ, धोओ, साफ करो, तब किसी तरह तुम बदबू को छिपा पाते हो। लेकिन बदबू बह रही है। बुद्ध कहते हैं, शरीर तो कुरूप है। सौंदर्य तो चेतना का होता है। और सौंदर्य चेतना का जानना हो तो ध्यान मार्ग है। और शरीर का सौंदर्य मानना हो, तो ध्यान को भूल जाना मार्ग है। ध्यान करना ही मत कभी, नहीं तो शरीर का असौंदर्य पता चलेगा। तुम्हें पता चलेगा, यह शरीर में यही सब तो भरा है। इसमें और तो कुछ भी नहीं है।
कभी जाकर अस्पताल में टंगे अस्थिपंजर को देख आना, कभी जाकर किसी मुर्दे का पोस्टमार्टम होता हो तो जरूर देख आना, देखने योग्य है, उससे तुम्हें थोड़ी अपनी स्मृति आएगी कि तुम्हारी हालत क्या है। किसी मुर्दे का पेट कटा हुआ देख लेना, तब तुम्हें समझ में आएगा कि कितना मल-मूत्र भरे हुए हम चल रहे हैं। यह हमारे शरीर की स्थिति है।
बुद्ध कहते हैं, इस स्थिति का बोध रखो। यह बोध रहे तो धीरे-धीरे शरीर
से तादात्म्य टूट जाता है और तुम उसकी तलाश में लग जाते हो जो शरीर के भीतर छिपा है, जो परमसुंदर है। उसे सुंदर करना नहीं होता, वह सुंदर है। उसे जानते ही सौंदर्य की वर्षा हो जाती है। और शरीर को सुंदर करना पड़ता है, क्योंकि शरीर सुंदर नहीं है। कर-करके भी सुंदर होता नहीं है। कभी नहीं हुआ है। कभी नहीं हो सकेगा।
तृतीय दृश्य--
यह बहुत अनूठा सूत्र है। बुद्ध के अनूठे से अनूठे सूत्रों में एक। इसे खूब ख्याल से समझ लेना।

प्रभातवेला, आकाश में उठता सूर्य, आम्रवन में पक्षियों का कलरव, भगवान जेतवन में विहरते थे। उनके पास ही बहुत से आगंतुक भिक्षु भगवान की वंदना कर एक ओर बैठे थे। उसी समय लव कुंठक भद्दीय स्थविर भगवान से विदा ले कुछ समय के लिए भगवान से दूर जा रहे थे। उन्हें जाते देख भगवान ने उनकी ओर संकेत कर कहा--भिक्षुओ, देखते हो इस भाग्यशाली भिक्षु को? वह माता-पिता को मारकर दुखरहित होकर जा रहा है।
माता-पिता को मारकर! वे भिक्षु भगवान की बात सुनकर चौंके, चौंककर एक-दूसरे का मुंह देखने लगे कि भगवान ने यह क्या कहा? माता-पिता को मारकर दुखरहित होकर जा रहा है, इस भाग्यशाली भिक्षु को देखो! उन्हें तो अपने कानों पर भरोसा नहीं हुआ! माता-पिता की हत्या से बड़ा तो कोई और पाप नहीं है। भगवान यह क्या कहते हैं? कहीं कुछ चूक है। या तो हम सुनने में चूक गए, या भगवान कहने में चूक गए। माता-पिता के हत्यारे को भाग्यशाली कहना, यह कैसी शिक्षा है? भगवान होश में हैं?
अत्यंत संदेह और विभ्रम में पड़े उन्होंने भगवान से पूछा--तथागत क्या
कह रहे हैं? ऐसी बात न तो आंखों देखी, न कानों सुनी। भगवान ने तब कहा--इतना ही नहीं, इस अपूर्व भिक्षु ने और भी हत्याएं की हैं; और बड़ी सफलता से और बड़ी कुशलता से। हत्या करने में इसका कोई सानी नहीं है। भिक्षुओ, तुम भी इससे कुछ सीख लो। तुम भी इस जैसे बनो और तुम भी दुख-सागर के पार हो जाओगे। भिक्षुओं ने कहा--आप कहते क्या हैं! हत्यारे की प्रशंसा कर रहे हैं! और बुद्ध ने कहा--इतना ही नहीं भिक्षुओ, इसने अपनी भी हत्या कर दी है। यह आत्मघाती भी है। यह बड़ा भाग्यशाली है! और तब उन्होंने ये सूत्र कहे--

मातरं पितरं हंत्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हंत्वा अनीघो याति ब्राह्मणो।।
मातरं पितरं हंत्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपंचमं हंत्वा अनीघो याति ब्राह्मणो।।

"माता अर्थात तृष्णा"--बुद्ध कहते हैं, सारे जीवन का जन्म तृष्णा से हुआ है--"माता अर्थात तृष्णा, पिता अर्थात अहंकार, दो क्षत्रिय राजाओं अर्थात शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि"--आस्तिकता और नास्तिकता--"और उनके अनुचरों को"--सारे शास्त्रीय सिद्धांतों को--"और उनके साथ सारे राष्ट्र को"--आसक्तियों सहित अपने भीतर के सारे संसार को--"मारकर यह ब्राह्मण निष्पाप हो गया है।"
"माता-पिता, दो श्रोत्रिय राजाओं और व्याघ्रपंचम को मारकर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।"
समझने की कोशिश करें।
तृष्णा को कहा बुद्ध ने मां। तृष्णा है स्त्रैण। इसलिए स्त्रियां ज्यादा तृष्णातुर होती हैं पुरुष की बजाय। स्त्रियों की पकड़ वस्तुओं पर, धन पर, मकान पर बहुत होती है--तृष्णातुर होती हैं। और स्त्रियां ईर्ष्या से बहुत जलती हैं--किसी ने बड़ा मकान बना लिया, किसी ने नयी साड़ी खरीद ली! तृष्णा स्त्रैण है, अहंकार पुरुष है। पुरुष को कष्ट होता है तभी जब किसी का अहंकार बढ़ता देखने लगे। जब उसके अहंकार को चोट लगती है तब वह बेचैन होता है। वस्तुएं चाहे न हों, मगर प्रतिष्ठा हो। प्रतिष्ठा के लिए सब भी छोड़ने को तैयार होता है पुरुष, मगर प्रतिष्ठा छोड़ने को तैयार नहीं होता। मैं कुछ हूं, ऐसा भाव रहे तो वह सब छोड़ने को तैयार है। भूखा मर सकता है, उपवास कर सकता है--अगर लोगों को ख्याल रहे कि यह महातपस्वी है। नंगा खड़ा हो सकता है, धूप-ताप सह सकता है, बस एक बात भर बनी रहे कि यह आदमी गजब का है।
पुरुष की जड़ उसके अहंकार में है। इसलिए स्त्री की जड़ उसकी तृष्णा में है। तृष्णा शब्द भी स्त्रैण है, अहंकार शब्द भी पुरुषवाची है। यह पुरुष का रोग है अहंकार, और तृष्णा स्त्री का रोग है। इन दोनों के मिलन से हम सब बने हैं। न तो तुम पुरुष हो अकेले, न तुम स्त्री हो अकेले। जैसे मां और पिता से तुम्हारा जन्म हुआ--आधा हिस्सा मां ने दिया है तुम्हारे शरीर को, आधा हिस्सा तुम्हारे पिता ने दिया है। कोई पुरुष एकदम शुद्ध पुरुष नहीं है, क्योंकि मां का हिस्सा कहां जाएगा? और कोई स्त्री शुद्ध स्त्री नहीं है, क्योंकि पिता का हिस्सा कहां जाएगा? दोनों का मिलन है। ऐसे ही चित्त बना है तृष्णा और अहंकार से। स्त्रियों में तृष्णा की मात्रा ज्यादा, पुरुषों में अहंकार की मात्रा ज्यादा। भेद मात्रा का है। और दोनों महारोग हैं। और दोनों को मारे बिना कोई दुख से मुक्त नहीं होता।
इसलिए बुद्ध ने बड़ी अजीब बात कही है कि यह अपने माता-पिता को मारकर दुख से मुक्त हो गया है, देखते हैं इस भाग्यशाली भिक्षु को! इसकी तृष्णा भी नहीं रही--यह कुछ पाने को उत्सुक भी नहीं है। और इसका कोई अहंकार भी नहीं रहा--इसकी कोई मैं की घोषणा भी नहीं रही। यह शून्यवत हो गया है। जैसे है ही नहीं। इसने अपने को पोंछ लिया। इसलिए बुद्ध कहते हैं, इतना ही नहीं, इसने अपना भी आत्मघात कर लिया है।
अब ख्याल करना, अगर हमारे जीवन की सारी दौड़ अहंकार और तृष्णा से बनी है, तो जिस दिन अहंकार और तृष्णा समाप्त हो जाएगी, उसी दिन हमारा जीवन भी समाप्त हो गया--आत्मघात भी हो गया। इसलिए तो बुद्धपुरुष कहते हैं कि जिस व्यक्ति ने तृष्णा और अहंकार छोड़ दिया, उसका दुबारा जन्म नहीं होगा, वह संसार में फिर नहीं आएगा, उसका फिर पुनः आगमन नहीं है। उसने जीवन का मूलस्रोत ही तोड़ दिया। वह महाजीवन में विराजता। आकाश उसका घर होगा, निर्वाण उसकी नियति होगी।
इतना ही नहीं, बुद्ध कहते हैं, माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को...
। यह भी बड़ी अनूठी बात है। बुद्ध कहते हैं, आस्तिकता और नास्तिकता, ये दो राजा हैं दुनिया में। कुछ लोग आस्तिक बनकर बैठ गए हैं, कुछ लोग नास्तिक बनकर बैठ गए हैं। कुछ के ऊपर आस्तिकता का राज्य है, कुछ पर नास्तिकता का राज्य है। दोनों से मुक्ति चाहिए। क्योंकि जो है, उसे न तो हां से कहा जा सकता, और न ना में कहा जा सकता। जो है वह इतना बड़ा है कि हां और ना में नहीं समाता।

इसलिए बुद्ध से जब कोई पूछता है, ईश्वर है? तब चुप रह जाते हैं। वह कुछ
भी नहीं कहते। बुद्ध से कोई पूछता है, आप आस्तिक हैं? तो चुप रह जाते हैं।
नास्तिक हैं? तो चुप रह जाते हैं। क्योंकि वह कहते हैं कि अस्तित्व इतना विराट है कि हां और ना की कोटियों में नहीं समाता। हां कहो तो भी गलती हो जाती है, ना कहो तो भी गलती हो जाती है। हां और ना, दोनों इसमें समाहित हैं। कोई कोटियां मन की काम नहीं आतीं।
इसलिए मन की सारी विभाजक कोटियों से मुक्त हो गया है। दो क्षत्रिय राजाओं को भी इसने मार डाला है।
हम अक्सर विभाजन में पड़े रहते हैं। कभी तुम कहते हो, दुख, कभी तुम कहते हो, सुख, विभाजन हो गया। कभी तुम कहते हो, मैं पुरुष, कभी तुम कहते हो, मैं स्त्री, विभाजन हो गया। जहां-जहां दो का विभाजन है, वहां-वहां तुम मन के प्रभाव में रहोगे। द्वैत यानी मन। और जहां दोनों गिरा दिए, तुम चुप हो गए-- मौन यानी मन के पार हो जाना; मौन मन के बाहर हो जाने की स्थिति है; मौन अद्वैत है।
इसने दो राजाओं को मार डाला है। उनके अनुचरों को भी मार डाला है--सब सिद्धांत, सब शास्त्र, सब फिलासफी इसने आग लगा दी है। अब न यह सोचता, न यह विचारता, अब तो यह शून्य निर्विचार में ठहरा है। इसने सारे राष्ट्र को भी मार डाला है। इसने अपने भीतर के सारे संसार को ही उखाड़ डाला है।
ख्याल करना, तुम्हारा संसार तुम्हारे पड़ोसी का संसार नहीं है। पत्नी
का संसार पति का संसार नहीं है, बेटे का संसार बाप का संसार नहीं है। यहां उतने ही संसार हैं जितने लोग हैं। हर आदमी अपने संसार में रह रहा है। हर आदमी ने अपने मन का विस्तार किया हुआ है, वही उसका संसार है।
बुद्ध कहते हैं, इसने सारे अपने भीतर के जगत को ही जलाकर राख कर दिया।
तो यह ब्राह्मण निष्पाप हो गया है।
"माता-पिता, दो क्षत्रिय राजाओं, व्याघ्रपंचम को मारकर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।"
पांच शत्रु हैं, जो मनुष्य को काटे डालते हैं। चाहे उनको पंचेन्द्रियां कहो, या पांच शत्रु कहो, पांच प्रकार की कामवासनाएं कहो, लेकिन पांच शत्रु हैं जो मनुष्य को काटे डालते हैं। यह उन पांचों को भी मारकर... ।
हत्या का ऐसा अदभुत अर्थ! स्वभावतः, भिक्षु चौंक गए होंगे जब पहली दफा सुना होगा कि मां-बाप को मारकर यह दुख से मुक्त हो गया है।
उन्होंने पूछा--तथागत क्या कह रहे हैं!
तथागत शब्द का भी वही अर्थ होता है जो सुगत का। सुगत का अर्थ होता है,
जो भलीभांति चला गया, जो इस जमीन पर दिखायी पड़ता है लेकिन अब यहां जिसकी चेतना नहीं है। तथागत का यह भी अर्थ होता है, जो भलीभांति आया और भलीभांति चला गया। जो ऐसे आया जैसे आया ही न हो और ऐसे चला गया जैसे गया ही न हो, जिसका होना न होना किसी को पता ही न चला, जैसे पानी पर लकीर खींचते हैं--ऐसे बुद्धों का आगमन है। इतिहास पर कोई रेखा नहीं छूटती।
इतिहास पर रेखा तो हिटलर, चंगेजखां, तैमूरलंग, इनकी छूटती है, बुद्धों
की नहीं छूटती। न करते हैं विध्वंस, तो कैसे रेखा छूटेगी इतिहास पर! अंतर्जगत में प्रवेश करते हैं, बाहर के जगत में तो धीरे-धीरे शून्य हो जाते हैं, तो कैसे इतिहास पर रेखा छूटेगी? बुद्धों को तथागत कहा जाता है-- चुपचाप आते हैं, चुपचाप चले जाते हैं। किसी को कानों-कान खबर नहीं पड़ती। शिष्यों ने पूछा कि तथागत क्या कह रहे हैं? यह आप कैसी बात कर रहे हैं
कि माता-पिता को मारकर! माता-पिता को मारना तो सब से बड़ा पाप है।
इसका एक और अर्थ मैं करना चाहूंगा, जो इस सूत्र में नहीं कहा गया है, लेकिन अगर बुद्ध आज होते तो कहते। अमरीका में मनोविज्ञान की एक नयी पद्धति विकसित हुई है, ट्रांजेक्शनल एनालिसिस। महत्वपूर्ण है बहुत। ट्रांजेक्शनल एनालिसिस के हिसाब से प्रत्येक व्यक्ति में तीन व्यक्ति होते हैं--एक तुम्हारी मां, एक तुम्हारा पिता, एक तुम्हारा बचपन। छोटा बच्चा है, हजार काम करना चाहता है, हजार रुकावटें पड़ती हैं। आग से खेलना चाहता है, मां कहती है, नहीं। बाहर जाना चाहता है मित्रों के पास, बाप कहता

है, नहीं, रात हो गयी, सो जाओ। जब सोना नहीं चाहता है तब मां-बाप कहते हैं सो जाओ, जब उठना चाहता है सुबह तो उठने नहीं देते, जब नहीं उठना चाहता है तो उठाते हैं। जब खाना नहीं चाहता तो खिलाते हैं, जब खाना चाहता है तो रोकते हैं कि अब बहुत हो गया। हजार निषेध हैं, तो छोटा बच्चा निषिद्ध होता जाता है।

वह जो निषिद्ध छोटा बच्चा है तुम्हारे भीतर, वह कभी नहीं मरता, वह तुम्हारे भीतर मौजूद है। इसलिए कभी-कभी तुम अगर समझोगे ठीक से, ऐसी घड़ी आ जाती है जब तुम्हारा छोटा बच्चा प्रगट हो जाता है--किसी ने गाली दे दी, उस वक्त तुम जो व्यवहार करते हो वह छोटे बच्चे का व्यवहार है। तुम्हारी उमर पचास साल की हो, लेकिन तत्क्षण तुम ऐसा व्यवहार करते हो जैसे सात साल का बच्चा भी करने में संकोच करे। जरा सी बात और तुम भूल गए अपने पैंतालीस साल, लौट गए बचपन में। पीछे तुम पछताओगे, तुम कहोगे, यह मैंने कैसे किया, यह किस बात ने मुझे पकड़ लिया, यह तो शोभा नहीं देता। जरा सी बात हो गयी और तुम एकदम बचकानी अवस्था में व्यवहार कर लिए। वह बच्चा तुम्हारे भीतर जिंदा है, दबा पड़ा है, जरा सी चोट की जरूरत है, निकल आता है।
तुमने देखा होगा, किसी के घर में आग लग गयी... मैं एक गांव में ठहरा था,
एक घर में आग लग गयी। उस घर के मालिक को मैं बहुत दिन से जानता था, बड़े हिम्मत का आदमी, वह एकदम छाती पीट-पीटकर रोने लगा।
मैंने उसे जाकर कहा कि तू हिम्मतवर आदमी है--उसकी छाती भी बड़ी थी, वह गांव में रामलीला में अंगद का पार्ट करता था, उससे बड़ी छाती का आदमी मैंने फिर देखा नहीं, उसकी बड़ी चौड़ी छाती थी, वह एकदम छाती पीटकर--मैंने उसको जाकर कहा कि देख, जरा सुन भी, इतनी बड़ी छाती और ऐसे पीट रहा है! और तू अंगद का काम करता है! मकान में ही आग लग गयी है न!
वह मुझसे बोला, ज्ञान की बातें अभी नहीं! मुझे मत छेड़ो। अरे, मैं मर गया! वह फिर पीटने लगा कि मैं मारा गया, मैं लुट गया! छोटे बच्चे जैसा--जैसे छोटा बच्चा पैर पटकने लगता है और चिल्लाने लगता है।
तुमने कभी ख्याल किया, छोटे बच्चे का एक लक्षण होता है, वह किसी भी चीज
को चाहता है तो अभी चाहता है, इसी वक्त चाहता है। आधी रात में आइसक्रीम चाहिए, तो अभी चाहिए। वह मान ही नहीं सकता कि कल पर छोड़ा जा सकता है--क्यों कल पर? अभी क्यों नहीं?
तुमने अपने चित्त में भी यह वृत्ति देखी कई बार सिर मारती। एक कार रास्ते से गुजरते देखी और तुम कहते हो, अभी चाहिए, इसी वक्त चाहिए। चाहे अब घर बिक जाए, चाहे झंझट में पड़ जाओ, चाहे कर्ज लेना पड़े, चाहे जिंदगीभर चुकाने में लग जाए कर्ज, मगर इसी वक्त चाहिए, अब तो लेना ही है।
अमरीका इस समय दुनिया में सबसे ज्यादा बचकाना देश है, तो हर चीज इंस्टेंट--इंस्टेंट काफी--हर चीज इसी वक्त चाहिए। काफी बनाने की भी झंझट कौन करे? तैयार करने की भी झंझट कौन करे? तैयार चाहिए। हर चीज तैयार चाहिए। भोजन तैयार चाहिए, बस ज्यादा से ज्यादा डिब्बा खोलना आना चाहिए और कुछ खास जरूरत नहीं है।
हर चीज इसी वक्त हो, ये बचकानी बातें हैं। मगर ये मरतीं नहीं, ये भीतर रहती हैं, ये कभी भी लौट आती हैं। ये किसी दुर्दिन में, दुर्घटना में प्रगट हो जाती हैं। तुम्हारी प्रौढ़ता ऊपर-ऊपर है, भीतर तुम्हारा बच्चा छिपा है जो कभी नहीं बढ़ा, जिसमें कोई प्रौढ़ता आयी ही नहीं। सामान्य कामकाज में तुम सम्हाले रहते हो अपने को, लेकिन जरा भी असामान्य स्थिति आती है कि तुम्हारी प्रौढ़ता दो कौड़ी की साबित होती है। तुम्हारी प्रौढ़ता चमड़ी से ज्यादा गहरी नहीं है, जरा किसी ने खरोंच दिया कि तुम्हारा बच्चा प्रगट हो जाता है। तो यह बच्चा जाना चाहिए, इसकी मृत्यु होनी चाहिए, तो ही तुम प्रौढ़ हो पाओगे।
फिर तुम्हारी मां और पिता तुम्हारे भीतर सदा बैठे हैं। इनकी भी मृत्यु होनी चाहिए। इसका बाहर के माता-पिता से कोई संबंध नहीं है। ट्रांजेक्शनल एनालिसिस का कहना यह है कि वही व्यक्ति ठीक से प्रौढ़ हो

पाता है जिसके भीतर माता-पिता की आवाज समाप्त हो जाती है। नहीं तो तुम कुछ भी करो, माता-पिता की आवाज पीछा करती है।
समझो कि तुम बचपन में कुछ काम करते थे, मां-बाप ने रोक दिया था, अब भी तुम वह काम करना चाहते हो, भीतर से एक आवाज आती है, तुम्हारा पिता कहता है-- नहीं। हालांकि अब तुम स्वतंत्र हो। तुम अंधेरी रात में बाहर जाना चाहते थे, पिता ने रोक दिया था। तुम छोटे बच्चे थे, यह ठीक भी था रोक देना, तुम्हारी परिस्थिति के अनुकूल था। अब भी तुम अंधेरे में जाते हो बाहर तो ऐसा लगता है पिता इनकार कर रहे हैं। साफ नहीं होता, भीतर से कोई रोकता है, भीतर से कोई दबाता है, भीतर से कोई कहता है--मत जाओ, यह मत करो, ऐसा मत करो। यह जो भीतर तुम्हारे पिता की आवाज है, यह तुम्हें कभी बढ़ने न देगी। तुम्हारी मां अभी भी तुम्हें पकड़े हुए है। वह तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ती। उससे छुटकारा चाहिए।
समझो कि तुम किसी एक लड़की के प्रेम में पड़ गए थे, और तुम्हारी मां ने बाधा डाल दी थी--शायद जरूरी था डालना, तुम्हारी उम्र भी नहीं थी अभी, अभी तुम प्रेम का अर्थ भी नहीं समझ सकते थे, अभी तुम झंझट में पड़ जाते, अभी तुम उलझ जाते, तुम्हारी पढ़ाई-लिखाई रुक जाती, तुम्हारा विकास रुक जाता--मां ने रोक दिया था। मां ने सब तरह से तुम्हें लड़कियों से बचाया था।
अब तुम्हारी शादी भी हो गयी है, तुम्हारी पत्नी घर में है, लेकिन जब तुम पत्नी का भी हाथ हाथ में लेते हो, तुम्हारी मां भीतर से रोक रही है। वह कह रही है, सावधान! झंझट में मत पड़ना। तो तुम पत्नी का हाथ भी हाथ में लेते हो, लेकिन पूरे मन से नहीं ले पाते। वह मां पीछे खींच रही है। इस मां का जाना होना ही चाहिए, नहीं तो तुम कभी प्रौढ़ न हो पाओगे।
ट्रांजेक्शनल एनालिसिस के लोगों को अगर बुद्ध के ये सूत्र मिल जाएं,
तो उनके लिए तो बड़ा सहारा मिल जाएगा--माता-पिता की हत्या! माता-पिता की हत्या से तुम्हारे बाहर के माता-पिता की हत्या का कोई संबंध नहीं है। तुम्हारे भीतर जो माता-पिता की प्रतिमा बैठ गयी है उसकी हत्या होनी चाहिए, तभी तुम मुक्त हो पाओगे। और यह बड़े मजे की और विरोधाभासी बात है कि जिस दिन तुम भीतर के माता-पिता से मुक्त हो जाओगे, उस दिन तुम बाहर के माता-पिता को पहली दफा ठीक आदर दे पाओगे, उसके पहले नहीं। समादर पैदा होगा। अभी तो तुम भीतर इतने ग्रसित हो उनसे कि तुम्हारे मन में क्रोध है, मां-बाप को क्षमा करना भी मुश्किल है।
गुरजिएफ ने अपने दरवाजे पर लिख रखा था कि अगर तुमने अपने मां-बाप को क्षमा कर दिया हो तो मेरे पास आओ। अजीब सी बात! सत्य की खोज में आए आदमी से पूछना कि तुमने मां-बाप को क्षमा कर दिया या नहीं? क्षमा! लोग कहते, हम तो आदर करते हैं। वह कहता कि जाओ वापस, पहले क्षमा करो, आदर अभी कहां है, सब थोथा है। माफ तो करो पहले!
माफ तुम तभी कर सकोगे जब तुम्हारे भीतर से सारा मां-बाप का जाल मिट जाए, तुम मुक्त हो जाओ। जिनसे तुम बंधे हो, उन्हें माफ नहीं कर सकते। गुलामी को कोई माफ करता है! परतंत्रता को कोई माफ करता है! कारागृह को कोई माफ करता है! और जिसने तुम्हें गुलाम बनाया है, उसको तुम आदर कैसे दे सकते हो?
इसलिए अगर बच्चे मां-बाप के प्रति अनादर से भर जाते हैं तो आश्चर्य नहीं है। मां-बाप के प्रति आदर तभी हो सकता है जब मां-बाप से पूरा छुटकारा हो जाए। और यह बाहर की बात नहीं है कि बाहर के मां-बाप को छोड़कर भाग जाओ। बाहर के मां-बाप को छोड़ने से कुछ भी नहीं होता। हिमालय चले जाओ, वहां भी भीतर के मां-बाप तुम्हारा पीछा करेंगे, वे तुम्हारे मन के हिस्से हो गए हैं। उस मन को बदलना जरूरी है।
बुद्ध के ये सूत्र, इसलिए मैंने कहे, बड़े महत्वपूर्ण हैं।

मातरं पितरं हंत्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हंत्वा अनीघो याति ब्राह्मणो।।

ब्राह्मण मुक्त हो जाता है माता-पिता को मारकर, क्षत्रिय दो राजाओं
को मारकर, राजा के अनुचरों को मारकर, सारे राष्ट्र की हत्या करके, अंततः स्वयं अपनी हत्या करके सारे दुखों के पार हो जाता है।
निर्वाण का अर्थ ही यही होता है--अपने हाथ से अपनी महामृत्यु को निमंत्रित कर लेना। निर्वाण का अर्थ होता है--दीए की ज्योति जैसे बुझ जाती है, ऐसा जो बुझ जाए, जिसके भीतर कोई मैं न बचे। इस न-मैं की अवस्था का नाम निर्वाण है।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 10
तेरान्वे प्रवचन

जीने में जीवन है

पहला प्रश्नः मैं तब तक ध्यान कैसे कर सकता हूं जब तक कि संसार में इतना दुख है, दरिद्रता है, दीनता है? क्या ऐसी स्थिति में ध्यान आदि करना निपट स्वार्थ नहीं है? परमात्मा मुझे यदि मिले, तो उससे अपनी शांति मांगने के बजाय मैं उन लोगों के लिए दंड ही मांगना ज्यादा पसंद करूंगा जिनके कारण संसार में शोषण है, दुख है और अन्याय है।

जैसी आपकी मर्जी! ध्यान न करना हो तो कोई भी बहाना काफी है। ध्यान न करना हो तो किसी भी तरह से अपने को समझा ले सकते हैं कि ध्यान करना ठीक नहीं। लेकिन अभी यह भी नहीं समझे हो कि ध्यान क्या है? यह भी नहीं समझे हो कि दुनिया में इतना दुख, इतनी पीड़ा, इतनी परेशानी ध्यान के न होने के कारण है।
दुखी आदमी दूसरे को दुख देता है। और कुछ देना भी चाहे तो नहीं दे सकता। जो तुम्हारे पास है वही तो दोगे। जो तुम्हारे पास नहीं है, वह देना भी चाहो तो कैसे दोगे। दुखी दुख देता है, सुखी सुख देता है। यदि तुम चाहते हो कि दुनिया में सुख हो, तो भीतर की शांति, भीतर का होश अनिवार्य शर्तें हैं।
ध्यान शब्द पर मत अटको। ध्यान का अर्थ इतना ही है कि तुम अपने भीतर के
रस में डूबने लगे। जब तुम रसपूर्ण होते हो, तो तुम्हारे कृत्यों में भी रस बहता है। फिर तुम जो करते हो उसमें भी सुगंध आ जाती है। ध्यान से भरा हुआ व्यक्ति कठोर तो नहीं हो सकता, करुणा सहज ही बहेगी। ध्यान से भरा हुआ व्यक्ति शोषण तो नहीं कर सकता, असंभव है। ध्यान से भरा हुआ व्यक्ति हिंसक तो नहीं हो सकता, अहिंसा और प्रेम ध्यान की छायाएं हैं। करुणा ऐसे ही आती है ध्यान के पीछे जैसे बैलगाड़ी चलती है और उसके पीछे चाकों के निशान बनते चलते हैं--अनिवार्य है।
दुनिया में इतने लोग दुखी हैं और इतने लोग एक-दूसरे को दुख दे रहे हैं, दुख निश्चित है; मगर दुख का कारण क्या है? दुख का कारण यही है कि लोग सुखी नहीं हैं। तुम जिस अवस्था में हो उसी की तरंगें तुमसे पैदा होती हैं। सब अपने सुख की दौड़ में ही दूसरों को दुखी कर रहे हैं। कोई अकारण तो दुखी नहीं कर रहा है। कोई किसी को दुखी करने के लिए थोड़े ही दुखी कर रहा है! सब चाहते हैं सुख मिले, और अपने-अपने सुख की दौड़ में लगे हैं। स्वभावतः, इस दौड़ में बड़ा संघर्ष है। और सभी अपने सुख को बाहर खोज रहे हैं, सभी को दिल्ली जाना है, सभी को दिल्ली के पदों पर बैठना है। तो संघर्ष है, छीना-झपटी है, उठा- पटक है, आपा-धापी है।
फिर ठीक से पहुंचें कि गलत से पहुंचें, इसकी भी चिंता करने की फुर्सत कहां! क्योंकि दिखायी ऐसा पड़ता है--जो ठीक का बहुत विचार करते हैं, वे पहुंच ही नहीं पाते हैं। यहां तो जो ठीक का विचार नहीं करता है, वह पहुंचता हुआ मालूम पड़ता है। तो धीरे-धीरे साधन मूल्यहीन हो जाते हैं, बस लक्ष्य एक है कि सुख मिल जाए। फिर चाहे सबका सुख छीनकर भी सुख मिल जाए तो भी मेरा सुख मुझे मिलना चाहिए। इसी चेष्टा में दूसरा भी लगा है। इसी चेष्टा में सारी पृथ्वी के करोड़ों लोग लगे हैं। और सब बाहर दौड़ रहे हैं। ध्यान का अर्थ है-- सुख बाहर नहीं है। ध्यान का अर्थ है--सुख भीतर है।
जो बाहर गया, वह दुख से और गहरे दुख में पहुंचता रहेगा। और जितने दुख में पहुंचेगा उतना ही प्यासा हो जाएगा कि सुख किसी तरह मिल जाए। फिर तो येन-केन-प्रकारेण, फिर तो अच्छी तरह मिले तो ठीक, बुरी तरह मिले तो ठीक, किसी की हत्या से मिले तो ठीक, किसी के खून से मिले तो ठीक, लेकिन सुख मिल जाए। जैसे-जैसे तुम अपने से दूर जाओगे, वैसे-वैसे सुख की गहरी प्यास पैदा होगी। और उस अंधी प्यास में तुम कुछ भी कर गुजरोगे। फिर भी सुख मिलेगा नहीं। सिकंदर को नहीं मिलता, न बड़े धनपतियों को मिलता है। सुख मिला है

उन्हें जो भीतर की तरफ गए। और भीतर की तरफ जाने का नाम है ध्यान। अंतर्यात्रा है ध्यान।
जो अपने में डूबा, उसे सुख मिलता है। जो अपने में डूबा, उसकी स्पर्धा समाप्त हो गयी। उसकी कोई प्रतियोगिता नहीं है। क्योंकि मेरा सुख मेरा है, उसे कोई छीनना चाहे तो भी छीन नहीं सकता है। मेरा सुख मेरी ऐसी संपत्ति है जो मृत्यु भी नहीं छीन पाएगी, फिर किसी से क्या स्पर्धा है! और जब स्पर्धा नहीं, तो शत्रुता नहीं। फिर एक मैत्रीभाव पैदा होता है।
यहां कोई किसी का सुख नहीं छीन सकता है। यहां प्रत्येक व्यक्ति सुखी
हो सकता है, अपने भीतर पहुंचकर; और प्रत्येक व्यक्ति दुखी हो जाता है, अपने से बाहर दौड़कर। दुख यानी बाहर, सुख यानी भीतर। बाहर दौड़े तो संघर्ष है, हिंसा है, वैमनस्य है, शोषण है। भीतर आए तो न हिंसा है, न शोषण है, न वैमनस्य है। और जो अपने सुख में थिर हुआ, उसके पास तरंगें उठती हैं सुख की। उसके पास गीत पैदा होता है। उसके पास जो आएगा वह भी उस गीत में डूबेगा।
इस दुनिया में उसी दिन दुख समाप्त होगा जिस दिन बड़ी मात्रा में ध्यान
का अवतरण होगा, उसके पहले दुख समाप्त नहीं हो सकता।
अब तुम पूछते हो, "मैं तब तक ध्यान कैसे कर सकता हूं जब तक कि संसार में इतना दुख है, दरिद्रता है, दीनता है?"
यह दुख है ही इसीलिए कि ध्यान नहीं है। और तुम कहते हो, तब तक मैं ध्यान कैसे कर सकता हूं! यह तो ऐसी बात हुई कि मरीज चिकित्सक को जाकर कहे कि जब तक मैं बीमार हूं तब तक औषधि कैसे ले सकता हूं? पहले ठीक हो जाऊं फिर औषधि लूंगा। बीमार हो इसीलिए औषधि की जरूरत है, ठीक हो जाओगे तो फिर तो जरूरत ही न होगी। बीमारी के मिटाने के लिए औषधि है ध्यान।
तुम कहते हो, "संसार में इतना दुख, इतनी पीड़ा, इतना शोषण, इतना अन्याय है, मैं कैसे ध्यान करूं?"
इसीलिए ध्यान करो! कम से कम एक तो ध्यान करे, कम से कम तुम तो ध्यान करो! थोड़ी ही तरंगें सही तुम्हारे पास पैदा होंगी, थोड़ा तो सुख होगा। माना कि इस बड़े जंगल में एक फूल खिलने से क्या होगा, लेकिन एक फूल खिलने से और फूलों को भी याद तो आ सकती है कि हम भी खिल सकते हैं। और कलियां भी हिम्मत जुटा सकती हैं, दबी हुई कलियां अंकुरित हो सकती हैं, बीजों में सपने पैदा हो सकते हैं। एक फूल खिलने से प्रत्येक बीज में लहर पैदा हो सकती है।
फिर इससे क्या फर्क पड़ता है; तुम खिले, थोड़ी सुगंध बंटी, थोड़े चांद-तारे प्रसन्न हुए, थोड़ा सा दुनिया का एक छोटा सा कोना जो तुमने घेर रखा है, वहां सुख की थोड़ी वर्षा हुई। तुम यही तो चाहते हो न कि दुनिया में सुख की वर्षा हो! कम से कम उतनी दुनिया को तो सुखी कर लो जितने को तुमने घेरा है। तुम दुनिया का एक हिस्सा हो। तुम दुनिया का एक छोटा सा कोना हो। तुम जैसे लोगों से मिलकर ही दुनिया बनी है। आदमी आदमी से मिलकर आदमियत बनी है। आदमियत अलग तो नहीं है कहीं! जहां भी जाओगे आदमी पाओगे, आदमियत तो कहीं न पाओगे। कोई व्यक्ति मिलेगा, समाज तो कहीं होता नहीं। समाज तो केवल शब्दकोश में है। समाज का कोई अस्तित्व नहीं है, व्यक्ति का अस्तित्व है। तुम तो कम से कम, एक तो कम से कम खिल जाए। इतनी तो कृपा दुनिया पर करो! तुम्हारी इस कृपा से इतना होगा कि तुमसे जो दुर्गंध उठती है, नहीं उठेगी। अगर तुम्हें सच में लोगों पर दया आती है, तो कम से कम उस दुर्गंध को तो रोक दो जो तुमसे उठती है। दूसरे पर तो तुम्हारा वश भी नहीं है, कम से कम तुम तो थोड़ी सुगंध दो। जितना तुम कर सकते हो, उतना तो करो!
तुम कहते हो, वह भी मैं न करूंगा, क्योंकि दुनिया बहुत दुखी है।
सारा गांव बीमार है, माना, तुम भी बीमार हो, कम से कम तुम्हें दवा मिलती है, तुम तो इलाज कर लो। एक आदमी ठीक हो जाए तो दूसरे आदमियों को ठीक करने के लिए कुछ उपाय कर सकता है। सारा गांव सोया है, तुम भी सोए हो, कम से कम तुम तो जग जाओ। एक आदमी जग जाए तो दूसरों को जगाने की व्यवस्था कर सकता है। सोया आदमी तो किसी को कैसे जगाएगा! जागा हुआ जगा सकता है। ध्यान का अर्थ इससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।
फिर भी तुम्हारी मर्जी! तुम्हें लगता हो, जब तक दुनिया सुखी न हो जाएगी तब तक मैं ध्यान न करूंगा, तो तुम कभी ध्यान न करोगे; अनंत काल बीत

जाएगा, तुम ध्यान न करोगे, क्योंकि यह दुनिया कभी सुखी इस तरह होने वाली नहीं है। तुम्हारे ध्यान करने से दुनिया के इस बड़े भवन की एक ईंट तो सुखी होती है, एक ईंट तो सोना बनती है, एक ईंट में तो प्राण आता है! इतनी दुनिया बदली, चलो इतना सही! बूंद-बूंद से सागर भर जाता है। तुम एक बूंद हो, माना बहुत छोटे हो, लेकिन इतने छोटे भी नहीं जितना तुमने मान रखा है।
आखिर बुद्ध एक ही व्यक्ति हैं, एक ही बूंद हैं, लेकिन एक का दीया जला
तो फिर दीए से और हजारों दीए जले। ध्यान एक की चेतना में पैदा हो जाए तो वह लपट बहुतों को लगती है। सभी तो सुख की तलाश में हैं, जब किसी को जागा हुआ देखते हैं और लगता है कि सुख यहां घटा है, तो उस तरफ दौड़ पड़ते हैं। अभी दौड़ रहे हैं। जहां उन्हें दिखायी पड़ता है, सब दौड़ रहे हैं। यद्यपि वहां कोई सुख का प्रमाण भी नहीं मिलता, फिर भी और क्या करें! और कुछ करने को सूझता भी नहीं!
सब धन की तरफ जा रहे हैं, तुम दुखी हो, तुम भी धन की तरफ जा रहे हो। देखते भी हो गौर से कि धनियों के पास कोई सुख दिखायी पड़ता नहीं, लेकिन करें क्या! कुछ न करने से तो बेहतर है कुछ करें, खोजें, शायद मिल जाए। सारे लोग दौड़ रहे हैं तो एकदम तो गलत न होंगे! तो तुम भी भीड़ में सम्मिलित हो जाते हो।
लेकिन जब कहीं किसी बुद्ध में, किसी क्राइस्ट में, किसी कृष्ण में तुम्हें सुख का दीया जलता हुआ दिखायी पड़ता है, तब तो तुम्हारे लिए प्रमाण होता है। कोई जा रहा है या नहीं जा रहा है, यह सवाल नहीं है, तुम जा सकते हो। अगर तुमने यह तय किया है कि जब सारी दुनिया सुखी हो जाएगी तब मैं ध्यान करूंगा, तो ध्यान कभी होगा ही नहीं।
और तुम यह कहते हो कि "क्या ऐसी स्थिति में ध्यान आदि करना निपट स्वार्थ नहीं है?"
स्वार्थ शब्द का अर्थ समझते हो? शब्द बड़ा प्यारा है, लेकिन गलत हाथों में पड़ गया है। स्वार्थ का अर्थ होता है--आत्मार्थ। अपना सुख, स्व का अर्थ। तो मैं तो स्वार्थ शब्द में कोई बुराई नहीं देखता। मैं तो बिल्कुल पक्ष में हूं। मैं तो कहता हूं, धर्म का अर्थ ही स्वार्थ है। क्योंकि धर्म का अर्थ स्वभाव है।
और एक बात ख्याल रखना कि जिसने स्वार्थ साध लिया, उससे परार्थ सधता है। जिससे स्वार्थ ही न सधा, उससे परार्थ कैसे सधेगा! जो अपना न हुआ, वह किसी और का कैसे होगा! जो अपने को सुख न दे सका, वह किसको सुख दे सकेगा! इसके पहले कि तुम दूसरों को प्रेम करो, मैं तुम्हें कहता हूं, अपने को प्रेम करो। इसके पहले कि तुम दूसरों के जीवन में सुख की कोई हवा ला सको, कम से कम अपने जीवन में तो हवा ले आओ। इसके पहले कि दूसरे के अंधेरे जीवन में प्रकाश की किरण उतार सको, कम से कम अपने अंधेरे में तो प्रकाश को निमंत्रित करो। इसको स्वार्थ कहते हो! चलो स्वार्थ ही सही, शब्द से क्या फर्क पड़ता है! लेकिन यह स्वार्थ बिल्कुल जरूरी है। यह दुनिया ज्यादा सुखी हो जाए, अगर लोग ठीक अर्थों में स्वार्थी हो जाएं।
और जिस आदमी ने अपना सुख नहीं जाना, वह जब दूसरे को सुख देने की कोशिश में लग जाता है तो बड़े खतरे होते हैं। उसे पहले तो पता नहीं कि सुख क्या है? वह जबर्दस्ती दूसरे पर सुख थोपने लगता है, जिस सुख का उसे भी अनुभव नहीं हुआ। तो करेगा क्या? वही करेगा जो उसके जीवन में हुआ है।
समझो कि तुम्हारे मां-बाप ने तुम्हें एक तरह की शिक्षा दी--तुम मुसलमान-घर में पैदा हुए, कि हिंदू-घर में पैदा हुए, कि जैन-घर में, तुम्हारे मां-बाप ने जल्दी से तुम्हें जैन, हिंदू या मुसलमान बना दिया। उन्होंने यह सोचा ही नहीं कि उनके जैन होने से, हिंदू होने से उन्हें सुख मिला है? नहीं, वे एकदम तुम्हें सुख देने में लग गए। तुम्हें हिंदू बना दिया, मुसलमान बना दिया। तुम्हारे मां-बाप ने तुम्हें धन की दौड़ में लगा दिया। उन्होंने यह सोचा भी नहीं एक भी बार कि हम धन की दौड़ में जीवनभर दौड़े, हमें धन मिला है? धन से सुख मिला है? उन्होंने जो किया था, वही तुम्हें सिखा दिया। उनकी भी मजबूरी है, और कुछ सिखाएंगे भी क्या? जो हम सीखे होते हैं उसी की शिक्षा दे सकते हैं। उन्होंने अपनी सारी बीमारियां

तुम्हें सौंप दीं। तुम्हारी धरोहर बस इतनी ही है। उनके मां-बाप उन्हें सौंप गए थे बीमारियां, वे तुम्हें सौंप गए, तुम अपने बच्चों को सौंप जाओगे।
कुछ स्वार्थ कर लो, कुछ सुख पा लो, ताकि उतना तुम अपने बच्चों को दे सको, उतना तुम अपने पड़ोसियों को दे सको। यहां हर आदमी दूसरे को सुखी करने में लगा है, और यहां कोई सुखी है नहीं। जो स्वाद तुम्हें नहीं मिला, उस स्वाद को तुम दूसरे को कैसे दे सकोगे? असंभव है।
मैं तो बिल्कुल स्वार्थ के पक्ष में हूं। मैं तो कहता हूं, मजहब मतलब
की बात है। इससे बड़ा कोई मतलब नहीं है। धर्म यानी स्वार्थ। लेकिन बड़ी अपूर्व घटना घटती है, स्वार्थ की ही बुनियाद पर परार्थ का मंदिर खड़ा होता है।
तुम जब धीरे-धीरे अपने जीवन में शांति, सुख, आनंद की झलकें पाने लगते हो, तो अनायास ही तुम्हारा जीवन दूसरों के लिए उपदेश हो जाता है। तुम्हारे जीवन से दूसरों को इंगित और इशारे मिलने लगते हैं। तुम अपने बच्चों को वही सिखाओगे जिससे तुमने शांति जानी। तुम फिर प्रतिस्पर्धा न सिखाओगे, प्रतियोगिता न सिखाओगे, संघर्ष-वैमनस्य न सिखाओगे। तुम उनके मन में जहर न डालोगे।
इस दुनिया में अगर लोग थोड़े स्वार्थी हो जाएं तो बड़ा परार्थ हो जाए।
अब तुम कहते हो कि "क्या ऐसी स्थिति में ध्यान आदि करना निपट स्वार्थ नहीं है?"
निपट स्वार्थ है। लेकिन स्वार्थ में कहीं भी कुछ बुरा नहीं है। अभी
तक तुमने जिसको स्वार्थ समझा है, उसमें स्वार्थ भी नहीं है। तुम कहते हो, धन कमाएंगे, इसमें स्वार्थ है; पद पा लेंगे, इसमें स्वार्थ है; बड़ा भवन बनाएंगे, इसमें स्वार्थ है। मैं तुमसे कहता हूं, इसमें स्वार्थ कुछ भी नहीं है। मकान बन जाएगा, पद भी मिल जाएगा, धन भी कमा लिया जाएगा--अगर पागल हुए तो सब हो जाएगा जो तुम करना चाहते हो--मगर स्वार्थ हल नहीं होगा। क्योंकि सुख न मिलेगा। और स्वयं का मिलन भी नहीं होगा। और न जीवन में कोई अर्थवत्ता आएगी। तुम्हारा जीवन व्यर्थ ही रहेगा, कोरा, जिसमें कभी कोई वर्षा नहीं हुई। जहां कभी कोई अंकुर नहीं फूटे, कभी कोई हरियाली नहीं और कभी कोई फूल नहीं आए। तुम्हारी वीणा ऐसी ही पड़ी रह जाएगी, जिसमें कभी किसी ने तार नहीं छेड़े। कहां का अर्थ और कहां का स्व!
तुमने जिसको स्वार्थ समझा है, उसमें स्वार्थ नहीं है, सिर्फ मूढ़ता है। और जिसको तुम स्वार्थ कहकर कहते हो कि कैसे मैं करूं? मैं तुमसे कहता हूं, उसमें स्वार्थ है और परम समझदारी का कदम भी है। तुम यह स्वार्थ करो। इस बात को तुम जीवन के गणित का बहुत आधारभूत नियम मान लो कि अगर तुम चाहते हो दुनिया भली हो, तो अपने से शुरू कर दो--तुम भले हो जाओ।
फिर तुम कहते हो, "परमात्मा मुझे यदि मिले भी, तो उससे अपनी शांति मांगने के बजाय मैं उन लोगों के लिए दंड ही मांगना पसंद करूंगा जिनके कारण संसार में शोषण है, दुख है और अन्याय है।"
क्या तुम सोचते हो तुम उन लोगों में सम्मिलित नहीं हो? क्या तुम सोचते
हो वे लोग कोई और लोग हैं? तुम उन लोगों से भी तो पूछो कभी! वे भी यही कहते हुए पाए जाएंगे कि दूसरों के कारण। कौन है दूसरा यहां? किसकी बात कर रहे हो? किसको दंड दिलवाओगे? तुमने शोषण नहीं किया है? तुमने दूसरे को नहीं सताया है? तुम दूसरे की छाती पर नहीं बैठ गए हो, मालिक नहीं बन गए हो? तुमने दूसरों को नहीं दबाया है? तुमने वही सब किया है, मात्रा में भले भेद हों। हो सकता है तुम्हारे शोषण की प्रक्रिया बहुत छोटे दायरे में चलती हो, लेकिन चलती है। तुम जी न सकोगे। तुम अपने से नीचे के आदमी को उसी तरह सता रहे हो जिस तरह तुम्हारे ऊपर का आदमी तुम्हें सता रहा है। यह सारा जाल जीवन का शोषण का जाल है, इसमें तुम एकदम बाहर नहीं हो, दंड किसके लिए मांगोगे?
और जरा ख्याल करना, दंड भी तो दुख ही देगा दूसरों को! तो तुम दूसरों को दुखी ही देखना चाहते हो! परमात्मा भी मिल जाएगा तो भी तुम मांगोगे दंड ही! दूसरों को दुख देने का उपाय ही! तुम अपनी शांति तक छोड़ने को तैयार हो!

मैंने सुना है, एक पुरानी अरबी कथा है। दो मित्र थे, एक अंधा और एक लंगड़ा। साथ रहते और साथ ही भीख मांगते। साथ रहना जरूरी भी था, क्योंकि अंधा देख नहीं सकता था, लंगड़ा चल नहीं सकता था। तो अंधा लंगड़े को अपने कंधे पर बिठाकर चलता था। भीख अलग-अलग मांगी भी नहीं जा सकती थी, संग-साथ में ही सार भी था, साझेदारी भी।
फिर जैसे सभी साझेदारों में झगड़े हो जाते हैं, कभी-कभी उनमें भी झगड़े
हो जाते थे। कभी लंगड़ा ज्यादा पैसे पर कब्जा कर लेता, कभी अंधा ज्यादा पैसे पर कब्जा कर लेता। कभी अंधा चलने से इनकार कर देता, कभी लंगड़ा कहता, अभी आराम करना है, अभी मेरी आंख काम में न आएगी। स्वाभाविक। जैसे सभी साझेदारियों में झगड़े होते हैं, उनमें भी झगड़े हो जाते थे।
एक दिन तो बात ऐसी बढ़ गयी कि दोनों ने एक-दूसरे को डटकर पीटा। यह भी ठीक है, सभी धंधे में होता है। भगवान को बड़ी दया आयी--पुरानी कहानी है, उन दिनों भगवान आदमी को ज्यादा समझता नहीं था। अब तो दया भी नहीं आती, क्योंकि आदमी ऐसा मूढ़ है कि इस पर दया करने से भी कोई सार नहीं। ऐसी ही घटनाएं बार-बार घटीं और भगवान भी धीरे-धीरे आदमी की मूढ़ता को समझ गया। अब इतनी जल्दी दया नहीं करता। भगवान को बड़ी दया आयी, भगवान ने सोचा कि अंधे को अगर आंखें और लंगड़े को अगर पांव दे दिए जाएं तो कोई एक-दूसरे का आश्रित न रहेगा, एक-दूसरे से मुक्त हो जाएंगे और इनके जीवन में शांति होगी। भगवान प्रगट हुआ और उसने उन दोनों से कहा कि तुम वरदान मांग लो, तुम्हें जो चाहिए हो मांग लो। क्योंकि स्वभावतः, भगवान ने सोचा कि अंधा आंख मांगेगा, लंगड़ा पैर मांगेगा। मगर नहीं, आदमी की बात पूछो ही मत!
उन्होंने लंगड़े को दर्शन दिया, पूछा कि तू मांग ले, तुझे क्या मांगना है? लंगड़े ने कहा--भगवान, उस अंधे को भी लंगड़ा बना दो। चौंके होंगे! फिर अंधे के सामने प्रगट हुए। अंधे ने कहा--प्रभु, उस लंगड़े को अंधा बना दो। दोनों एक-दूसरे को दंड देने में उत्सुक थे। इससे दुनिया बेहतर नहीं
हो गयी। अंधा लंगड़ा भी हो गया, और लंगड़ा अंधा भी हो गया, हालत और खराब हो गयी। शायद इसीलिए अब भगवान इतनी जल्दी दया नहीं करता और ऐसे आ-आकर प्रगट नहीं हो जाता, और कहता नहीं कि वरदान मांग लो। बहुत बार करके देख लिया, आदमी की मूढ़ता बड़ी गहरी मालूम पड़ती है।
तुम कहते हो--बीसवीं सदी में--कि "अगर परमात्मा मेरे सामने प्रगट भी
हो जाए तो मैं अपनी शांति मांगने के बजाय उनके लिए दंड मांगूंगा, जिनके कारण दुनिया में दुख है।"
पहली तो बात, तुम्हारे कारण दुख है। फिर तुम सोचते भला होओ कि दूसरों
के कारण दुख है। उनके लिए दंड मांगने से क्या हल होगा? हो सकता है तुम्हें बड़ी नाराजगी है, तुम्हारे दफ्तर में जो तुम्हारा मालिक है वह बड़ा दबा रहा है, और तुम्हें दबना पड़ रहा है। लेकिन तुम्हारे घर में तुम्हारी पत्नी बैठी है, उसे तुम दबा रहे हो, और उसे बड़ा दबना पड़ रहा है। तुम उसे समझाते हो कि पति तो परमात्मा है। सदियों से तुमने समझाया है। और वह जानती है तुम्हें भलीभांति कि अगर तुम परमात्मा हो तो परमात्मा भी दो कौड़ी का है। तुम्हारे साथ परमात्मा तक की बेइज्जती हो रही है, तुम्हारी इज्जत नहीं बढ़ रही। तुम्हारे साथ परमात्मा के जुड़ने से परमात्मा तक की नौका डूबी जा रही है। उसे तुम सता रहे हो सब तरह से, उसका तुमने सब तरह से शोषण किया है। अगर पत्नी से पूछेगा परमात्मा तो वह तुम्हारे लिए दंड की व्यवस्था करेगी। पत्नी कुछ नहीं कर सकती, अपने बच्चों को सता रही है। उसके पास और कुछ उपाय नहीं है। वह किन्हीं भी बहानों से बच्चों को सताने में लगी है। अच्छे-अच्छे बहाने खोजती है। बच्चों के भले के लिए ही उनको मारती है। बच्चे भी जानते हैं कि इससे भले का कोई लेना-देना नहीं है। आज पिताजी और माताजी में बनी नहीं है, इसलिए बच्चे सावधान रहते हैं कि आज झंझट है! या तो इधर से पिटेंगे, या उधर से पिटेंगे। अगर बच्चों से परमात्मा पूछे, तो? तो शायद वह अपनी मां को दंड दिलवाना चाहेगा। कौन बच्चा नहीं दिलवाना चाहता अपनी मां को दंड! दुष्ट मालूम होती है।
अगर एक-एक से पूछने जाओगे तो तुम पाओगे, हम सब जुड़े हैं। किसके लिए दंड दिलवाओगे? और दंड दिलवाने से क्या लाभ होगा? सभी को दंड मिल जाएगा--अंधे

लंगड़े हो जाएंगे, लंगड़े अंधे हो जाएंगे--दुनिया और बदतर हो जाएगी। शायद इसी डर से भगवान तुम्हारे सामने प्रगट भी नहीं होता कि ऐसे ही हालत खराब है, अब और खराब करवानी है!
तुम अपनी शांति न मांगोगे? किसी को यहां अपने सुख में रस नहीं मालूम होता, दूसरे को दुख देने में रस मालूम होता है।
फिर भी तुम कहते हो, "दुनिया में दुख क्यों है?"
शायद तुमको लगेगा अपनी शांति मांगने में तो स्वार्थ हो जाएगा! तो मैं तुमसे कहता हूं, भले आदमी, स्वार्थ हो जाने दो! अपनी शांति मांगो! कुछ हर्जा नहीं है इस स्वार्थ में। तुम अपनी मांग लो, दूसरों के सामने प्रगट होगा वे अपनी शांति मांग लेंगे--यह दुनिया शांत हो सकती है।
और ध्यान का क्या अर्थ होता है? ध्यान का अर्थ होता है--परमात्मा तो तुम्हारे सामने प्रगट नहीं हो रहा, आप ही कृपा करके परमात्मा के सामने प्रगट हो जाओ। ध्यान का इतना अर्थ होता है। परमात्मा तो प्रगट नहीं हो रहा है, साफ है। शायद तुमसे डरता है, भय खाता है, बचता है। तुम जहां जाते हो वहां से निकल भागता है, तुमसे पीछा छुड़ा रहा है। लेकिन तुम इतने शांत होकर परमात्मा के सामने प्रगट हो सकते हो। परमात्मा के सामने स्वयं को प्रगट कर देना ध्यान है। और अनायास वरदान की वर्षा हो जाती है। तुम्हारा सारा जीवनकोण बदल जाता है, देखने का ढंग बदल जाता है।
मैंने सुना है, एक झेन साधक देर से आश्रम लौटा। गुरु ने उससे देरी का कारण पूछा। तो शिष्य ने क्षमा मांगी और कहा कि माफ करें, गुरुदेव, रास्ते में पोलो का खेल हो रहा था, वह मैं देखने में लग गया। गुरु ने पूछा कि क्या खिला.ड़ी थक गए थे? शिष्य ने कहा, जी हां, खेल के अंत तक तो बहुत थक गए थे। गुरु ने पूछा, क्या घोड़े भी थक गए थे? शिष्य थोड़ा हैरान हुआ कि यह बात क्या पूछते हैं! मगर फिर उसने कहा, हां, घोड़े भी थक गए थे। फिर गुरु ने पूछा, क्या लकड़ी के खंभे भी थक गए थे? तब तो शिष्य ने समझा, यह क्या पागलपन की बात है! शिष्य उत्तर न दे सका, उस रात वह सो भी न सका। क्योंकि यह तो मानना असंभव था कि गुरु पागल है। इस बात की ही संभावना थी कि मुझसे ही कोई भूल-चूक हो रही है। प्रश्न पूछा है तो कुछ अर्थ होगा ही।
रात सोया नहीं, जागता रहा, सोचता रहा, सोचता रहा। सुबह सूरज की किरण फूटते ही उसके भीतर भी उत्तर फूटा; जैसे अचानक एक बात अंतस्तल से उठी और साफ हो गयी। वह दौड़ा हुआ गुरु के पास पहुंचा और उसने गुरु से कहा, कृपा कर अपना प्रश्न दोहराइए, कहीं ऐसा न हो कि मैंने ठीक से सुना न हो। तो गुरु ने पूछा कि क्या खंभे भी थक गए थे? उस शिष्य ने कहा, हां, खंभे भी थक गए थे। गुरु बहुत प्रसन्न हुए, उन्होंने उसे गले लगा लिया और कहा कि देख, अगर खंभों को थकावट न आती होती, तो थकावट फिर किसी को भी नहीं आ सकती थी; तेरा ध्यान आज पूरा हुआ। तूने आदमियों को थकावट आयी, इसमें हां भर दी; घोड़ों को थकावट आयी, इसमें तू थोड़ा झिझका, उसी सरलता से न कहा जितना तूने आदमियों के लिए कहा था। और जब मैंने खंभों की बात पूछी तब तो तू बिल्कुल अटक गया। उससे जाहिर हो गया कि तेरा ध्यान अभी पूरा नहीं हुआ है। जब ध्यान पूरा होता है तो करुणा समग्र हो जाती है। आदमी ही नहीं थकते हैं, घोड़े भी थकते हैं, खंभे भी थकते हैं। सारा अस्तित्व प्राणवान है, इसलिए सारा अस्तित्व थकता है। और सारे अस्तित्व को दया की जरूरत है।
मगर यह तो ध्यान की परिणति है। यह उस स्वार्थ की परिणति है जिससे तुम बचना चाह रहे हो। यह उस परम स्वार्थ की अवस्था है जहां खंभे भी, जो आमतौर से मुर्दा दिखायी पड़ते हैं, वे भी जीवंत हो उठते हैं। जहां पत्थर और चट्टानें भी थकती हैं। जहां सारा अस्तित्व प्राणवान अनुभव होता है। जहां सारे अस्तित्व के साथ तुम एक तरह का तादात्म्य अनुभव करते हो, एकता अनुभव करते हो।
मैं कल भवानी प्रसाद मिश्र की एक कविता पढ़ रहा था। यह कहानी तो मैंने तुमसे बहुत बार कही है, इसे उन्होंने कविता में बांधा है। कहानी प्यारी है, इसे समझना--
अर्धोन्मीलित नयन बुद्ध बैठे थे पद्मासन में
शिष्य पूर्ण ने कहा, जिस तरह प्राण व्याप्त त्रिभुवन में

अथवा वायु निरभ्र गगन में जैसे मुक्त विचरता
मैं त्रिलोक में वैसा ही कुछ हे प्रभु, घूमा करता
शैल-शिखर, नदियों की धारा, पारावार तरु में
वचन आपके जहां कहीं, जा पहुंचूं वहीं मरूं मैं
विकल मानवों के मन जागें शांतिप्रभा में ऐसे,
सूर्योदय के साथ जाग जाते हैं शतदल जैसे।
पूर्ण ने कहा कि आपके वचनों की सुगंध फैलाता हुआ मरूं, बस यही एक आकांक्षा है। जैसे सूर्य के ऊगने पर हजार-हजार कमल खिल जाते हैं, ऐसे आपकी ज्योति को पहुंचाऊं और लोगों के हृदय-कमल खिलें।
अर्धोन्मीलित नयन बुद्ध बैठे थे पद्मासन में
शिष्य पूर्ण ने कहा, जिस तरह प्राण व्याप्त त्रिभुवन में
अथवा वायु निरभ्र गगन में जैसे मुक्त विचरता
मैं त्रिलोक में वैसा ही कुछ हे प्रभु, घूमा करता
शैल-शिखर, नदियों की धारा, पारावार तरु में
वचन आपके जहां कहीं, जा पहुंचूं वहीं मरूं मैं
विकल मानवों के मन जागें शांतिप्रभा में ऐसे,
सूर्योदय के साथ जाग जाते हैं शतदल जैसे।
वत्स, किंतु यदि लोग न समझें, करें तुम्हें अपमानित?
कहा पूर्ण ने, प्रभु उनको मैं नहीं गिनूंगा अनुचित
धन्यवाद ही दूंगा, फेंकी धूल न पत्थर मारे
केवल कुछ अपशब्द, विरोधी बातें सुनीं, उचारे
बुद्ध ने पूछा कि अगर लोग अपमान करेंगे पूर्ण, तो फिर तुझे क्या होगा? लोग न समझेंगे, तो फिर तुझे क्या होगा? तू तो समझाने जाएगा, लोग समझते कहां हैं! लोग समझना चाहते नहीं, लोग तो जो समझाने आता है उस पर नाराज हो जाते हैं! लोग अगर तेरा अपमान करेंगे, तो तुझे क्या होगा?
वत्स, किंतु यदि लोग न समझें, करें तुम्हें अपमानित?
कहा पूर्ण ने, प्रभु उनको मैं नहीं गिनूंगा अनुचित
धन्यवाद ही दूंगा, फेंकी धूल न पत्थर मारे
केवल कुछ अपशब्द, विरोधी बातें सुनीं, उचारे
बड़े भले लोग हैं, ऐसा धन्यवाद मानूंगा। कुछ थोड़े से अपशब्द कहे, पत्थर
भी मार सकते थे, धूल भी उछाल सकते थे। थोड़े से अपशब्द कहे, अपशब्दों से क्या बनता-बिगड़ता है! न कोई चोट लगती, न कोई घाव होता। बड़े भले लोग हैं, ऐसा ही मानूंगा।
किंतु अगर वे हाथ उठाएं, फेंकें तुम पर ढेले?
धन्यवाद दूंगा, मानूंगा छेड़छाड़ कि खेले!
असि न कोश से खींची उनने, किया नहीं वध मेरा
बुद्ध ने कहा, यह भी हो सकता है कि वे ढेले भी मारें, तुम्हारी पिटाई
भी करें, पत्थरों से तुम्हारा सिर तोड़ दें, फिर पूर्ण, फिर क्या होगा? किंतु अगर वे हाथ उठाएं, फेंकें तुम पर ढेले?
धन्यवाद दूंगा, मानूंगा छेड़छाड़ कि खेले!
असि न कोश से खींची उनने, किया नहीं वध मेरा
पूर्ण ने कहा, खुश होऊंगा, भले लोग हैं, तरकस से तीर न निकाला, प्राण ही
न ले लिए मेरे, सिर्फ पत्थर मारा; खेल-खेल में समझूंगा, क्रीड़ा की; मारा ही, मार नहीं डाला, इतना ही क्या कम है?
और वत्स, यदि वध कर डाला उन लोगों ने तेरा?
प्रभु ऐसी यदि मृत्यु मिले तो भाग्य उसे मानूंगा
धर्म-पंथ पर प्राण गए, निर्वाण उसे जानूंगा
प्रभु ने अर्धोन्मीलित लोचन खोल पूर्ण को देखा
अधरों पर प्रस्फुटित हो उठी सहज स्नेहमय रेखा
रखा शीश पर हाथ पूर्ण के, कहा वत्स तुम जाओ निर्भय होकर विकल मनों में शांतिप्रभा प्रकटाओ

जब पूर्ण ने कहा कि सिर्फ मारते हैं, मार ही नहीं डालते; तो बुद्ध ने पूछा, और अगर वे मार ही डालें? फिर तुझे क्या होगा पूर्ण? तो उसने कहा, धर्म के पथ पर अगर मर जाऊं तो इससे शुभ और मृत्यु क्या होगी?
प्रभु ऐसी यदि मृत्यु मिले तो भाग्य उसे मानूंगा
धर्म-पंथ पर प्राण गए, निर्वाण उसे जानूंगा
प्रभु ने अर्धोन्मीलित लोचन खोल पूर्ण को देखा
अधरों पर प्रस्फुटित हो उठी सहज स्नेहमय रेखा
रखा शीश पर हाथ पूर्ण के, कहा वत्स तुम जाओ
निर्भय होकर विकल मनों में शांतिप्रभा प्रकटाओ
इतनी शांति भीतर हो कि मौत भी पीड़ा न दे, इतना ध्यान भीतर हो कि अपमान अपमानित न करे, पत्थर बरसाए जाएं तो क्रीड़ा समझ में आए, कोई प्राण भी ले ले तो भी धन्यवाद में बाधा न पड़े, धन्यवाद में भेद न पड़े, तो ही कोई व्यक्ति इस जगत में सुख देने में समर्थ हो पाता है। इसलिए बुद्ध ने कहा, अब तुम जा सकते हो। तुम जाओ बांटो, अब तुम्हारे पास है। जिसके पास है, वही बांट सकता है।
ध्यान का क्या अर्थ होता है? ध्यान का अर्थ होता है, जो संपदा तुम लेकर
आए हो इस जगत में, जो तुम्हारे अंतरतम में छिपी है, उसे उघाड़कर देख लेना, पर्दे को हटाना। अपनी निजता को अनुभव कर लेना। वह जो भीतर निनाद बज रहा है सदा से सुख का, उसकी प्रतीति कर लेना। फिर तुम बाहर सुख न खोजोगे। फिर बाहर के सब सुख, दुख जैसे मालूम होंगे। भीतर का सुख इतना पूर्ण है, ऐसा परात्पर, ऐसा शाश्वत, उसकी एक झलक मिल गयी तो सारे जगत के सब सुख, दुख जैसे हो जाते हैं, उसकी एक झलक मिल गयी तो बाहर का जीवन मृत्यु जैसा हो जाता है, उसकी तुलना में फिर सब फीका हो जाता है। फिर इसमें दौड़-धाप नहीं रह जाती, संघर्ष नहीं रह जाता, युद्ध नहीं रह जाता, कलह नहीं रह जाती।
ऐसे ही ध्यान को उपलब्ध व्यक्ति इस जगत में सुख की थोड़ी सी गंगा को उतार ला सकते हैं। ऐसे ही भगीरथ गंगा को पुकार सकते हैं सुख की। तुमसे यह न हो सकेगा। तुम ध्यान करने को ही राजी नहीं। ध्यान का तुम्हें अर्थ भी पता नहीं, क्योंकि अर्थ पता भी कैसे होगा जब तक करोगे नहीं! तुम उस द्वार को खोलने से इनकार कर रहे हो जिस द्वार को खोलने से प्रभु मिलेगा। और तुम कहते हो, जब तक दुनिया में दुख है, मैं यह द्वार पर दस्तक न दूंगा, क्योंकि यह तो बड़ा स्वार्थ हो जाएगा, लोग दुखी हैं। लोग भी इसीलिए दुखी हैं कि वे भी यही कह रहे हैं कि तब तक दस्तक न देंगे इस द्वार पर जब तक और लोग दुखी हैं।
यह तो बड़ा दुष्ट-चक्र है। कम से कम तुम तो दस्तक दो! तुम तो भीतर झांककर देखो! और तुम्हें सुख मिल जाए तो फिर दौड़ पड़ना बाहर, जैसे पूर्ण जा रहा था लोगों में शांति की प्रभा जगाने, तुम भी चले जाना। फिर तुम से जो बने, करना। फिर तुम जो भी करोगे, शुभ होगा।
ध्यान का अर्थ है--होशपूर्वक जीना। बिना ध्यान के जो आदमी जीता है, बेहोशी से जीता है।
आखिरी बात। आमतौर से तुमने यही सुना है, यही सोचा है, यही तुमसे कहा भी गया है सदियों से कि दुनिया में दुख है, क्योंकि दुनिया में बुरे लोग हैं। बुरे लोग दुख दे रहे हैं। दुनिया में पापी हैं, पापियों के कारण दुख हो रहा है। तुम कुछ नए नहीं हो जो तुम कहते हो, अगर भगवान हमें मिल जाएं तो इन दुष्टों को जो दुनिया में दुख फैला रहे हैं, इनको दंड दिलवा देंगे। तुम नए नहीं हो, तुम्हारे ऋषि-मुनि सदा से यही करते रहे हैं। इसलिए तो नर्क बनाया, भगवान से प्रार्थना करवा-करवाकर नर्क बनवाया कि पापियों को नर्क में डाल दो।
लेकिन तुमने देखा, नर्क की ही तरह तुमने जमीन पर कारागृह बना रखे हैं। जिनको तुम गलत समझते हो, उनको कारागृह में डाल देते हो। कारागृह से किसी को तुमने कभी सुधरकर लौटते देखा? कारागृह से कभी कोई सुधरकर आया है? हां, तुम्हारी दंड देने की आकांक्षा पूरी हो जाती है, तुम्हारी दुष्टता पूरी हो जाती है। उस आदमी ने एक गलती की थी, तुमने और एक गलती कर ली।

उस आदमी ने समझो कि किसी की हत्या की थी और समाज ने उससे बदला ले लिया। समाज की तरफ से प्रतिनिधि बैठा है अदालत में मजिस्ट्रेट, उसने उसे फांसी दिलवा दी। लेकिन फांसी देने से क्या फर्क हुआ? जहां एक आदमी मरा था, वहां दो आदमी मरे। एक भूल दूसरी भूल से तो कटती नहीं, घटती नहीं, दुगुनी हो जाती है। जहां थोड़ी सी कालिख थी वहां और दुगुनी कालिख हो गयी।
एक आदमी ने कुछ भूल-चूक की थी, तुमने सजा दे दी, पांच साल जेल में डाल दिया। तुमने कभी देखा कि जेल से लौटकर कभी भी कोई सुधरा है! जेल से लौटकर और बिगड़कर आ जाता है। क्योंकि जेल में और पुराने दादाओं से मिलन हो जाता है। दादागुरु वहां बैठे हैं, पुराने निष्णात, वह सब बता देते हैं कि तू पकड़ा कैसे गया, तेरे से यह भूल हो गयी, अब दुबारा ऐसी भूल मत करना। जिस वजह से दंड दिया है उसको थोड़े ही भूल समझते हैं वहां कारागृह में बैठे लोग, पकड़े जाने को भूल समझते हैं।
मेरे एक शिक्षक थे, बहुत प्यारे आदमी थे, उनकी बात मैं कभी नहीं भूलता। मुसलमान थे। वह सदा सुपरिटेंडेंट होते थे स्कूल में परीक्षाओं के, सब से बुजुर्ग शिक्षक थे। पहली दफे ही जब वह सुपरिटेंडेंट थे और मैंने परीक्षा दी, तो उनकी बात मुझे जंची। वह आए अंदर और उन्होंने कहा कि तुम चोरी करो, नकल करो, कुछ भी करो, इससे मुझे फिकर नहीं है, पकड़े भर मत जाना। पकड़े गए तो सजा पाओगे। पकड़े गए तो मुझसे बुरा कोई भी नहीं। अब तुम खुद ही सोच लो। मुझे चोरी से कोई एतराज ही नहीं है। चोरी से क्या एतराज, जब तक नहीं पकड़े गए तब तक तुम मजे से करो। अगर तुम्हें पकड़े जाने का डर हो तो जो- जो विद्यार्थी कुछ नोट ले आए हों, कुछ कर लिए हों, कृपा करके दे दें। बहुत से विद्यार्थियों ने दे दिए निकालकर! यह बात तो सीधी-साफ थी, यह गणित बिल्कुल साफ-सुथरा था।
इस दुनिया में दंड चोरी का थोड़े ही मिलता है, पकड़े जाने का मिलता है।
तो जब तुम किसी चोर को जेल में डाल देते हो, उसको जो कष्ट होता है वह इस बात का होता है कि मैं पकड़ा गया, अब दुबारा पकड़ा न जाऊं, बस। तो वहां और दादागुरु हैं, वे सिखाने बैठे हैं। तुमने और विद्यालय में भेज दिया उनको-- जेलखाना विद्यालय है। तुम्हारे जेलखाने से कोई सुधरकर नहीं निकला।
अब तो मनोवैज्ञानिक कहने लगे हैं कि जेलखाने की पूरी व्यवस्था बदल दो। इसको जेलखाना कहो ही मत, इसको दंडालय समझो ही मत, इसको सुधारालय या ज्यादा से ज्यादा अस्पताल कहो। यहां चिकित्सा करो लोगों की, दंड मत दो। मगर तुम्हारे संतों को अभी भी अकल नहीं आयी है, अभी भी नर्क में दंड दिया जा रहा है। बात तो वही की वही है, गणित वही का वही है। नर्क से किसी पापी के ठीक होकर लौटने की तुमने खबर सुनी? किसी पुराण में लिखा है? मैंने तो बहुत खोजा, मुझे नहीं मिला कि कोई पापी नर्क गया हो और वहां से सुधरकर लौटा हो। कोई कहानी ही नहीं है। जो गया नर्क सो नर्क में ही पड़ा है, और बिगड़ता जा रहा है। दंड से कोई सुधरता नहीं, दंड से तो सिर्फ तुम भी दुष्ट होने का मजा ले लेते हो।
फिर यह जो मौलिक गणित है इसके भीतर, वह अब तक यह रहा कि जो आदमी बुरे हैं, उनके कारण दुनिया में दुख है। मैं तुमसे कहना चाहता हूं, बुरों के कारण दुनिया में दुख नहीं है, बेहोश लोगों के कारण दुख है। और बेहोश होने के कारण ही वे बुरे भी हैं। बुराई में जड़ नहीं है, बेहोशी में जड़ है। और ध्यान यानी होश।
अब तक दुनिया को हमने ऐसी कोशिश की है कि बुरा आदमी भला हो जाए--दंड से हो, प्रलोभन से हो, मार-पीट से हो, फुसलाने से हो, रिश्वत से हो। तो नर्क का भय दिखलाते हैं, स्वर्ग की रिश्वत दिखलाते हैं। आदर मिलेगा, सम्मान मिलेगा, समाज में प्रतिष्ठा मिलेगी; राष्ट्रपति पद्मभूषण, पद्मश्री की उपाधियां देंगे। अच्छा करो! बुरा किया तो दंड मिलेगा, जेलखाने में पड़ोगे, प्रतिष्ठा खो जाएगी, नाम न रहेगा, नर्क में पड़ोगे। तो दंड और लोभ, भय और प्रलोभन, इनके आधार पर हम आदमी को बुराई से उठाने की कोशिश करते रहे हैं। यह कोशिश सफल नहीं हुई। दुनिया बुरी से बुरी होती चली गयी है। इस कोशिश की बुनियादी बात में कहीं भूल है, जड़ में भूल है।

मेरा विश्लेषण कुछ और है। मेरा मानना ऐसा नहीं है कि दुनिया में बुरे आदमियों के कारण दुख है। मेरा मानना ऐसा है कि दुनिया में बेहोश आदमियों के कारण दुख है। बेहोश आदमी ही दुख दे सकता है। क्यों? क्योंकि जिसे होश आ जाए, उसे तो यह भी होश आ जाता है कि दो दुख और मिलेगा दुख। कौन अपने को दुख देना चाहता है? सिर्फ बेहोश आदमी दुख दे सकता है, क्योंकि उसे यह पता नहीं कि दुख का उत्तर फिर और बड़ा दुख होकर आता है।
जैसे छोटे बच्चे, रास्ते से गुजरते हों, कुर्सी का धक्का लग गया तो गुस्से में आ जाते हैं, कुर्सी को एक थापड़ जमा देते हैं। थापड़ से कुर्सी को चोट लगती कि नहीं, उसका तो कुछ पता नहीं, उनके हाथ को चोट लगती है। मगर वे बड़े प्रसन्न हो जाते हैं कि दंड दे दिया।
तुम जब भी किसी को दुख दे रहे हो, तुम बचकानी बात कर रहे हो। इसका उत्तर आएगा।
मैंने सुना है, एक छोटी सी बड़ी प्यारी कहानी। सम्राट अकबर की एक बेगम
थी जोधाबाई। अकबर, जोधाबाई और बीरबल एक सुबह नदी-तट पर घूमने को गए हैं। जोधाबाई आगे थी, बीरबल बीच में था, अकबर सब के पीछे था। अकबर को शरारत सूझी, उसने बीरबल की कमर में चिकोटी काट ली। बीरबल को गुस्सा तो बहुत आया, लेकिन चुप रहा। सोचने लगा, क्या करूं? कुछ कदम आगे चलकर बीरबल ने जोधाबाई की कमर में चिकोटी काट ली। जोधाबाई ने क्रोध में एक तमाचा बीरबल के मुंह पर जड़ दिया, बीरबल ने उसी प्रकार एक जोरदार तमाचा पीछे आ रहे अकबर के मुंह पर जड़ दिया। अकबर आग-बबूला होकर बोला, बीरबल, यह क्या हिमाकत है? गुस्ताखी माफ जिल्ले-इलाही, बीरबल ने कहा, आपने जो चिट्ठी भेजी थी उसका जवाब आया है। जवाब आते हैं। यहां कोई भेजी गयी चिट्ठी बिना जवाब के नहीं रहती। यह सारा अस्तित्व प्रत्युत्तर देता है, प्रतिध्वनित करता है। तुम जो करते हो, वह लौटता है। और कई गुना होकर लौटता है--चिकोटी काटी थी और जोरदार तमाचे की तरह लौटता है। चाहे तुम सोच भी न पाओ कि मेरी चिकोटी से इसका कोई संबंध है, लेकिन संबंध है। यही तो कर्म का पूरा सिद्धांत है। दुख दो और दुख पाओगे। फिर दुख पाओगे तो और दुख देने को उत्सुक हो जाओगे। और दुख दोगे और दुख पाओगे। फिर तो इसका जाल कहीं टूटेगा नहीं। संसार में दुख घना होता जाता है इसीलिए।
बुरे आदमी के कारण दुख नहीं है, बेहोश आदमी के कारण दुख है। नीति समझाती है कि बुरा आदमी भला हो जाए, धर्म समझाता है, बेहोश आदमी होश में आ जाए--नीति और धर्म का यही भेद है। नैतिक आदमी जरूरी नहीं है धार्मिक हो, लेकिन धार्मिक आदमी जरूरी रूप से नैतिक होता है। नैतिक आदमी हो सकता है न ईश्वर को माने, न ध्यान को माने। आखिर रूस में भी नैतिक आदमी हैं, चीन में भी नैतिक आदमी हैं, नास्तिक भी नैतिक हो सकता है। नैतिक होने के लिए धार्मिक होने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन धार्मिक आदमी अनैतिक नहीं हो सकता। धर्म की पकड़ और गहरी है। धर्म के साथ नीति अपने आप आती है, नीति के साथ धर्म अपने आप नहीं आता।
फिर नीति में तो एक तरह का दमन होता है। तुम अच्छे होने की कोशिश करते
हो, किसी तरह रोक-थामकर अपने को अच्छा भी बना लेते हो, लेकिन भीतर-भीतर तो बुराई की आग जलती रहती है। भीतर तो वही रोग उफनते रहते हैं, भीतर तो वही मवाद इकट्ठी होती रहती है। चोरी तुम भी करना चाहते हो लेकिन कर नहीं पाते। बेईमानी तुम भी करना चाहते हो लेकिन घबड़ाते हो। दुनिया में सौ ईमानदारों में निन्यानबे इसीलिए ईमानदार होते हैं कि बेईमानी करने के कारण पकड़े जाने का भय है। ईमानदार नहीं हैं, सिर्फ पकड़े जाने का भय है। अगर कोई आश्वस्त कर दे कि कोई भय नहीं है, तुम करो, तो वे करने को तत्पर हो जाएंगे। इसीलिए ऐसा हो जाता है कि जब कोई आदमी सत्ता में नहीं होता तब तक ईमानदार होता है, क्योंकि तब तक पकड़े जाने का डर होता है। जैसे ही सत्ता में पहुंचता है, धीरे-धीरे पकड़े जाने का डर समाप्त हो जाता है--कौन पकड़ेगा आकर? तुम प्रधानमंत्री हो गए, कि राष्ट्रपति हो गए, अब तुम्हें कौन पकड़ेगा? अब तो तुम कानून की छाती पर बैठ गए, अब तो हर चीज तुम्हारे नीचे हो गयी--तो धीरे-धीरे जैसे-जैसे उसको समझ में आने लगता है कि अब तो सब चीज

मेरे हाथ में है, वैसे-वैसे सारे रोग जो भीतर दबे थे बाहर आने लगते हैं। हर सत्ताधिकारी बेईमान हो जाता है, धोखेबाज हो जाता है।
इसलिए तुम हैरान होते हो कि आखिर यह क्यूं होता है? कि अच्छे लोगों को
हम भेजते हैं सत्ता में--अच्छे के कारण ही भेजते हैं, चुनाव में वोट देते हैं कि आदमी अच्छा है, भला है, फिर यह हो क्या जाता है? पद पर पहुंचते ही आदमी धीरे-धीरे बदल क्यों जाता है? कब बदल जाता है? कैसे बदल जाता है? इसकी बदलाहट का राज इतना ही है कि वह अच्छा था नैतिक आधार पर, अच्छा था क्योंकि बुरे होने में नुकसान था, अच्छा था क्योंकि बुरे होने में भय था, अच्छा था क्योंकि अच्छे में ही लाभ था। अब सत्ता में पहुंच गया, अब उसे दिखायी पड़ता है--अब अगर बुरा हो जाऊं तो खूब लाभ है। अब अच्छे होने में ज्यादा लाभ नहीं है, अब अच्छे होने में तो हानि है। अगर सत्ता में पहुंचकर अच्छा बना रहा, तो न धन इकट्ठा कर पाऊंगा, न शक्ति इकट्ठी कर पाऊंगा, न दुश्मनों से बदला ले पाऊंगा, न आगे तक के लिए अपना इंतजाम कर पाऊंगा, न मेरे बच्चे भी आगे जाकर सत्ता में बैठे रहें इसकी व्यवस्था जुटा पाऊंगा, तो अब तो अच्छे रहने में कोई लाभ नहीं है। वह अच्छा था लाभ के कारण। अब बुरे होने में लाभ है। और लाभ उसका मूल आधार था। तो जब लाभ अब बुरे होने में है तो बुरा हो जाना ही सहज, तर्कयुक्त बात है। इसलिए दुनिया में सभी सत्ताधिकारी बुरे हो जाते हैं।
और आदमी सदा से यही सोचता रहा कि मामला क्या हो जाता है! हम भेजते हैं समाज-सेवकों को, आखिर में सब बात बदल जाती है! जो समाज-सेवा करते थे, गरीबों की सेवा करते थे, ऐसा करते थे, वैसा करते थे, सत्ता में पहुंचते ही सब भूल जाते हैं, शोषण शुरू कर देते हैं। जिनके खिलाफ लड़कर पहुंचे थे, वही करना शुरू कर देते हैं। सत्ता सभी को एक सा कर डालती है।
क्यों? क्योंकि अधिकतर आदमी धार्मिक नहीं हैं, नैतिक हैं। नैतिक आदमी
का कोई भरोसा नहीं।
मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन एक लिफ्ट में सवार था। एक महिला भी साथ सवार थी--एक सुंदर महिला। नसरुद्दीन ने उससे कहा कि अगर आज रात मेरे पास रुक जाओ, तो पांच हजार रुपये दूंगा। वह महिला तो एकदम नाराज हो गयी। उसने कहा, मैं अभी पुलिस को बुलाती हूं। तुमने इस तरह की बात कही कैसे? नसरुद्दीन ने कहा, तो कोई बात नहीं, दस हजार ले लेना। दस हजार सुनकर महिला ढीली पड़ गयी, उतना तमतमायापन न रहा। और नसरुद्दीन ने कहा, कुछ फिकर न कर, पैसे की कोई कमी नहीं, पंद्रह हजार दूंगा। उस महिला ने जल्दी से नसरुद्दीन का हाथ अपने हाथ में ले लिया। नसरुद्दीन ने कहा, और अगर पंद्रह रुपये दूं तो चलेगा? तो वह महिला तो बहुत आग-बबूला हो गयी, उसने कहा, तुमने समझा क्या है मुझे? नसरुद्दीन ने कहा, वह तो मैं समझ गया; तू भी समझ गयी, मैं भी समझ गया कि तू कौन है, अब तो मोल-भाव करना है! पंद्रह हजार में राजी है, तू कौन है यह तो हम समझ गए, अब तो मोल-भाव की बात है। पंद्रह हजार में राजी है तो कौन है, इसमें अब कोई बाधा न रही।
तुम भी ख्याल करना, तुम्हारी नैतिकता, तुम्हारी भलाई की एक सीमा होती है। तुम चोरी शायद न करो, पांच रुपये पड़े हैं, शायद तुम निकल जाओ साधु बने। पंद्रह पड़े हैं, शायद निकल जाओ। पंद्रह हजार पड़े हैं, फिर ठिठकने लगोगे। पंद्रह लाख पड़े हैं, फिर तुम छोड़ोगे? तुम कहोगे, अभी साधुता छोड़ो! अब यह साधुता सस्ती पड़ रही है, जो पड़ा है वह ज्यादा काम का है। यह साधुता फिर सम्हाल लेंगे, एक दफा पंद्रह लाख हाथ में आ जाएं तो साधुता तो कभी भी सम्हाल लेंगे। मंदिर बनवा देंगे, दान करवा देंगे, साधु तो फिर हो जाएंगे, साधु होने में क्या रखा है? इस मौके को तुम न छोड़ सकोगे।
नैतिक आदमी की सीमा होती है, धार्मिक आदमी की कोई सीमा नहीं होती। नैतिक आदमी कारण से नैतिक होता है, धार्मिक आदमी सिर्फ होश के कारण नैतिक होता है। और ध्यान के बिना होश नहीं।
तो जिन्होंने प्रश्न पूछा है, वह होंगे, थोड़े नैतिक चिंतक होंगे, थोड़ा नीति का विचार करते होंगे, मगर धर्म का उन्हें कोई हिसाब अभी ख्याल में नहीं है। और नैतिक होने से कोई नैतिक नहीं होता, धार्मिक होने से ही

वस्तुतः नैतिक होता है। नीति तो धोखा है, नीति तो झूठा सिक्का है। धर्म के नाम पर चलता है, लेकिन असली नहीं है।
मैं चाहता हूं, तुम जागो, होश से भरो। होश से भरते ही आदमी बुरा नहीं
रह जाता। क्योंकि होश से भरा आदमी बुरा हो ही नहीं सकता। यह तो ऐसे ही है जैसे रोशनी जल गयी और अंधेरा समाप्त हो गया, अब तुम दरवाजे से निकलोगे, दीवाल से थोड़े ही निकलोगे। अंधेरे में कभी-कभी दीवाल से निकलने की कोशिश की थी जरूर, टकरा भी गए थे, गिरे भी थे, फर्नीचर से भी उलझ गए थे, चोट भी खा गए थे, दूसरे को भी चोट पहुंचा दी थी। लेकिन अब रोशनी जल गयी है, अब तो न टकराओगे, न फर्नीचर पर गिरोगे, न सामान टूटेगा, न बरतन गिरेंगे, न दर्पण फूटेगा, न दीवाल में सिर टकराएगा, अब तो तुम सीधे निकल जाओगे, अब तो रोशनी है।
बेहोशी जानी चाहिए। आदमी साधारणतः बेहोश है। हम एक नशे में चल रहे हैं। इस छोटी सी घटना को सुनो--
योजना विभाग के दो बाबू अफीम के बहुत शौकीन थे। इसलिए कार्यालय में
भी अक्सर पिनक में रहते थे। एक दिन ऊपर से आदेश आया कि आदिवासी क्षेत्र में एक कुएं का निर्माण किया जाए। इनके जिम्मे कुएं के स्थल-निरीक्षण का भार सौंपा गया। दोनों स्थल-निरीक्षण के लिए चल पड़े। रास्ते में उन्हें एक कुआं मिला। वे काफी चल चुके थे, इसलिए थकावट दूर करने के लिए थोड़ी देर वहां रुके, पानी पीया और अफीम चढ़ायी। जब अफीम काफी चढ़ गयी, तब एक बाबू ने दूसरे से कहा, क्यों यार, यदि हम लोग इस कुएं को आदिवासी क्षेत्र में ले चलें, तो नया कुआं खुदवाने का पैसा उड़ा सकते हैं। दोनों अफीम में थे, दोनों को बात जंच गयी कि बात बिल्कुल सीधी-सीधी है। नया कुआं बनाने की जरूरत क्या है? यहां कोई दिखायी भी नहीं पड़ता, कुआं एकांत में पड़ा है, इसी को ही ले चलें। दूसरा खुश होकर बोला, यार, तुम्हारे दिमाग का कोई जवाब नहीं। चलो कोशिश करें। इतने में हवा का झोंका आया, अफीम और चढ़ गयी, दोनों वहीं लुढ़क गए। दोनों कुएं को धक्का दे रहे थे जब लुढ़ककर गिर गए, धक्का देते ही। कोशिश में लगे थे कि ले चलें धकाकर।
काफी देर बाद उनको बेहोश देखकर देहाती इकट्ठे हो गए। एक बाबू को कुछ होश आया तो उसने देहातियों को देखकर अपने दोस्त को कहा, बस करो यार, आदिवासी क्षेत्र आ गया है, ज्यादा और जोर लगाओगे तो अपन लोग आगे बढ़ जाएंगे। वह समझे कि आ गया गांव, ले आए हम कुएं को धकाकर यहां तक। और अब अगर ज्यादा जोर लगाया तो आगे भी निकल जा सकते हैं। रुक जाओ।
ऐसी एक पिनक है, जिसमें हम डूबे हैं। विचार की तंद्रा है, मन की बेहोशी है; सब भीतर अंधेरा-अंधेरा है, रोशनी जलती नहीं, धुआं-धुआं है; इसमें हम सब कुछ किए जा रहे हैं। जो हम करते हैं--हम शुभ भी करें ऐसी दशा में तो अशुभ ही होगा। सोए आदमी से शुभ होता ही नहीं। सोए आदमी से पुण्य होता ही नहीं। और जागे आदमी से पाप नहीं होता है।
इसलिए मैं पापी को पुण्यात्मा नहीं बनाना चाहता, मैं सिर्फ सोए को जागा बनाना चाहता हूं। जिस दिन तुम्हारे भीतर ध्यान होता है--ध्यान का अर्थ है, निर्विचार चैतन्य, कोई विचार का धुआं नहीं, मात्र होश--उस होश की आभा में तुम्हें सब साफ दिखायी पड़ने लगता है, कहां चलो, क्या करो? अब तक क्या किया और क्या-क्या परिणाम हुए, सारा अतीत स्पष्ट हो जाता है। इतना ही नहीं, सारा भविष्य स्पष्ट हो जाता है। सारी बात ऐसे साफ हो जाती है जैसे दिन में सूरज निकलता है और सब रास्ते दिखायी पड़ने लगते हैं। और रात के अंधेरे में सब खो जाते हैं।

ध्यान के लिए कोई बहाने खोजकर बचने की कोशिश मत करना। ध्यान इस जगत में एकमात्र करने योग्य बात है। शेष न किया, चलेगा। ध्यान न किया तो चूके, तो जीवन से चूके। फिर भी तुम्हारी मर्जी!

दूसरा प्रश्नः प्रत्येक कामना अपना प्रतिपक्ष लिए क्यों आती है? उसका विभाजित रहना क्या अनिवार्य है? और क्या कोई अखंड और अविभाजित कामना संभव नहीं है? यह कामना क्या है?

पहले तो कामना क्या है? कामना का अर्थ है--जो हूं, जैसा हूं, वैसा ठीक नहीं हूं; जहां हूं, वहां संतुष्ट नहीं हूं; कहीं और होऊं, कुछ और होऊं, किसी और ढंग से होऊं। कामना का अर्थ है--यह जगह मेरी जगह नहीं, कोई और जगह मेरी जगह है; यह जो मेरा जीवन है, यह मेरा जीवन नहीं, कोई अन्य जीवन मेरा जीवन है। कामना का अर्थ है--जो है, उससे अतृप्ति; और जो नहीं है, उसकी आकांक्षा।
कामना का मौलिक स्वर असंतोष है। और जिसको कामना से मुक्त होना हो, उसे संतोष के पाठ सीखने पड़ते हैं। जो जैसा है, उससे राजी है; जहां है, उससे राजी है। जिसका राजीपन पूरा है; जो कहता है कि ठीक, जितना मिलता, उतना भी क्या कम है; जो मिलता, उतना भी क्या कम है; मिलता है, यही क्या कम है; ऐसे जिसके जीवन में भीतर एक संतोष का संगीत बजता है, उसकी कामना विसर्जित हो जाती है। कामना असंतोष का शोरगुल है।
तो जो मकान है तुम्हारे पास, उससे मन राजी नहीं। बड़ा मकान चाहिए। जिसके पास बड़ा है, उसका बड़े से राजी नहीं, उसे और बड़ा चाहिए। और इतना बड़ा मकान कभी हुआ ही नहीं जिससे कोई राजी हुआ हो। जो सुंदर है, वह अपने सौंदर्य से राजी नहीं। जो स्वस्थ है, वह अपने स्वास्थ्य से राजी नहीं। किसी बात से हम राजी नहीं हैं। नाराज रहना हमारा स्वभाव हो गया है। हर चीज हमें काटती है। और हमें लगता है, इससे बेहतर हो सकती है। इससे बेहतर हो सकती है, बस, इसी से कामना पैदा होती है। कल्पना से कामना पैदा होती है।
पशु-पक्षी प्रसन्न हैं, क्योंकि कल्पना नहीं है। वृक्ष आनंदित हैं--
ये सरू के वृक्ष हवा में डोलते हुए आनंदित हैं, इन्हें कुछ प्रयोजन नहीं है, ये जो हैं, बस पर्याप्त हैं। इन्हें किसी और वृक्षों जैसी पत्तियां नहीं चाहिए, पास में ही खड़े अशोक के वृक्षों से इनकी कोई स्पर्धा नहीं है, इनके मन में यह कभी विचार नहीं आया कि अशोक जैसे पत्ते हमारे क्यों नहीं हैं। गेंदे का फूल गुलाब से किसी तरह की स्पर्धा में नहीं है। चट्टान जो पड़ी है, उसे वृक्ष से कुछ लेना-देना नहीं है कि मैं वृक्ष जैसी क्यों नहीं हूं--कल्पना नहीं है। कल्पना नहीं है तो कामना नहीं है। जो है, जैसा है, उससे परम तृप्ति है। इसलिए प्रकृति में तुम्हें इतना स्वर्ग मालूम पड़ता है।
इसलिए कभी-कभी भागकर तुम जब हिमालय चले जाते हो, बैठते हो कभी चांद को देखते हो रात, या सागर की तरंगों को देखते हो, सूरज को ऊगते देखते हो, घने जंगलों की हरियाली को देखते हो, तब तुम्हें एक तरह की तृप्ति मिलती है। वह तृप्ति--प्रकृति की तृप्ति की थोड़ी सी छाया तुममें बन रही है।
यहां सब शांत है, यहां कोई कहीं नहीं जा रहा है, प्रकृति अपनी जगह ठहरी है, गति नहीं है, दौड़-धूप नहीं है, प्रतियोगिता नहीं है, सब अपने होने से राजी हैं। घास का छोटा सा पौधा भी अपने होने से परम प्रसन्न है, आकाश-छूते देवदार के वृक्षों से भी उसकी कोई ईर्ष्या नहीं है, वह यह भी नहीं कहता कि तुम बड़े, मैं छोटा। छोटा-बड़ा प्रकृति में कोई होता नहीं।
आदमी की तकलीफ है कि आदमी कल्पना कर सकता है। आदमी की जो तकलीफ है उसे ठीक से समझ लोगे तो आदमी इन वृक्षों और फूलों से भी ज्यादा आनंदित हो सकता है, क्योंकि वृक्षों और पत्थरों और पहाड़ों का सुख तो अचेतन है, आदमी का सुख चेतन हो सकता है। मगर दशा यही चाहिए। आदमी रहते हुए जिस दिन तुम वृक्ष जैसे संतुष्ट हो जाओगे, उस दिन तुम पाओगे स्वर्ग उतर आया।
ध्यान रखना, कोई स्वर्ग में नहीं जाता, स्वर्ग तुममें उतर आता है। संतोष के पीछे चला आता है।
तो पहली तो बात, कामना क्या है? कामना का अर्थ है--यह ठीक नहीं, वह ठीक है। यह और वह के बीच की जो दूरी है, वह कामना है। और वह दूरी कभी मिटती नहीं, वह ऐसी दूरी है जैसे क्षितिज और तुम्हारे बीच होती है। दिखता दूर, ज्यादा दूर नहीं, होगा पंद्रह मील, बीस मील; आकाश जमीन से मिलता हुआ दिखायी पड़ता है। तुम सोचते हो, दौडूंगा तो अभी घंटेभर में पहुंच जाऊंगा। दौड़ते रहो, जन्मों-जन्मों दौड़ते रहो--जन्मों-जन्मों दौड़ते ही रहे हो--कहीं भी आकाश पृथ्वी को छूता नहीं है, सिर्फ छूता मालूम पड़ता है, दिखायी पड़ता है।

क्योंकि पृथ्वी गोल है, इसलिए दिखायी पड़ता है कि छू रहा है। बीस मील चलने के बाद पाओगे कि आकाश भी बीस मील पीछे हट गया। तुम सारी पृथ्वी का चक्कर लगा आओगे और पाओगे आकाश को कभी तुमने कहीं पृथ्वी को छूते नहीं देखा। छूता ही नहीं है।
ऐसी ही कामना है। यह और वह की दूरी बनी ही रहती है, उतनी की उतनी ही बनी रहती है। तुम्हारे पास दस हजार रुपये हैं, मन कहता है, अगर एक लाख हो जाएं तो बस, फिर नहीं चाहिए कुछ। तुम्हारा मन कहता है, बार-बार कहता है कि बस एक लाख हो जाएं! एक लाख होते ही तुम पाओगे कि वही मन कहने लगा कि अब दस लाख जब तक न होंगे तब तक शांति नहीं। क्यों? दस हजार थे तो एक लाख--दस गुने में शांति थी। अब एक लाख हैं तो दस लाख--दस गुने में फिर शांति है। फासला उतना का उतना है।
गरीब और अमीर दोनों के बीच कामना बराबर होती है। भिखारी और सम्राट के बीच कामना बराबर एक सी होती है, कोई फर्क नहीं होता। क्या तुम सोचते हो भिखारी खड़ा हो और सम्राट खड़ा हो, तो यह जो आकाश छूता हुआ दिखायी पड़ता है, दोनों के लिए अलग-अलग दूरी पर दिखायी पड़ेगा? सम्राट को भी बीस मील आगे दिखायी पड़ता है, भिखारी को भी बीस मील आगे दिखायी पड़ता है। यह भ्रांति समान है। जो जहां है, सदा उससे आगे कहीं तृप्ति का स्रोत मालूम होता है। कहीं आगे है मरूद्यान; यहां मरुस्थल, वहां है मरूद्यान।
जिसने जाना कि यहीं है मरूद्यान और इसी क्षण में आंख बंद करके डुबकी मार ली, जिसने कामना छोड़ी, कल्पना छोड़ी, स्वर्ग उतर आता है। तुम कामना छोड़ो, इधर स्वर्ग आया। और कामना छोड़ने का मतलब यह नहीं है कि तुम स्वर्ग की कामना के लिए कामना छोड़ो। नहीं तो कामना छोड़ी ही नहीं। फिर भूल हो जाएगी। ऐसी भूल रोज होती है।
धार्मिक आदमी यही भूल करता है। वह कहता है, चलो ठीक, आप कहते हैं कामना छोड़ने से सुख मिलेगा, तो हम कामना छोड़े देते हैं, सुख मिलेगा न? पक्का है? मगर यह तो कामना का ही नया रूप हुआ। कामना छोड़ने से सुख मिलता है, परिणाम की तरह नहीं, छाया की तरह। तुमने कामना छोड़ी, तो उसी छोड़ने में सुख तो था ही, कामना के कारण दिखायी नहीं पड़ता था; कामना गयी कि सुख प्रगट हो जाता है। जैसे पर्दा पड़ा था। इस पर्दे के हटने से सुख पैदा होने का कोई संबंध नहीं है, यह उसका परिणाम नहीं है, सुख तो पड़ा ही था, तुमने कामना का पर्दा डाल रखा था। लेकिन अगर तुमने सोचा कि चलो, कामना छोड़ने से सुख मिलेगा हम कामना छोड़ देंगे, तो तुम कामना को तो सजा रहे हो भीतर अभी भी, अभी भी तुम सुख पाना चाहते हो, इसीलिए कामना छोड़ने को भी राजी हो।
यह धार्मिक जीवन की सबसे बड़ी उलझन है। लोग कहते हैं, संसार छोड़ने से स्वर्ग मिल जाएगा तो संसार छोड़ देते हैं--मगर स्वर्ग पाने की आशा में! और पाने की आशा का नाम संसार। कुछ मिले, इस वासना का नाम संसार।
"प्रत्येक कामना का अपना प्रतिपक्ष क्यों है?"
होगा ही, क्योंकि कामना विभाजन करती है। यह और वह, यहां और वहां में विभाजन करती है। संसार और स्वर्ग। विभाजन से ही कामना जीती है, अगर विभाजन न हो तो कामना ही मर जाए। अगर दो न हों तो कामना कैसे करोगे? दो तो अनिवार्य हैं। जो मैं हूं, वह; और जो मैं हो सकता हूं, वह; यह दो की तो धारणा अनिवार्य है। तो दोनों के बीच कामना का सेतु बनेगा, कामना का तार खिंचेगा, कामना की रस्सी फैलेगी। अगर एक ही है, तो फिर कैसी कामना!
इसीलिए तो ज्ञानियों ने कहा, एक को ही देखो, तो कामना मर जाएगी। एक ही है, ब्रह्म ही है, या सत्य ही है। तो फिर कामना नहीं बचेगी। जो है, है; इससे अन्यथा न हुआ है, न हो सकता है, फिर कैसे कामना करोगे? फिर कामना का कोई उपाय न रह जाएगा।
मैंने सुना है, एक सूफी फकीर हसन रोज प्रार्थना करता था, और रोज छाती पीटता था और परमात्मा से कहता था, हे प्रभु, द्वार खोलो, कब से पुकार रहा हूं। वह एक बार एक दूसरे सूफी फकीर स्त्री राबिया के घर ठहरा हुआ था-- राबिया बड़ी अनूठी औरत हुई। जैसे मीरा, जैसे सहजो, जैसे थेरेसा, ऐसी राबिया। जैसे बुद्ध, कृष्ण और महावीर पुरुषों में, ऐसी राबिया। राबिया सुनती थी, दो-तीन दिन से हसन उसके यहां ठहरा था, रोज प्रार्थना करता, रोज

छाती पीटता और कहता, हे प्रभु, द्वार खोलो! कब से पुकार रहा हूं, कब मेरी अर्ज सुनोगे?
तीसरे दिन राबिया से न सुना गया, वह पास ही बैठी थी, उसने जाकर उसे हिलाया, हसन को, उसने कहा, सुनो जी, दरवाजा खुला पड़ा है! यह क्या पुकार मचा रखी है रोज-रोज कि दरवाजा खोलो! दरवाजा खोलो! दरवाजा खुला है, दरवाजा कभी बंद नहीं था! हसन तो घबड़ा गया। राबिया के प्रति उसके मन में आदर तो बहुत था ही, कहती है तो ठीक ही कहती होगी। तो हसन ने पूछा, फिर, फिर मुझे खुला क्यूं नहीं दिखायी पड़ता? तो राबिया ने कहा, इसलिए दिखायी नहीं पड़ता कि तुम बहुत ज्यादा आतुर हो, बड़े कामी हो--खुल जाए दरवाजा! हे प्रभु खोलो! दरवाजा खोलो, मुझे स्वर्ग में बुला लो, मुझे आनंद के जगत में बुला लो! यह तुम्हारी कामना पर्दा बन रही है। परमात्मा का दरवाजा खुला हुआ है, तुम्हारी कामना पर्दा बन रही है। तुम्हारी आंख बंद है, परमात्मा का दरवाजा बंद नहीं है।
इसीलिए तो बुद्ध ने यहां तक कहा है कि परमात्मा की भी बात छोड़ दो, क्योंकि उससे भी दो पैदा हो जाते हैं--मैं और परमात्मा। इसलिए बुद्ध ने कहा, मोक्ष की भी बात छोड़ दो, उससे भी दो पैदा हो जाते हैं--मैं और मोक्ष। बुद्ध ने तो कहा, जो है, है, उसको दो नाम मत दो। दो दिए कि अड़चन शुरू हुई, कि तनाव शुरू हुआ। फिर तुम कैसे रुकोगे। जो दूसरा है उसको पाने की तलाश शुरू हो जाएगी, प्यास शुरू हो जाएगी।
अस्तित्व एक है। कामना दो में बांट देती है।
तुम पूछते हो, "उसका विभाजित रहना क्या अनिवार्य है?"
बिल्कुल अनिवार्य है। क्योंकि विभाजन न होगा तो कामना बच ही नहीं सकती। जैसे दो होने चाहिए लड़ने के लिए, दो होने चाहिए प्रेम करने के लिए, दो चाहिए द्वंद्व के लिए, ऐसे ही दो चाहिए कामना के लिए। और दो की तो बात छोड़ो, हमने तो अनेक कर लिए। इसलिए हमारे कामना के घोड़े सभी दिशाओं में दौड़े जा रहे हैं।
"और क्या कोई अखंड और अविभाजित कामना संभव नहीं है?"
नहीं, अखंड और अविभाजित कामना संभव नहीं है। क्योंकि जहां तुम अखंड
और अविभाजित हुए, वहां कामना न रह जाएगी। जहां कामना आयी, वहां तुम खंडित हो गए और विभाजित हो गए।
सुना है मैंने, दक्षिण भारत के एक अपूर्व साधु हुए--सदाशिव स्वामी। कुछ दिन पहले मैंने तुमसे उनकी कहानी कही थी, कि अपने गुरु के आश्रम में एक पंडित को आया देख उससे विवाद में उलझ गए थे, उसके सारे तर्क तोड़ डाले थे, उसे बुरी तरह खंडित कर दिया था, पंडित को तहस-नहस कर डाला था। पंडित बहुत ख्यातिनाम था। तो सदाशिव सोचते थे कि गुरु पीठ थपकाएगा और कहेगा कि ठीक किया, इसको रास्ते पर लगाया। लेकिन जब पंडित चला गया तो गुरु ने सिर्फ इतना ही कहा, सदाशिव! अपनी वाणी पर कब संयम करोगे? क्यों व्यर्थ, क्यों व्यर्थ बोलना? इससे क्या मिला? यह सब बकवास थी! कब चुप होओगे? और सदाशिव ने गुरु की तरफ देखा, चरण छुए और कहा कि आप कहते हैं, कब! अभी हुआ जाता हूं। और वह चुप हो गए। फिर जीवनभर मौन रहे।
यह उन्हीं की घटना है! उन्होंने जीवनभर मौन रहने की साधना स्वीकार कर
ली थी, मौन थे और नग्न। नग्न रहते और चुप, बड़ी झंझटें आती थीं। एक तो मौन, बोलते नहीं, और नग्न घूमते! समाधि उनकी निरंतर लगी रहती थी। मस्त ही रहते थे अपनी मस्ती में।
एक दिन भूल से एक मुसलमान सरदार के शिविर में चले गए। मस्ती में जा रहे थे नाचते, शिविर बीच में पड़ गया होगा तो पड़ गया, कोई शिविर के लिए गए नहीं थे। स्त्रियों ने डरकर चीख लगा दी। कोई नंगा मस्ती में नाचता हुआ चला आ रहा है, वे समझे कोई पागल है। नग्न साधु को घुसा देखकर सरदार भी क्रोध में आ गया। और उसने तलवार उठा ली और हमला कर दिया। सदाशिव का एक हाथ कटकर नीचे गिर गया। लेकिन सदाशिव के आनंद में कोई बाधा न पड़ी। हाथ कटकर गिर गया, लहू बहने लगा, लेकिन नाच जारी रहा। जैसे नाचते आए थे वैसे ही नाचते चलने, वापस लौटने लगे।
सरदार हैरान हुआ, दुखी भी हुआ--यह मस्ती, ऐसी मस्ती कभी देखी न थी। और हाथ कट जाए और पता न चले, ऐसी मस्ती! किसी और लोक में था यह आदमी। आंखों में

देखा तो जैसे इस लोक में था ही नहीं, कहीं और। इसकी चेतना जैसे देह में थी ही नहीं। दुखी हुआ, पैरों पर गिर पड़ा, क्षमा मांगने लगा। सदाशिव हंसने लगे। सरदार ने कहा, उपदेश दें। वह तो मौन थे, उपदेश दे नहीं सकते थे, तो उन्होंने रेत पर अंगुली से एक छोटा सा वचन लिख दिया। जो वचन लिखा, वह था--जो चाहते हो वह मत करो, तब तुम जो चाहोगे कर सकोगे। जो चाहते हो वह मत करो, तब तुम जो चाहोगे कर सकोगे। बड़ी अनूठी बात लिख दी। जो-जो कामना कर रहे हो, वह मत करो, तब तुम जो-जो कामना करते हो वह मिल जाएगा। यह बड़ी अजीब बात हो गयी! मगर ऐसा ही है। जब तक तुम मांगोगे, नहीं मिलेगा। जिस दिन तुम छोड़ दोगे, उसी दिन मिल जाएगा। तुम भागोगे और सुख छलता रहेगा। तुम रुक जाओ और सुख तुम्हारे चरणों में लोटने लगेगा।
मैंने सुना है, एक युवक धन के पीछे पागल था। सब उपाय कर देखे, कुछ रास्ता न मिला। एक फकीर के पास पहुंच गया। फकीर से उसने कहा कि मैं बड़े उपाय करता हूं, धन पाना है, लेकिन धन मिलता नहीं, क्या करूं? और जब फकीर के पास वह गया था तब गांव का सबसे धनी आदमी फकीर के पैर दाब रहा था। तो उसने कहा, यह मामला क्या है? मैं धन के पीछे दीवाना हूं, धन मुझे मिलता नहीं। तुम सब छोड़-छाड़कर यहां बैठे हो, यह धनी आदमी तुम्हारे पैर क्यों दाब रहा है? तो उस फकीर ने कहा, ऐसा ही होता है। तुम धन की फिकर न करो तो धन तुम्हारे पैर दाबेगा। तो उसने कहा, यह किसी ने मुझे अब तक बताया नहीं; चलो यही करेंगे।
दो-तीन साल बाद आया। और हालत खराब हो गयी थी। बड़ा नाराज हो गया। कहने लगा कि किस तरह की बात बता दी? मैंने धन की फिकर छोड़ दी तो जो पास था वह भी चला गया। आने की तो बात ही रही, मैं बार-बार देखता हूं कि अब आएगा कोई धनी आदमी पैर दाबेगा, अब लक्ष्मी आएगी और पैर दाबेगी, कोई पता नहीं चलता। उस फकीर ने कहा, यह बार-बार देखने के कारण ही लक्ष्मी नहीं आ रही है। और जब छोड़ ही दिया तो बार-बार क्या देखना! तो तूने छोड़ा ही नहीं। लौट-लौटकर देखता है, उसका मतलब ही यह हुआ कि तूने छोड़ा नहीं।
इस जगत का यह मौलिक नियम है, तुम जो चाहोगे, न मिलेगा। तुम्हारी चाह के कारण ही बाधा पड़ जाती है। तुमने चाह छोड़ी कि सब बरसने लगता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि तुम इसी बरसने के लिए चाह छोड़ना। नहीं तो चाह छोड़ी नहीं, फिर तुम लौट-लौटकर देखते रहोगे!
कामना में तो द्वंद्व है। इसलिए कामना में अशांति है। कामना में पीड़ा है, संताप है। कामना तुम्हें खंडों में बांट देती है, टुकड़ों में तोड़ देती है। कामना तुम्हें विक्षिप्त करती है, कामना पागलपन का मूल है। कामना गयी तो पागलपन गया; कामना गयी तो खंड गए, तुम अखंड हुए; तुम अखंड हुए तो ब्रह्म हुए; तुम अखंड हुए तो निर्वाण बरसा; तुम अखंड हुए, तुम एक हुए, फिर कोई दुख नहीं है। दो होने में दुख है, दुई में दुख है; अद्वैत सच्चिदानंद है। बुद्ध का एक शिष्य था--विमलकीर्ति। अनूठे शिष्यों में एक था। उसके पास भी लोग जाते डरते थे। क्योंकि वह हर बात में से कुछ ऐसी बात निकाल देता था, कुछ ऐसा तर्क खड़ा कर देता था--बड़ा तार्किक था, दार्शनिक था--कि एक बार विमलकीर्ति बीमार हुआ, तो बुद्ध ने अपने दो-चार शिष्यों को कहा कि जाकर पूछकर आओ विमलकीर्ति की तबियत कैसी है? कोई जाए न! यह पूछने भी कि तबियत कैसी है, क्योंकि वह उसी में से कुछ निकाल देगा। और उससे लोग डरते थे कि वह विवाद में वहीं उलझा देगा।
आखिर मंजुश्री बुद्ध का दूसरा एक प्रमुख शिष्य जाने को राजी हुआ। मंजुश्री गया। विमलकीर्ति से उसने पूछा, आप बीमार हैं, कैसी तबियत है? भगवान ने स्मरण किया, पुछवाया है। विमलकीर्ति ने कहा, मैं बीमार हूं! बात गलत। जो बीमार है, वह मैं कैसे हो सकता हूं! मैं तो द्रष्टा हूं, देख रहा हूं कि शरीर बीमार है। और तुम पूछते हो कि मैं बीमार हूं। सभी बीमार हैं। जो भी शरीर में है, बीमार है। कम-ज्यादा होंगे, सारा अस्तित्व बीमार है, विमलकीर्ति ने कहा। जीवन बीमार है, कामना का रोग लगा है, और बड़ा रोग क्या चाहिए। इधर कामना खा रही है, उधर मौत पास आ रही है। इधर कामना एक-एक टुकड़ा काटे जा रही है, मरने के पहले मारे डाल रही है, उधर मौत आ रही है; कुछ बचा- खुचा रहेगा तो मौत समाप्त कर देगी।

तो विमलकीर्ति ने कहा, पहली तो बात मैं बीमार नहीं हूं, मैं तो देख रहा हूं। दूसरी बात, मैं ही बीमार नहीं हूं, सारा अस्तित्व बीमार है--अस्तित्व मात्र बीमार है। होना यहां बीमारी है।
विमलकीर्ति ठीक कह रहा है, कामना काटे डालती है। तुम कामना की तलवार
से अपने को कितना काट रहे हो, कितना दुख पा रहे हो। कामना से सुख तो कभी मिलता नहीं, क्योंकि कामना कभी पूरी तो होती नहीं जो सुख मिल जाए, सदा अधूरी रहती है और सदा काटती रहती है, घाव को हरा रखती है, भरने भी नहीं देती, घाव को बार-बार उघाड़ लेती है। एक कामना किसी तरह छूटती है, तो दस पैदा हो जाती हैं। यह कामना का ज्वर बीमारी है।
जीवन बीमार है कामना से, कामना की पूर्णाहुति मृत्यु में होती है। लेकिन तब तुम चूक गए। मरने के पहले अगर तुम कामना को मार डालो, तो तुम अमृत को उपलब्ध हो जाओगे। कामना मृत्यु में ले जाती है, निष्काम चित्त अमृत को उपलब्ध हो जाता है।

आखिरी प्रश्नः जीवन प्रश्न है या पहेली?

प्रश्न तो निश्चित नहीं है। क्योंकि जीवन का कोई उत्तर नहीं है। जिसका उत्तर न हो, वह प्रश्न तो हो नहीं सकता। पहेली जरूर है, लेकिन पहेली भी ऐसी जिसका कोई हल नहीं है। हल हो जाने वाली पहेली नहीं है जीवन। इसलिए ज्ञानियों ने उसे रहस्य कहा है।
रहस्य का अर्थ होता है--ऐसी पहेली जिसका कोई हल होना संभव नहीं है। जिसे तुम जी तो सकते हो, लेकिन जान कभी नहीं सकते। जिसको तुम कभी ज्ञान नहीं बना सकते। अनुभव तो बन जाएगा, लेकिन ज्ञान कभी न बनेगा। जिसको तुम कभी मुट्ठी में नहीं बांध सकोगे।
ऐसा ही समझो कि जैसे तुम सागर में तो उतर सकते हो, लेकिन सागर को मुट्ठी में नहीं ले सकते। सागर बड़ा है, विराट है, तुम्हारी मुट्ठी छोटी है। जीवन बहुत बड़ा है, जीवन को समझने का हमारा जो मस्तिष्क है, बहुत छोटा है। यह मस्तिष्क डुबकी लगा सकता है जीवन के सागर में, रस-विभोर हो सकता है, लेकिन जीवन को कभी हल न कर पाएगा।
यही तो दर्शन और धर्म में फर्क है। जैसा मैंने तुमसे कहा, नीति और धर्म में फर्क है। नीति आदमी को अच्छा बनाती है, धर्म आदमी को जगाता है। ऐसे ही धर्म और दर्शन में फर्क है। दर्शन सोचता है--जीवन का उत्तर क्या है? जीवन के रहस्य को हल कैसे करें? जीवन की पहेली कैसे बूझें? धर्म कहता है-- यह तो बूझा नहीं जा सकता। पहले यह तो सोचो कि बूझने वाला कितना छोटा है, और जिसे बूझना है कितना बड़ा है! चम्मच से सागर को खाली करने चले हो! कि चम्मच चम्मच में रंग लेकर सागर को रंगने चले हो! थोड़ी होश की बातें करो। धर्म कहता है--तुम डुबकी तो लगा सकते हो, जीवन को जी तो सकते हो उसकी परम धन्यता में, लेकिन जान नहीं सकते। यह पहेली है, जिसका कोई उत्तर नहीं।
मैं पढ़ता था, रवींद्रनाथ के जीवन में एक संस्मरण है। रवींद्रनाथ किसी मित्र के घर मेहमान थे। मित्र की छोटी बच्ची ने उनसे सुबह-सुबह आकर कहा, यदि आपको एक कोठरी में बंद करके उस पर ताला जड़ दिया जाए तो आप क्या करेंगे? जैसे छोटे बच्चे पूछते हैं। कोठरी में बंद कर दिया और ताला लगा दिया, फिर आप क्या करोगे? रवींद्रनाथ ने कहा, मैं पड़ोसियों की सहायता के लिए आवाज लगाऊंगा। पर लड़की बोली, छोड़िए, वह बात तो कहिए ही मत, कोठरी ऐसी जगह है जहां कोई पड़ोसी है ही नहीं। मान लीजिए पड़ोस में कोई है ही नहीं, फिर क्या करिएगा? रवींद्रनाथ सोच में पड़ गए, बोले, तब मैं किवाड़ों को तोड़ने की कोशिश करूंगा। लड़की हंसी। उसने कहा, यह नहीं चलेगा, किवाड़ लोहे के बने हैं। रवींद्रनाथ ने सोचा और फिर कहा कि तब तो यह जीवन की पहेली हो गयी, कि मैं जो कुछ भी करूंगा उसको असफल करने की व्यवस्था पहले से ही कर ली गयी है। जीवन ऐसी पहेली है।
मैंने सुना है, अमरीका की एक दुकान पर एक पति-पत्नी खिलौना खरीदते थे अपने बच्चे के लिए। एक खिलौना था टुकड़े-टुकड़े में, जमाने का खेल था, उनके टुकड़े जम जाएं तो खिलौना बन जाए। पहले पत्नी ने उसे जमाने की खूब कोशिश की,

वह जमे नहीं। फिर उसने अपने पति की तरफ देखा, पति गणित का प्रोफेसर था। उसने कहा, लाओ, मैं जमाए देता हूं। उसने भी बहुत कोशिश की, लेकिन जमा नहीं। उसने कहा, यह तो हद्द हो गयी। दुकानदार से पूछा कि भई, मेरी पत्नी पढ़ी-लिखी है, इससे नहीं जमता, मैं गणित का प्रोफेसर हूं, मुझसे नहीं जमता, तो मेरे छोटे बच्चे से कैसे जमेगा?
उस दुकानदार ने कहा, आप ने पहले ही क्यों नहीं पूछा? यह खिलौना बनाया
ही इस तरह गया है कि जमता ही नहीं। इससे बच्चे को शिक्षा मिलती है कि ऐसा ही जीवन है। यह जीवन की तरफ इशारा देने के लिए बनाया गया खिलौना है, इस खिलौने का नाम है--लाइफ। इसका नाम है--जीवन। आपने देखा नहीं, इस पर लिखा हुआ है, डिब्बे पर--जीवन। यह बनाया ही गया है इस तरह से कि यह जमता नहीं। यह तो एक अनुभव के लिए है कि बच्चा समझने लगे कि यहां कुछ चीजें हैं जो कभी हल नहीं होंगी। बुद्धिमानी इसमें है कि जो हल न होता हो उसे हल करने की कोशिश न की जाए।
हजारों साल से आदमी सोचता रहा है, जीवन क्या है? कोई उत्तर नहीं है। झेन फकीर ठीक-ठीक उत्तर देते हैं।
एक झेन फकीर अपनी चाय पी रहा था और एक आगंतुक ने पूछा, जीवन क्या है? उसने कहा, चाय की प्याली। आगंतुक बड़ा विचारक था, उसने कहा, चाय की प्याली! मैंने बड़े उत्तर देखे, बड़ी किताबें पढ़ीं, यह भी कोई बात हुई! मैं इससे राजी नहीं हो सकता। तो उस फकीर ने कहा, तुम्हारी मर्जी! चलो भई, तो जीवन चाय की प्याली नहीं है; और क्या करना है!
लेकिन फकीर ने बात ठीक कही, सारे उत्तर ऐसे ही व्यर्थ हैं। जीवन की प्याली को चाहे चाय की प्याली कहो, चाहे चाय की प्याली न कहो, क्या फर्क पड़ता है! आदमी के सब उत्तर व्यर्थ हैं। आदमी उत्तर खोज नहीं पाया। आदमी उत्तर खोज नहीं पाएगा। क्योंकि बुद्धि छोटी है, अस्तित्व विराट है। अंश पूर्ण को नहीं समझ सकता है, लेकिन पूर्ण को जी सकता है, पूर्ण में डुबकी ले सकता है, पूर्ण के साथ एकरूप हो सकता है, एकात्म हो सकता है।
ध्यान का अर्थ इतना ही होता है कि हम जीवन को सुलझाने की व्यर्थ कोशिश में न पड़ें, हम जीवन को जीने की चेष्टा में संलग्न हो जाएं।
एक पल भी मत खोओ। जो पल गया, गया, सदा के लिए गया, फिर न लौट सकेगा।
प्रत्येक पल को जीवन के उत्सव में संलग्न कर दो। प्रत्येक पल को जीवन की प्रार्थना में लीन कर दो। प्रत्येक पल को जीवन की डुबकी में समाहित कर दो।
डूबो, जीओ, उत्तर मत खोजो। उत्तर नहीं है।
तुम पूछते हो कि "क्या जीवन प्रश्न है या पहेली?"
प्रश्न तो बिल्कुल नहीं, अन्यथा दर्शनशास्त्र से उत्तर मिल गए होते। पहेली भी ऐसी है कि जिसका कोई उत्तर नहीं है। और इस जीवन को अगर जानने की आकांक्षा सच में है, तो जीओ और बांटो। जितना रस ले सको, लो; और जितना रस दे सको, दो। क्योंकि जितना दोगे, उतना ही मिलेगा। कंजूस की तरह इस जीवन की तरफ दृष्टि मत रखना। तिजोड़ी में बंद करने की कोशिश मत करना, बांटो।
मैंने सुना है, एक बार एक सतत प्रवाही नदी और बंद घेरे में आबद्ध तालाब में कुछ बातें हुईं। तालाब ने नदी से कहा, तू व्यर्थ ही अपनी जल-संपत्ति को समुद्र में फेंके जा रही है। इस तरह एक दिन निश्चित ही तू चुक जाएगी, समाप्त हो जाएगी। अपने को सम्हाल, अपने जल को रोक, संगृहीत कर। तालाब की यह सलाह एक व्यावहारिक आदमी की सलाह थी। लेकिन नदी थी वेदांती। उसने कहा, तुम भूल गए हो, तुम भूल कर रहे हो, तुम्हें जीवन का सूत्र ही विस्मरण हो गया है; देने में बड़ा आनंद है, ऐसा आनंद जो कि रोकने में नहीं है। जब कभी मैंने रोका, तो मैं दुखी हुई हूं। और जब मैंने दिया, तब सुख खूब बहा है। जितनी मैं बही हूं, उतना सुख बहा है। और यह मत सोचना कि मैं सागर को दे रही हूं, मैं अपने सुख के कारण दे रही हूं--स्वांतः सुखाय। देना ही मैंने जीवन जाना है। तुम मृत हो, और अगर युगों तक भी बने रहे तो उससे क्या? एक क्षण भी कोई पूरी तरह जी ले तो जान लिया, अनुभव कर लिया; सदियों तक कोई बना रहे, सड़ता रहे, तो उससे क्या? न जीआ, न अनुभव किया।
दोनों की बात तो एक-दूसरे से मेल खायी नहीं, मनमुटाव हो गया, फिर उन्होंने बोल-चाल बंद कर दिया। इस बात को ज्यादा दिन नहीं बीते थे कि नदी

तो पूर्ववत ही बहती रही, तालाब सूखकर तलैया रह गया। फिर आयी धूप, तपता हुआ सूरज, फिर एक कीचड़ की गंदी तलैया मात्र बची। फिर तो वह भी सूखने लगी। जब गर्मी का ताप पूरे शिखर पर आया, तो तालाब समाप्त हो चुका था। नदी अब भी बह रही थी। मरते तालाब से नदी ने कहा, देखो, मैं देती हूं तो मेरे स्रोत मुझे देते हैं। तुम देते नहीं तो तुम्हारे स्रोत तुम्हें नहीं देते। जो देता है, उसे मिलता है। देना जीवन का नियम है। और अगर प्रत्येक न देने पर आबद्ध हो जाए, तो जीवन समाप्त है।
जीवन को पहेली, प्रश्न, ऐसा सोचकर हल करने में मत लग जाना। जीवन जीने में, और जीना देने में है। इसलिए सारे धर्मों ने दान को धर्म का मूल सूत्र कहा है। दान का मतलब सिर्फ इतना ही होता है--बांटो।
जो तुम्हारे पास हो, उसे बांटो, उसे उलीचो। इधर तुम देने लगोगे, उधर तुम पाओगे अज्ञात स्रोतों से तुम्हारे भीतर जल बहने लगा। कुआं देखते न, जितना पानी खींच लेते हो, उतना कुएं में पानी भर जाता है। नया पानी आ जाता है, नए जल के झरने फूट पड़ते हैं। कुएं से पानी मत खींचो, डरकर बैठे रहो, ढांक दो कुएं को, बंद कर दो कि कहीं पानी चुक न जाए, कभी समय पर काम पड़ेगा, तो कुआं सड़ जाएगा। और धीरे-धीरे झरने जब बहेंगे नहीं, तो सूख जाएंगे; उन पर मिट्टी जम जाएगी, पत्थर बैठ जाएंगे, झरने अवरुद्ध हो जाएंगे।
जीवन को जानना है तो जीओ। जीवन में ही जीवन है। जीने में जीवन है। जीवन को संज्ञा मत समझो, जीवन को क्रिया समझो। और दो, बांटो।
इसको प्रश्न मानकर, आंख बंद करके हल करने की कोशिश मत करना। नाचो, गाओ, गुनगुनाओ। सम्मिलित होओ। यह जो विराट उत्सव चल रहा है परमात्मा का, इसमें भागीदार होओ। जितनी तुम्हारी भागीदारी होगी, उतना ही तुम पाओगे, उतना ही तुम समझोगे, उतना ही तुम अनुभव करोगे।
फिर भी मैं तुमसे दोहरा दूं कि यह ज्ञान कभी न बनेगा। ऐसा न होगा कि तुम एक दिन कह सको--मैंने जान लिया। ऐसा कभी नहीं होता। यह इतना बड़ा है कि हम जानते रहते, जानते रहते, जानते रहते, फिर भी चुकता नहीं है। यह अशेष बना रहता है। यह शेष ही रहता है, कभी समाप्त नहीं होता है।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 10
चौरान्वे प्रवचन

धर्म के त्रिरत्न

सुप्पबुद्धं पबुज्झंति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं बुद्धगता सति।। 247।।

सुप्पबुद्धं पबुज्झंति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं धम्मगता सति।। 248।।

सुप्पबुद्धं पबुज्झंति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं संघगता सति।। 249।।

सुप्पबुद्धं पबुज्झंति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं कायगता सति।। 250।।

सुप्पबुद्धं पबुज्झंति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च अहिंसाय रतो मनो।। 251।।

सुप्पबुद्धं पबुज्झंति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च भावनाय रतो मनो।। 252।।

गौतम बुद्ध का सारा उपदेश, सारी देशना एक छोटे से शब्द में संगृहीत की
जा सकती है। वह छोटा सा शब्द है--स्मृति। पाली में उसी का नाम है--सति। और बाद में मध्ययुगीन संतों ने उसी को पुकारा--सुरति।
स्मृति का अर्थ मेमोरी नहीं। स्मृति का अर्थ है--बोध, होश। जागकर कुछ करना। जागे-जागे होना। स्मृतिपूर्वक करना। राह पर चलते हैं आप, तो ऐसे भी चल सकते हैं कि चलने का जरा भी होश न हो--ऐसे ही चलते हैं। चलना यांत्रिक है। शरीर को चलना आ गया है। दफ्तर जाते हैं, घर आते हैं, रास्ता शरीर को याद हो गया है। कब बाएं मुड़ना, बाएं मुड़ जाते हैं; कब दाएं मुड़ना, दाएं मुड़ जाते हैं; अपना घर आ गया तो दरवाजा खटका देते हैं। लेकिन इस सब के लिए कोई स्मृति रखने की जरूरत नहीं होती। यंत्रवत यह सब होता है। इसके लिए होशपूर्वक करने की कोई जरूरत नहीं मालूम होती।
ऐसा हमारा पूरा जीवन निन्यानबे प्रतिशत बेहोशी से भरा हुआ है। यही बेहोशी हमारा बंधन है। इसी बेहोशी के कारण हमारा बहुत बड़ा चैतन्य का हिस्सा अंधेरे में डूबा है। जैसे पत्थर डूबा हो पानी में और जरा सा टुकड़ा ऊपर उभरा हुआ दिखायी पड़ता हो, बड़ी चट्टान नीचे छिपी हो। ऐसा हमारा बड़ा मन तो अंधेरे में छिपा है, छोटा सा टुकड़ा ऊपर उभरा है। जिसे हम अपना मन कहते हैं, वह बहुत छोटा सा हिस्सा है। और जिसे हम पहचानते भी नहीं--हमारा ही मन-- वह बहुत बड़ा हिस्सा है। फ्रायड उसे ही अचेतन मन कहता है।
बुद्ध कहते हैं, उस अचेतन मन को जब तक चेतन न कर लिया जाए, जब तक धीरे- धीरे उस अचेतन मन का एक-एक अंग प्रकाश से न भर जाए, तब तक तुम मुक्त न हो सकोगे। तुम्हारे भीतर जब चेतना का दीया पूरा जलेगा, तुम्हारे कोने- कांतरों को सभी को आलोक से मंडित करता हुआ, तुम्हारे भीतर एक खंड भी न रह जाएगा अंधेरे में दबा, तुम परम प्रकाशित हो उठोगे, इस दशा को ही बुद्ध ने समाधि कहा है। समाधि जड़ता का नाम नहीं। समाधि बेहोश हो जाने का नाम नहीं। जो समाधि बेहोशी में ले जाती हो, उसे बुद्ध ने जड़-समाधि कहा है। उसे मूढ़ता कहा है। तुम समाधि में गिर पड़ो मूर्च्छित होकर तो बुद्ध उसे समाधि नहीं कहते।
इसलिए बुद्ध की बात आधुनिक मनोविज्ञान को बहुत रुचती है। आधुनिक मनोविज्ञान भी उस जड़-समाधि को हिस्टीरिया कहेगा। वह बेहोशी है। तुममें जो थोड़ा सा होश था, वह भी खो दिया। शांति मिलेगी उससे भी, क्योंकि उतनी देर के लिए बेहोश हो गए तो चिंता न रही, उतनी देर के लिए सब विलुप्त हो गया।

घंटेभर बाद जब तुम होश में आओगे तो तुम्हें लगेगा कि बड़ी शांति थी, लेकिन वैसी ही शांति जैसी गहरी नींद में हो जाती है। पर गहरी नींद समाधि तो नहीं।
समाधि और गहरी नींद में थोड़ी सी समानता है। इतनी समानता है कि गहरी नींद में भी सब शांत हो जाता है, समाधि में भी सब शांत हो जाता है। लेकिन गहरी नींद में शांत होता है चेतना के बुझ जाने के कारण और समाधि में शांत होता है चेतना के पूरे जग जाने के कारण।
इसे ऐसा समझो कि मनुष्य के जीवन में तब तक तनाव और बेचैनी रहेगी जब तक मनुष्य का कुछ हिस्सा चेतन और कुछ अचेतन है। तो दो विपरीत दिशाओं में आदमी भागता है--चेतन और अचेतन। अचेतन अपनी तरफ खींचता है, चेतन अपनी तरफ खींचता है। इस रस्साकशी में आदमी की चिंता पैदा होती है; संताप पैदा होता है, एंग्विश पैदा होता है। चेतन की मानें तो अचेतन नाराज हो जाता है, अचेतन की मानें तो चेतन नाराज हो जाता है। अचेतन की मानें तो चेतन बदला लेता है, चेतन की मानें तो अचेतन बदला लेता है।
जैसे समझो, एक सुंदर स्त्री जा रही है राह से और तुम्हारा मन लुभायमान
हो गया, तुम कामातुर हो गए, यह अचेतन से आ रहा है। यह तुम्हारी पशुता का हिस्सा है। यह उस जगत की खबर है जब न कोई नीति थी, न कोई नियम थे। यह उस चैतन्य की खबर है जैसा पशुओं के पास है--जो भला लगा, जैसा भला लगा, कोई उत्तरदायित्व न था। अचेतन कहता है, इस स्त्री को भोग लो। चेतन कहता है, नहीं। नीति है, मर्यादा है, अनुशासन है; तुम विवाहित हो, तुम्हारे बच्चे हैं।
अब अगर तुम चेतन की मानो तो अचेतन बदला लेता है। अचेतन दुखी होता है, तिलमिलाता है, परेशान होता है। तुम उदास हो जाते हो। इसलिए पति उदास दिखायी पड़ते हैं, पत्नियां उदास दिखायी पड़ती हैं। अचेतन बदला लेता है। तुम किसी तरह अचेतन को दबाकर उसकी छाती पर बैठ जाते हो, कहते हो, नहीं, यह ठीक नहीं है, यह करने योग्य नहीं है इसलिए नहीं करेंगे, यह कर्तव्य नहीं इसलिए नहीं करेंगे। मगर भीतर बात तो उठ गयी है, भीतर वासना तो जग गयी है, तुम दबाकर बैठ जाओगे। तुम सांप के ऊपर बैठ गए। लेकिन सांप भीतर जिंदा है और कुलबुलाएगा। सपनों में सताएगा। रात जब नींद में सो जाओगे, तब शायद ही किसी को अपनी पत्नी का सपना आता हो! दूसरे की स्त्रियों के सपने आते हैं। शायद ही अपने पति का सपना आता हो!
भारत में सती की जो परिभाषा थी, वही थी--जिस स्त्री को सपने में भी अपने पति के अतिरिक्त किसी की याद न आती हो, उसको हम सती कहते थे। यह बड़ी अनूठी परिभाषा थी। यह बात बड़ी कीमत की है। सपने में कसौटी है। जागने में न आती हो, यह कोई बड़ी बात नहीं। क्योंकि जागने में तो हम सम्हालकर बैठे रहते हैं। चेतन को मानकर चलते हैं, अचेतन को पीछे धकाए रहते हैं, उसे अंधेरे में डाले रखते हैं। असली कसौटी तो तब है जब नींद में भी पर की याद न आए।
नींद में कैसे दबाओगे? नींद में तो तुम हो ही नहीं; तुम तो सो गए, तुम
तो बेहोश हो, दबाने वाला मौजूद न रहा, लड़ने वाला मौजूद न रहा। तो नींद में तो जो अचेतन है वह खुलकर खेलेगा। दिन में हत्या करनी चाही थी, नहीं कर पाए, रात नींद में हत्या कर दोगे। दिन में चोरी करनी चाही थी, नहीं कर पाए--नीति थी, धर्म था; नर्क था, स्वर्ग था; साधु-संत थे, रुक गए--प्रतिष्ठा थी। लेकिन रात नींद में न तो साधु-संत हैं, न शास्त्र हैं, न स्वर्ग है न नर्क है, अचेतन पूरा मुक्त है। और यह अचेतन कभी-कभी चेतन में भी धक्के मारेगा, अगर अवसर मिल जाएं तो धक्के मारेगा।
इसलिए सारी दुनिया में हमने इसकी व्यवस्था की है कि आदमी को अनैतिक होने का अवसर न मिले। तभी वह नैतिक रहता है। समझो कि यह जो दूसरी स्त्री तुम्हें प्रीतिकर लग गयी यह एक जंगल में तुम्हें मिले--न पूना के रास्ते पर मिले--जंगल में मिले जहां दूर-दूर तक मीलों तक कोई नहीं है, तुम दोनों ही अकेले हो, तब अपने को रोकना कठिन हो जाएगा। बस्ती में, बीच बस्ती में प्रतिष्ठा का सवाल था। पुलिस का सवाल था। अब यहां तो कोई सवाल नहीं है। समझो कि यह स्त्री जंगल में नहीं, तुम दोनों एक नाव में डूब गए हो और एक द्वीप पर लग जाते हो--जहां कोई भी नहीं है; और कोई कभी नहीं आएगा; न पत्नी को

खबर लगेगी, न समाज को खबर लगेगी, अब कोई आने वाला नहीं है--तब, तब तुम अचेतन की मान लोगे। तब तुम चेतन की फिकर न करोगे।
इसलिए कानून, पुलिस और राज्य इसी की फिकर करता है कि अवसर कम से कम मिलें। पश्चिम में जब से स्त्रियों ने दफ्तरों में काम शुरू किया है, कारखानों में काम शुरू किया है, तब से परिवार उजड़ने लगा; क्योंकि स्त्री और पुरुषों के करीब आने के ज्यादा अवसर हो गए। पूरब में यह खतरा कम है, क्योंकि स्त्री को अवसर ही नहीं है। स्त्री घर में बंद है, उसे कोई मौका नहीं है कि वह किसी के संपर्क में आ सके। पूरा समाज पुरुषों का समाज है, स्त्रियां तो बंद हैं।
मगर यह अवसर को छीन लेने से अचेतन बदलता नहीं, सिर्फ रिप्रेशन हो गया, सिर्फ दमन हो गया। और जिसका दमन कर दिया है वह भीतर बैठा है, सुलग रहा है। और किसी भी दिन, किसी मौके पर, किसी क्षण में, किसी कमजोरी में फूट पड़ेगा। इसलिए आदमी पागल होते हैं। पागल होने का इतना ही अर्थ है कि अचेतन में बहुत दबाया गया है, इसका बदला ले लिया चेतन से। एक दिन उसने तोड़ दीं सब सीमाएं, सब मर्यादाएं, निकल भागा सब नियम उखाड़कर, छूट ले ली। पागल होना अचेतन का प्रतिकार है।
अगर तुम चेतन की मानो तो अचेतन प्रतिकार लेता है। अगर तुम अचेतन की मानो तो मुसीबत में पड़ते हो। जेल जाना पड़े, पिटाई हो, प्रतिष्ठा खो जाए, पत्नी नाराज हो जाए, बच्चे बरबाद हो जाएं। चेतन की मानो तो बड़े कष्ट हैं, अचेतन की मानो तो उससे भी बड़े कष्ट हैं। इसलिए दंड है। दंड इसलिए है ताकि दो कष्टों के बीच तुम्हें चुनना पड़े। तो जो छोटा कष्ट है, उसी को हम चुन लेते हैं। छोटा कष्ट यही है कि चेतन की मान लो, अचेतन की इनकार कर दो। यही छोटा कष्ट है।
इसलिए सारी नैतिक व्यवस्थाएं बड़े-बड़े दंड की व्यवस्था करती हैं। हजारों साल नरक में सड़ाए जाओगे, अंगारों में सेंके जाओगे, जलते कड़ाहों में डाले जाओगे; और न मालूम कितने काल तक पीड़ा भोगनी पड़ेगी एक जरा सी बात के लिए, कि एक दूसरी स्त्री की तरफ कामवासना की दृष्टि से देख लिया, कि दूसरे के धन को अपना बनाने की, चोरी की वासना उठ गयी। और अदालतें हैं, और कानून हैं, वे सब तैयार बैठे हैं कि तुम मानो अचेतन की और तुम्हें दंड दें। वे सब चेतन की सेवा में लगे हैं।
यह मनुष्य की स्थिति है। इस स्थिति में हर हालत में द्वंद्व है। तुम कुछ भी करो, तुम दुख पाओगे। इस स्थिति में सुख हो नहीं सकता। तो सुख के दो ही उपाय हैं फिर। एक उपाय यह है कि चेतन को भी अचेतन कर दो तो तुम्हारे भीतर एकरसता आ जाए--यही आदमी शराब पीकर करता है। या एल.एसड़ी., या मारीजुआना, या गांजा, या भंग, यही आदमी नशा करके करता है। नशे का इतना ही अर्थ है कि वह जो चेतन मन है उसको नशे में डुबा दो, तो पूरा अचेतन हो गया--एक अंधेरी रात फैल गयी।
इसलिए अगर कोई नशे में कोई जुर्म कर ले तो अदालत भी उसको कम सजा देती है। वह कहती है, इसका चेतन तो होश में था ही नहीं। एक शराबी तुम्हें गाली दे दे तो तुम उतने नाराज नहीं होते जितना वही आदमी बिना शराब पीए गाली दे तो तुम नाराज हो जाते हो। एक शराबी तुम्हें धक्का मार दे तो तुम कहते हो कि शराबी है। गैर-शराबी धक्का मार दे--वही आदमी--तो तुम लड़ने को तैयार हो जाते हो। क्या फर्क करते हो तुम शराबी में और गैर-शराबी में? अगर अदालत में यह तय हो जाए कि आदमी शराब पीए हुए था इसलिए इसने हत्या कर दी, तो उसको दंड बहुत कम मिलेगा। अदालत में तय हो जाए कि आदमी पागल है इसलिए इसने हत्या कर दी, तो दंड कम मिलेगा, दंड मिलेगा ही नहीं। क्योंकि इसका चेतन तो था ही नहीं, दंड किसको देना? यह तो पूरी अंधेरी रात था, यह तो पूरा पशु जैसा हो गया था।
इसलिए शराब पीने में, नशे में, वही काम हो रहा है जो समाधि में होता है--विपरीत दिशा में हो रहा है। समाधि में हम अचेतन को चेतन बना लेते हैं और एकरस हो जाते हैं। और शराब में हम चेतन को अचेतन बना लेते हैं और एकरस हो जाते हैं। एकरसता में सुख है।

इसे तुम गांठ बांधकर रख लो--एकरसता में सुख है। जब तुम एक हो जाते हो
तो तुम सुखी; जब तक तुम दो हो, तब तक तुम दुखी। भीतर जो द्वंद्व है, वह दुख को पैदा करता है। घर्षण होता है। जब तुम भीतर बिल्कुल एक हो जाते हो, समरस, एक लयबद्धता हो जाती है, तुम्हारे भीतर कोई द्वंद्व नहीं होता, अद्वंद्व की अवस्था होती है, तुम निर्द्वंद्व होते हो, अद्वैत होते हो, बस वहीं सुख है।
इसीलिए सभी ध्यानियों ने शराब का विरोध किया है। तुम समझ लेना, क्यों विरोध किया है।
सभी ध्यानियों ने शराब का विरोध किया है, कारण यह नहीं है कि शराब में कोई खराबी है, कारण यह है कि शराबी कभी ध्यानी नहीं हो पाएगा, क्योंकि उसने तो ध्यान का सब्स्टीट्यूट चुन लिया। ध्यान में भी एकरसता होती है, शराब में भी एकरसता होती है। तो जो शराब पीकर एकरसता को पाने लगा--सस्ती एकरसता मिल गयी। जाकर एक बोतल पी डाली, इतने सस्ते में मिल गयी।
ध्यान तो वर्षों के श्रम से मिलेगा, ध्यान के लिए तो बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी, ध्यान के लिए तो बड़ा संघर्षण करना होगा, इंच-इंच बढ़ेगा, बूंद-बूंद बढ़ेगा। और इतना सस्ता मिलता नहीं है, महंगा सौदा है, लंबी यात्रा है; पहुंचेंगे, नहीं पहुंचेंगे, पक्का नहीं है; पहाड़ की चढ़ाई है। शराब तो उतार है, जैसे पत्थर को ढकेल दिया पहाड़ से; बस एक दफा धक्का मार दिया, काफी है। फिर तो अपने आप ही उतार पर उतरता जाएगा, खाई-खंदक तक पहुंच जाएगा, जब तक खाई न मिले तब तक रुकेगा ही नहीं; धक्का मारने के बाद और धकाने की जरूरत नहीं है। लेकिन अगर पहाड़ पर चढ़ाना हो पत्थर को, ऊर्ध्वयात्रा करनी हो, तो धकाने से काम न चलेगा--धकाते ही रहना पड़ेगा, जब तक कि चोटी पर न पहुंच जाए। और तुमने जरा भूल-चूक की कि पत्थर नीचे लुढ़क जाएगा। कहीं से भी गिरने की संभावना है।
ध्यानी के गिरने की संभावना है, शराबी के गिरने की संभावना नहीं है।
यह बात देखते हो! इसलिए तुमने एक शब्द सुना होगा--योगभ्रष्ट। तुमने भोगभ्रष्ट शब्द सुना? भोगी के भ्रष्ट होने की संभावना नहीं है। वह खड्डे में है ही, उससे नीचे गिरने का कोई उपाय नहीं है। सिर्फ योगी गिरता है, भोगी कभी नहीं गिरता। भोगी गिरा ही हुआ है। वह आखिरी जगह पड़ा ही हुआ है, अब और क्या आखिरी जगह होगी। योगी गिरता है। योगी ही गिरता है। भोगी होने से तो योगभ्रष्ट होना बेहतर है। कम से कम चढ़े तो थे, इसकी तो खबर है। गिरे सही, चले तो थे, उठे तो थे, चेष्टा तो की थी, एक प्रयास तो किया था; एक अभियान तो उठा था; एक यात्रा, एक चुनौती स्वीकार तो की थी--गिर गए, कोई बात नहीं। हजार बार गिरो, मगर उठ-उठकर चलते रहना।
शराब का ध्यानियों ने विरोध किया है, क्योंकि शराब परिपूरक है। यह सस्ते में ध्यान की भ्रांति करवा देती है। ध्यानी को भी तुम शराब जैसी मस्ती में डूबा हुआ पाओगे, और शराबी में भी तुम्हें ध्यान की थोड़ी सी गंध मिलेगी--रसमुग्ध--फर्क इतना ही होगा शराबी बेहोश है, ध्यानी होश में है। शराबी ने अपनी स्मृति खो दी और ध्यानी ने अपनी स्मृति पूरी जगा ली। मनुष्य बीच में है, मनुष्य द्वंद्व में है। मनुष्य आधा अचेतन है, आधा चेतन है। शराबी पूरा अचेतन है, ध्यानी पूरा चेतन है।
बुद्ध कहते हैं, अगर तुमने कोई ऐसी ध्यान की प्रक्रिया की हो जिससे तुम बेहोश हो जाते हो, तो वह ध्यान की प्रक्रिया शराब जैसी है, जड़ है, उससे सावधान! उस धोखे में मत पड़ना! कुछ ऐसा ध्यान साधो जिससे तुम्हारी चेतना जागे। उस जागने की प्रक्रिया का नाम है--स्मृति। माइंडफुलनेस। तुम ऐसे जागरूक हो जाओ कि तुम्हारे भीतर कोई विरोध न रह जाए। एक प्रकाश, अखंड प्रकाश फैल जाए।
आज के सूत्र इस अखंड प्रकाश के ही सूत्र हैं। सूत्र के पहले संदर्भ।
यह छोटी सी कहानी है--

भगवान राजगृह में विहरते थे। उसी समय राजगृह में घटी यह घटना है। उस महानगर में दो छोटे लड़के सदा साथ-साथ खेलते थे। उनमें बड़ी मैत्री थी। अनेक प्रकार के खेल वे खेलते थे। आश्चर्य की बात यह थी कि एक सदा जीतता था और

दूसरा सदा हारता था। और भी आश्चर्य की बात यह थी कि जो सदा जीतता था, वह हारने वाले से सभी दृष्टियों से कमजोर था। हारने वाले ने सब उपाय किए, पर कभी भी जीत न सका। खेल चाहे कोई भी हो, उसकी हार सुनिश्चित ही थी। वह जीतने वाले के खेल के ढंगों का सब भांति अध्ययन भी करता था--जानना जरूरी था कि दूसरे की जीत हर बार क्यों हो जाती है, क्या राज है? --एकांत में अभ्यास भी करता था, पर जीत न हुई सो न हुई। एक बात जरूर उसने परिलक्षित की थी कि जीतने वाला अपूर्व रूप से शांत था। और जीत के लिए कोई आतुरता भी उसमें नहीं थी। कोई आग्रह भी नहीं था कि जीतूं ही। खेलता था--अनाग्रह से। फलाकांक्षा नहीं थी। और सदा ही केंद्रित मालूम होता था, जैसे अपने में ठहरा है। और सदा ही गहरा मालूम होता था, छिछला नहीं था, ओछा नहीं था। उसके अंतस में जैसे कोई लौ निष्कंप जलती थी। उसके पास एक प्रसादपूर्ण आभामंडल भी था। इसलिए उससे बार-बार हारकर भी हारने वाला उसका शत्रु नहीं हो गया था--मित्रता कायम थी। जीत भी जाता था जीतने वाला, तो कभी अहंकार से न भरता था। जैसे यह कोई खास बात ही न थी। खेल अपने में पूरा था, जीते कि हारे, इससे उसे प्रयोजन नहीं था। मगर जीतता सदा था।
हारने वाले ने यह भी देखा था कि प्रत्येक खेल शुरू करने के पूर्व वह आंखें बंद करके एक क्षण को बिल्कुल निस्तब्ध हो जाता था, जैसे सारा संसार रुक गया हो। उसके ओंठ जरूर कुछ बुदबुदाते थे--जैसे वह कोई प्रार्थना करता हो, या कि मंत्रोच्चार करता हो, या कि कोई स्मरण करता हो।
अंततः हारने वाले ने अपने मित्र से उसका राज पूछा, क्या करते हो? उसने पूछा, हर खेल शुरू होने के पहले किस लोक में खो जाते हो? जीतने वाले ने कहा, भगवान का स्मरण करता हूं। नमो बुद्धस्स का पाठ करता हूं। इसीलिए तो जीतता हूं। मैं नहीं जीतता, भगवान जीतते हैं।
उस दिन से हारने वाले ने भी नमो बुद्धस्स का पाठ शुरू कर दिया। यद्यपि
यह कोरा अभ्यास ही था, फिर भी उसे इसमें धीरे-धीरे रस आने लगा। तोतारटंत ही था यह मंत्रोच्चार, पर फिर भी मन पर परिणाम होने लगे। गहरे न सही तो न सही, पर सतह पर स्पष्ट ही फल दिखायी पड़ने लगे। वह थोड़ा शांत होने लगा। थोड़ी उच्छृंखलता कम होने लगी। थोड़ा छिछलापन कम होने लगा। हार की पीड़ा कम होने लगी, जीत की आकांक्षा कम होने लगी। खेल खेलने में पर्याप्त है, ऐसा भाव धीरे-धीरे उसे भी जगने लगा। भगवान के इस स्मरण में वह अनजाने ही धीरे-धीरे डुबकी भी खाने लगा। शुरू तो किया था परिणाम के लिए, कि खेल में जीत जाऊं, लेकिन धीरे-धीरे परिणाम तो भूल गया और स्मरण में ही मजा आने लगा। पहले तो खेल के शुरू-शुरू में याद करता था, फिर कभी एकांत मिल जाता तो बैठकर नमो बुद्धस्स, नमो बुद्धस्स, नमो बुद्धस्स का पाठ करता। फिर तो खेल गौण होने लगा और पाठ प्रमुख हो गया। फिर तो जब कभी पाठ करने से समय मिलता तो ही खेलता। रात भी कभी नींद खुल जाती तो बिस्तर पर पड़ा-पड़ा नमो बुद्धस्स का पाठ करता। उसे कुछ ज्यादा पता नहीं था कि क्या है इसका राज, लेकिन स्वाद आने लगा। एक मिश्री उसके मुंह में घुलने लगी।
छोटा बच्चा था, शायद इसीलिए सरलता से बात हो गयी। जितने बड़े हम हो जाते हैं उतने विकृत हो जाते हैं। सरल था, कूड़ा-कचरा जीवन ने अभी इकट्ठा न किया था--अभी स्लेट कोरी थी।
जो बच्चे बचपन में ध्यान की तरफ लग जाएं, धन्यभागी हैं! क्योंकि जितनी देर हो जाती है, उतना ही कठिन हो जाता है। जितनी देर हो जाती है, उतनी ही अड़चनें बढ़ जाती हैं। फिर बहुत सी बाधाएं हटाओ तो ध्यान लगता है। और बचपन में तो ऐसे लग सकता है। इशारे में लग सकता है। क्योंकि बच्चा एक अर्थ में तो ध्यानस्थ है ही। अभी संसार पैदा नहीं हुआ है। अभी कोई बड़ी महत्वाकांक्षा पैदा नहीं हुई है। छोटी सी महत्वाकांक्षा थी कि खेल में जीत जाऊं, और तो कोई बड़ी महत्वाकांक्षा नहीं थी--राष्ट्रपति नहीं होना, प्रधानमंत्री नहीं होना, धनपति नहीं होना, पद-प्रतिष्ठा का मोह नहीं था। गिल्ली-डंडा खेलता होगा, इसमें जीत जाऊं; छोटी सी महत्वाकांक्षा थी, थोड़े ही स्मरण से टूट गयी होगी। थोड़ा सा जाल मन ने फैलाया था, थोड़े ही स्मरण से कट गया होगा।

एक खुला आकाश उसे दिखायी पड़ने लगा। धीरे-धीरे उसके सपने खो गए, और दिन में भी उठते-बैठते एक शांत धारा उसके भीतर बहने लगी।
एक दिन उसका पिता गाड़ी लेकर उसके साथ जंगल गया और लकड़ी से गाड़ी लाद घर
की तरफ लौटने लगा। मार्ग में श्मशान के पास बैलों को खोलकर वे थोड़ी देर विश्राम के लिए रुके--दोपहरी थी और थक गए थे। लेकिन उनके बैल दूसरों के साथ राजगृह में चले गए--वे तो सोए थे और बैल नगर में प्रवेश कर गए। पिता बेटे को वहीं गाड़ी के पास छोड़, गाड़ी को रखाने की कह नगर में बैलों को खोजने गया। बैल मिले तो, लेकिन तब जब कि सूर्य ढल गया था और नगर द्वार-बंद हो गए थे। सो वह नगर के बाहर न आ सका। बेटा नगर के बाहर रह गया, बाप नगर के भीतर बंद हो गया। अंधेरी रात, बाप तो बहुत घबड़ाया। श्मशान में पड़ा छोटा सा बेटा, क्या गुजरेगी उस पर! बाप तो बहुत रोया-चिल्लाया, लेकिन कोई उपाय न था, द्वार बंद हो गए सो द्वार बंद हो गए।
और लकड़हारे की सुने भी कौन! और लकड़हारे के बेटे का मूल्य भी कितना! द्वारपालों से सिर फोड़ा होगा, चिल्लाया होगा, रोया होगा, उन्होंने कहा कि अब कुछ नहीं हो सकता, बात समाप्त हो गयी।
अंधेरी रात, अमावस की रात, और वह छोटा सा लड़का मरघट पर अकेला। लेकिन उस लड़के को भय न लगा। भय तो दूर, उसे बड़ा मजा आ गया। ऐसा एकांत उसे कभी मिला ही न था। गरीब का बेटा था, छोटा सा घर होगा, एक ही कमरे में सब रहते होंगे--और बच्चे होंगे, मां होगी, पिता होगा, पिता के भाई होंगे, पत्नियां होंगी पिता के भाइयों की, बूढ़ी दादी होगी, दादा होंगे, न मालूम कितनी भीड़-भाड़ होगी, कभी ऐसा एकांत उसे न मिला था। यह अमावस की रात, आकाश तारों से भरा हुआ, यह मरघट का सन्नाटा, जहां एक भी आदमी दूर-दूर तक नहीं, नगर के द्वार-दरवाजे बंद, सारा नगर सो गया, यह अपूर्व अवसर था, ऐसी शांति और सन्नाटा उसने कभी जाना नहीं था। वह बैठकर नमो बुद्धस्स का पाठ करने लगा।
नमो बुद्धस्स, नमो बुद्धस्स, नमो बुद्धस्स कहते कब आधी रात बीत गयी उसे स्मरण नहीं। तार जुड़ गया, संगीत जम गया, वीणा बजने लगी, पहली दफा ध्यान की झलक मिली।
शांति तो मिली थी अब तक, रस भी आना शुरू हुआ था, लेकिन अब तक बूंद-बूंद था, आज डुबकी खा गया, आज पूरी डुबकी खा गया। आज डूब गया, बाढ़ आ गयी।
ऐसा नमो बुद्धस्स, नमो बुद्धस्स, नमो बुद्धस्स कहता-कहता गाड़ी के नीचे सरककर सो गया।
यह साधारण नींद न थी, नींद भी थी और जागा हुआ भी था--यह समाधि थी। उसने
उस रात जो जाना, उसी को जानने के लिए सारी दुनिया तड़फती है। उस लकड़हारे के बेटे ने उस रात जो पहचाना, उसको बिना पहचाने कोई कभी संतुष्ट नहीं हुआ, सुखी नहीं हुआ। सुख बरस गया। उसका मन मग्न हो उठा। शरीर सोया था और भीतर कोई जागा था--सब रोशन था, उजियारा ही उजियारा था, जैसे हजार-हजार सूरज एक साथ जग गए हों। जैसे जीवन सब तरफ से प्रकाशित हो उठा हो। किसी कोने में कोई अंधेरा न था।
वह किसी और ही लोक में प्रवेश कर गया, वह इस संसार का वासी न रहा। जो घटना किसी दूसरे के लिए अभिशाप हो सकती थी, उसके लिए वरदान बन गयी।
मरघट का सन्नाटा मौत बन सकती थी छोटे बच्चे की, लेकिन उस बच्चे को अमृत का अनुभव बन गयी। सब हम पर निर्भर है। वही अवसर मृत्यु में ले जाता है, वही अमृत में। वही अवसर वरदान बन सकता, वही अभिशाप। सब हम पर निर्भर है। अवसर में कुछ भी नहीं होता, हम अवसर के साथ कैसे चैतन्य का प्रवाह लाते हैं, इस पर सब निर्भर होता है।
था मरघट, लेकिन मरघट की तो उसे याद ही न आयी। उसने तो एक क्षण भी सोचा नहीं कि मरघट है। उसने तो सोचा कि ऐसा अवसर, धन्यभाग मेरे। पिता आए नहीं, बैल लौटे नहीं, सन्नाटा अपूर्व है, द्वार-दरवाजे बंद हो गए, आज इस घड़ी को भगवान के साथ पूरा जी लूं। वह नमो बुद्धस्स कहते-कहते, कहते-कहते, बुद्ध के साथ एकरूप हो गया होगा। जिसका हम स्मरण करते हैं, उसके साथ हम एकरूप हो जाते हैं।
वह निद्रा अपूर्व थी।

इस निद्रा के लिए योग में विशेष शब्द है--योगतंद्रा। आदमी सोया भी होता और नहीं भी सोया होता। इसीलिए तो कृष्ण ने कहा है कि जब सब सो जाते हैं तब भी योगी जागता है। उसका यही अर्थ है। या निशा सर्वभूतानाम तस्याम जागर्ति संयमी--जब सब सो गए होते हैं, जो सब के लिए अंधेरी रात है, निद्रा है, सुषुप्ति है, योगी के लिए वह भी जागरण है।
उस रात वह छोटा सा बच्चा योगस्थ हो गया, योगारूढ़ हो गया। और अनजाने हुआ यह, अनायास हुआ यह। चाहकर भी नहीं हुआ था, ऐसी कुछ योजना भी न थी। अक्सर यही होता है कि जो योजना बनाकर चलते हैं, नहीं पहुंच पाते, क्योंकि योजना में वासना आ जाती है। अक्सर अनायास होता है।
यहां रोज ऐसा अनुभव मुझे होता है। जो लोग यहां ध्यान करने आते हैं बड़ी योजना और आकांक्षा से, उन्हें नहीं होता। जो ऐसे ही आ गए होते हैं, संयोगवशात, सोचते हैं कर लें, देख लें, शायद कुछ हो, उन्हें हो जाता है।
और पहली दफा तो जब किसी को होता है तो आसानी से हो जाता है, दूसरी दफे कठिन होता है। क्योंकि दूसरी दफे वासना आ जाती है। पहली दफा तो अनुभव था नहीं, तो वासना कैसे करते? ध्यान शब्द सुना भी था तो भी ध्यान का कुछ अर्थ तो पकड़ में आता नहीं था--क्या है, कैसा है। जब पहली दफा ध्यान उतर आता है और किरण तुम्हें जगमगा जाती है, ऐसा रस मिलता है कि फिर सारी वासना उसी तरफ दौड़ने लगती है।
वह वासना जो बड़े मकान चाहती थी, बड़ी कार चाहती थी, सुंदर स्त्री चाहती थी, शक्तिशाली पति चाहती थी, धन-पद चाहती थी, सब तरफ से वासना इकट्ठी होकर ध्यान की तरफ दौड़ पड़ती है। क्योंकि जो धन से नहीं मिला, वह ध्यान से मिलता है। जो पद से नहीं मिला, वह ध्यान से मिलता है। जो किसी संभोग से नहीं मिला, वह ध्यान से मिलता है। तो सब तरफ से वासना के झरने इकट्ठे एक धारा में हो जाते हैं और ध्यान की तरफ दौड़ने लगते हैं। लेकिन ध्यान वासना से नहीं मिलता। ध्यान तो निर्वासना की स्थिति में घटता है। जब तुम चाहोगे, तब तुम चूकोगे।
तो तुम्हें यह हैरानी होगी, इस छोटे से बच्चे ने चाहा तो नहीं था, यह घटना कैसे घट गयी! यह बात सार्थक है। घटना ऐसे ही घटती है, अनायास ही घटती है। इस जगत में जो भी श्रेष्ठ है, वह मांगने से नहीं मिलता। मांगने से तो हम भिखारी हो जाते हैं। बिना मांगे मिलता है। बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न चून। उसने मांगा भी नहीं था। उसे तो एक अवसर मिल गया कि अंधेरी रात, यह आकाश में झिलमिलाते तारे, यह सन्नाटा, यह चुप्पी, यह नीरव ध्वनि, यह मरघट, वह तो बैठ गया! किसी खास वजह से नहीं, कुछ लक्ष्य न था सामने, उसने शास्त्र भी न पढ़े थे, शास्त्र सुने भी न थे, संतों की वाणी भी नहीं सुनी थी, लोभ का कोई कारण भी नहीं था, वह किसी मोक्ष, किसी भगवान के दर्शन करने को उत्सुक भी नहीं था, कोई निर्वाण भी नहीं पाना चाहता था। मगर यह मौका था सन्नाटे का, और धीरे-धीरे उसे नमो बुद्धस्स के अतिरिक्त कुछ बचा भी नहीं था उसके पास, करता भी क्या! बाप आया नहीं, बैल लौटे नहीं, घर जाने का उपाय नहीं, नगर के द्वार-दरवाजे बंद हो गए, करता भी क्या? वह तो बहुत दिन से जब भी मौका मिलता था, एकांत मिलता था, नमो बुद्धस्स करता था, नमो बुद्धस्स करने लगा। डोलने लगा।
जैसे सांप डोलने लगता है बीन सुनकर, ऐसा मंत्रोच्चार अगर कोई बिना किसी वासना के करे, तो तुम्हारे भीतर की चेतना डोलने लगती है। एक अपूर्व नृत्य का समायोजन हो जाता है। चाहे शरीर न भी हिले, भीतर नृत्य खड़ा हो जाता है।
डोलते-डोलते लेट गया, गाड़ी के नीचे सो गया। सोया भी था और जागा भी था।
इस जगत का जो सब से महत्वपूर्ण अनुभव है वह यही है--सोए भी और जागे भी। अभी तो हालत उलटी है--जागे हो और सोए हो। अभी लगते हो कि जागे हो और बड़ी गहरी नींद है; आंख खुली हैं और भीतर नींद समायी है। इससे उलटी भी घटना घटती है।
अभी तो तुम शीर्षासन कर रहे हो, सिर के बल खड़े हो--जागे हो और सोए हो। जिस दिन पैर के बल खड़े होओगे--वही तो बुद्धत्व का अर्थ है--पैर पर खड़े हो जाना। आदमी उलटा खड़ा है। जो सीधा खड़ा हो गया, वही बुद्ध है। वह सोता भी है तो जागता है।

जो रात अभिशाप हो सकती थी, वह वरदान हो गयी। और जो मंत्र मात्र संयोग
से मिला था, वह उस रात्रि स्वाभाविक हो गया।
संयोग की ही बात थी कि दूसरा लड़का जीतता था और यह लड़का भी जीतना चाहता था--कौन नहीं जीतना चाहता! बूढ़े तक जीत के भाव से मुक्त नहीं होते हैं, तो बच्चों से तो आशा नहीं की जा सकती है। बूढ़ों को तो क्षमा नहीं किया जा सकता, क्योंकि जिंदगी बीत गयी अभी तक इतना भी नहीं सीखे कि जीतने में कुछ सार नहीं है; हारने में कोई हारता नहीं, जीतने में कोई जीतता नहीं--यहां हार और जीत सब बराबर है; क्योंकि मौत सब को एक सा मिटा जाती है। हारे हुए मिट्टी में गिर जाते हैं, जीते हुए मिट्टी में गिर जाते हैं।
यह तो छोटा बच्चा था, इसको तो हम क्षमा कर सकते हैं, यह जीतना चाहता था। इसने सब उपाय कर लिए थे, इसने सब तरह से निरीक्षण किया था कि जीतने वाले की कला क्या है! क्यों जीत-जीत जाता है! मैं क्यों हार-हार जाता हूं। शक्तिशाली था जीतने वाले से, इसलिए बात बड़ी आश्चर्य की थी--इसकी शक्ति का स्रोत कहां है! क्योंकि शरीर से मैं बलवान हूं, जीतना मुझे चाहिए गणित के हिसाब से। लेकिन जिंदगी बड़ी अजीब है, यहां गणित के हिसाब से कोई बात घटती कहां है? यहां गणित को मानकर जिंदगी चलती कहां है? यहां कभी-कभी कमजोर जीत जाते हैं और शक्तिशाली हार जाते हैं।
देखते हैं, पहाड़ से जल की धारा गिरती है, चट्टान पर गिरती है। जब चट्टान पर पहली दफा जल की धारा गिरती होगी तो चट्टान सोचती होगी--अरे पागल, मुझको तोड़ने की कोशिश कर रही है! और जल इतना कोमल है, इतना स्त्रैण है, और चट्टान इतनी परुष, और इतनी कठोर, मगर एक दिन चट्टान टूट जाती है। रेत होकर बह जाएगी चट्टान! जो समुद्रों के तटों पर रेत है, जो नदियों के तटों पर रेत है, वह कभी पहाड़ों में बड़ी-बड़ी चट्टानें थीं। सब रेत चट्टान से बनी है। और चट्टानें टूटती हैं जल की सूक्ष्म धार से, कोमल धार से। कोमल धार अंततः जीत जाती है। मगर धार में कुछ बात होगी, जीतने का कुछ राज होगा। इस जगत में सब कुछ गणित के हिसाब से नहीं चलता। इस जगत का कुछ सूक्ष्म गणित भी है।
तो सब ऊपर के उपाय कर लिए होंगे उस लड़के ने। कैसे खेलता है, उसका एकांत में अभ्यास भी किया था, मगर फिर भी हार-हार गया--न जीता सो न जीता। पूछना नहीं चाहता था उससे, क्योंकि उससे क्या पूछना उसके जीतने का राज! चुपचाप निरीक्षण करता था। जब कोई उपाय न बचा होगा तो उसने पूछा। एक ही बात अनबूझी रह गयी थी कि हर खेल शुरू करने के पहले वह लड़का आंख बंद करके खड़ा हो जाता है, उसके ओंठ कुछ बुदबुदाते हैं, तब एक अपूर्व शांति उसके चेहरे पर मालूम होती है, एक रोशनी झलकती है। अब सिर्फ यही एक राज रह गया था। और सब तो कर लिया था, उससे कुछ काम नहीं हुआ था।
अंततः उसने पूछा कि भाई मुझे बता दो। क्या करते हो? कैसा स्मरण? क्या मंत्र? संयोग की बात थी कि वह लड़का नमो बुद्धस्स का पाठ करता था। वही उसका बल था। सुना है न तुमने वचन--निर्बल के बल राम। निर्बल भी बली हो जाता है अगर राम का साथ हो। और बलवान भी कमजोर हो जाता है अगर राम का साथ न हो। यहां सारा बल राम का बल है। यहां जो अपने बल पर टिका है, हारेगा। जिसने प्रभु के बल पर छोड़ा, वह जीतेगा। जब तक तुम अपने बल पर टिके हो, रोओगे; परेशान होओगे, टूटोगे--तब तक तुम चट्टान हो, तब तक तुम रेत हो-होकर दुख पाओगे। खंड-खंड हो जाओगे।

जिस दिन तुमने राम के बल का सहारा पकड़ लिया, जिस दिन तुमने कहा, मैं नहीं हूं, तू ही है; यही तो अर्थ होता है स्मरण का, प्रभु-स्मरण का, नाम-स्मरण का। उस लड़के ने कहा कि मैं थोड़े ही जीतता हूं, भगवान जीतते हैं। मैं उनका स्मरण करता हूं, उन्हीं पर छोड़ देता हूं, मैं तो उपकरण हो जाता हूं। जैसा कृष्ण ने अर्जुन को गीता में कहा कि तू निमित्त मात्र हो जा; तू प्रभु को करने दे जो वह करना चाहते हैं; तू बीच में बाधा मत बन। जैसा कबीर ने कहा कि मैं तो बांस की पोंगरी हूं। गीत मेरे नहीं, गीत तो परमात्मा के हैं। जब उसकी मरजी होती, गाता, मैं तो बांस की पोंगरी हूं। सिर्फ मार्ग हूं उसके आने का। गीतों पर मेरी छाप नहीं है, गीतों पर मेरा कब्जा नहीं है, गीत उसके हैं, मैं सिर्फ द्वार हूं उसका--उपकरण मात्र।

ऐसा ही उस लड़के ने कहा कि मैं थोड़े ही जीतता हूं! इसमें कुछ राज नहीं है, मैं प्रभु का स्मरण करता हूं, फिर खेल में लग जाता हूं, फिर वह जाने। मगर इस बात में बड़ा बल है। क्योंकि जैसे ही तुम्हारा अहंकार विगलित हुआ, तुम बलशाली हुए, तुम विराट हुए। अहंकार विगलित होते ही तुम जल की धार हो गए, अहंकार के रहते-रहते तुम चट्टान हो। और अहंकार के विगलित होने का एक ही उपाय है कि किसी भांति तुम अपना हाथ भगवान के हाथ में दे दो। किस बहाने देते हो, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। तुम्हारा हाथ भगवान के हाथ में हो। तुम निमित्त मात्र हो जाओ।
यह संयोग की ही बात थी कि उस लड़के ने कहा, मैं भगवान का स्मरण करता हूं, बुद्ध का स्मरण करता हूं--नमो बुद्धस्स। जीतने के लिए आतुर इस युवक ने इसकी नकलपट्टी शुरू की।
ख्याल रखना, कभी-कभी गलत कारणों से भी लोग ठीक जगह पहुंच जाते हैं। कभी-कभी संयोग भी सत्य तक पहुंचा देता है। कभी-कभी तुम जो शुरू करते हो, वह कोई बहुत गहरा नहीं होता, लेकिन शुरू करने से ही यात्रा का पहला कदम पड़ जाता है।
मेरे पास लोग आते हैं, वह कहते हैं, संन्यास हम लेना चाहते हैं, लेकिन कपड़े रंगने से क्या होगा? मैं कहता हूं, तुम फिकर छोड़ो, कपड़े तो रंगो, कुछ तो रंगो। वह कहते हैं, कबीर तो कहते हैं--मन न रंगाए रंगाए जोगी कपड़ा! मैं कहता हूं, ठीक कहते हैं, मन भी रंग जाएगा, तुम कपड़े रंगाने की हिम्मत तो करो! जो कपड़े रंगाने तक से डर रहा है, उसका मन कैसे रंगेगा? कबीर ठीक कहते हैं। मगर ख्याल रखना, कबीर ने जोगियों से कहा था। कबीर ने उनसे कहा था जिन्होंने कपड़े रंग लिए थे और मन अभी तक नहीं रंगा था। उन्होंने कहा था--मन न रंगाए जोगी! जोगियों से कहा था कि तुमने मन तो रंगाया नहीं, रंगा लिए कपड़ा! इससे क्या होगा? अब मन रंगाओ। तुमने अभी कपड़ा भी नहीं रंगाया; तुम अभी जोगी नहीं हो, कबीर का वचन तुम्हारे लिए नहीं है। जिन्होंने कपड़ा रंगा लिया, उनसे मैं भी कहता हूं--मन न रंगाए रंगाए जोगी कपड़ा! मगर तुमसे न कहूंगा। तुमसे तो कहूंगा--पहले जोगी तो बनो, कम से कम कपड़ा तो रंगाओ। एक बार कपड़ा रंग जाए, इतनी हिम्मत तो करो! और तुम कहते हो कि बाहर के कपड़े से क्या होगा!
बाहर और भीतर में जोड़ है। संयोग और सत्य भी जुड़े हैं। जो बाहर है, एकदम बाहर थोड़े ही है, वह भी भीतर का ही फैलाव है। तुम भोजन तो करते न! तो बाहर से ही भोजन लेते हो, वह भीतर पहुंच जाता है। तुम यह तो नहीं कहते, बाहर का भोजन क्या करना? बाहर का जल क्या पीना? भीतर प्यास है, बाहर के जल से क्या होगा? ऐसा तो नहीं कहते। या कहते हो! भीतर की प्यास बाहर के जल से बुझ जाती है, और भीतर की भूख बाहर के भोजन से बुझ जाती है, और भीतर के प्रेम के लिए बाहर प्रेमी खोजते हो, और कभी नहीं कहते कि प्रेम की प्यास तो भीतर है, बाहर के प्रेमी से क्या होगा?
बाहर और भीतर में बहुत फर्क नहीं है। वृक्ष पर जो फल अभी लटका है, बहुत दूर और बाहर है, जब तुम उसे चबा लोगे और पचा लोगे, भीतर हो जाएगा। तुम्हारा खून बन जाएगा, मांस-मज्जा बन जाएगा। आज तुम्हारे भीतर जो मांस-मज्जा है, कल तुम मर जाओगे, तुम्हारी कब्र बन जाएगी, तुम्हारी मांस-मज्जा मिट्टी में मिल जाएगी और मिट्टी से फिर वृक्ष उगेगा, और वृक्ष में फिर फल लगेंगे-- तुम्हारा मांस-मज्जा फिर फल बन जाएगा। बाहर और भीतर अलग-अलग नहीं हैं, संयुक्त हैं, जुड़े हैं।
इसलिए ऐसे मन को धोखा देने के उपाय मत किया करें कि बाहर से क्या होगा!
और यह सिर्फ उपाय है। अब भीतर का तो किसी को पता नहीं, तुम रंगोगे कि नहीं रंगोगे; बाहर का पता चल सकता है। बाहर से घबड़ाते हो कि लोग गैरिक वस्त्रों में देखकर कहेंगे--अरे, पागल हो गए! लोगों का इतना डर है, लोगों के मंतव्य की इतनी चिंता है! सीधी बात नहीं कहते कि मैं लोगों से डरता हूं, कायर हूं, बहाना खोजते हो कबीर का कि कबीर ने ऐसा कहा है कि बाहर के कपड़े रंगाने से क्या होगा? मैं भी कहता हूं क्या होगा, लेकिन यह कहा उनसे जिन्होंने रंगा लिए थे। उनसे मैं भी कहता हूं।

बाहर की घटना थी, बिल्कुल संयोगवशात शुरू हुई थी। कोई लड़के के भीतर ध्यान की तलाश न थी, न भगवान की कोई खोज थी। खेल-खेल में सीख लिया था, खेल-खेल में दांव लग गया। नमो बुद्धस्स, नमो बुद्धस्स रटने लगा। रटंत थी, तोता- रटंत थी, किसी बड़े मूल्य की बात नहीं थी। लेकिन रटते-रटते एक बात लगी कि रटते-रटते ही सतह पर कुछ शांति आ जाती है। वह जो उद्विग्नता थी, वह कम होने लगी। विचार थोड़े क्षीण हुए। वह जो जीत की आकांक्षा थी, वह भी क्षीण होने लगी। अब खेलता था, लेकिन खेल में दूसरे ढंग का मजा आने लगा। अब खेलने के लिए खेलने लगा। पहले जीतने के लिए खेलता था।
जो जीतने के लिए खेलता है, उसकी हार निश्चित है। क्योंकि वह तना हुआ होता है, वह परेशान होता है। उसका मन खेल में तो होता ही नहीं, उसकी आंख गड़ी होती है आगे, भविष्य में, फल में--जल्दी से जीत जाऊं। जो खेलने में ही डूबा होता है, उसको फल की कोई फिकर ही नहीं होती। वह खेलने में पूरा संलग्न होता है। उसके पूरे संलग्न होने से जीत आती है। और जीत की आकांक्षा से पूरे संलग्न नहीं हो पाते, तो हार हो जाती है।
तुम देखते न, आमतौर से सब लोग कितनी अच्छी तरह बातचीत करते हैं, गपशप करते हैं। फिर किसी को मंच पर खड़ा कर दो, और बस उनकी बोलती बंद हो गयी, हाथ-पैर कंपने लगे। क्या हो जाता है मंच पर पहुंचकर? कौन सी अड़चन हो जाती है? भले-चंगे थे, सदा बोलते थे; असल में इनको चुप ही करना मुश्किल था, बोल-बोलकर लोगों को उबा देते थे, आज अचानक बोलती बंद क्यों हो गयी?
आज पहली दफा लोगों को सामने बैठे देखकर इनको एक ख्याल पकड़ गया कि आज कुछ ऐसा बोलना है कि लोग प्रभावित हो जाएं। बस, अड़चन हो गयी। आज बोलने में पूरी प्रक्रिया न रही, लक्ष्य में ध्यान हो गया। लोग प्रभावित हो जाएं! ये इतनी आंखें जो देख रही हैं, ये सब मान लें कि हां, कोई है बोलने वाला! कोई है वक्ता! बस इसी से अड़चन हो गयी।
मंच पर खड़े होकर अभिनेता कंपने लगता है, हाथ-पैर डोलने लगते हैं, पसीना-पसीना होने लगता है। क्यों? पहली दफा कृत्य में नहीं रहा, कृत्य के पार आकांक्षा दौड़ने लगी। बड़ा अभिनेता वही है जिसको इसकी चिंता ही नहीं होती कि लोगों पर क्या परिणाम होंगे। और बड़ा वक्ता वही है जिसे ख्याल भी नहीं आता कि लोग इसके संबंध में क्या सोचेंगे। बड़ा खिलाड़ी वही है जो खेल में पूरा डूब जाता है, समग्रभावेन। उसी से जीत आती है।
धीरे-धीरे इसको भी फिकर छूटने लगी। यह लड़का भी रस लेने लगा खेलने में।
एक और ही मजा आने लगा। एक और तरह की तृप्ति मिलने लगी। अंतर्निहित हो गयी तृप्ति खेल के भीतर। क्रीड़ा में ही रस हो गया। खेल काम न रहा। खेल पहली दफा खेल हुआ।
इसलिए इस देश में हम कहते हैं--भगवान ने सृष्टि बनायी, ऐसा नहीं कहते-- सृष्टि का खेल खेला, लीला की। क्या फर्क है खेल और सृष्टि में?
पश्चिम में क्रिश्चियनिटी है--ईसाइयत है--जुदाइजम है, इस्लाम है, वे
सब कहते हैं, भगवान ने दुनिया बनायी। कृत्य की तरह। छह दिन में बनायी, फिर थक गया। खेल से कोई कभी नहीं थकता, ख्याल रखना, इसलिए हिंदुओं के पास छुट्टी का कोई उपाय ही नहीं है भगवान के लिए। छह दिन में थक गया, सातवें दिन विश्राम किया। इसीलिए तो रविवार को छुट्टी मनाते हैं ईसाई। भगवान तक ने छुट्टी ली तो आदमी का क्या! भगवान थक गया छह दिन बना-बनाकर, उस दिन विश्राम किया उसने। देर से उठा होगा सुबह, अखबार भी देर से पढ़ा होगा, चाय भी बिस्तर पर बुलायी होगी, पत्नी को डांटा-डपटा भी होगा, बिस्तर पर ही लेटे-लेटे रेडियो सुना होगा, या टी.वी. देखा होगा--जो कुछ भी किया--दोपहर तक सोया रहा होगा। थक गया। कृत्य, काम थका देता है।
इस देश में हमारी धारणा है, यह जगत भगवान की लीला है; थका ही नहीं, अभी
तक छुट्टी नहीं ली। छुट्टी की धारणा ही भारत के पुराणों में नहीं है, कि भगवान छुट्टी ले। छुट्टी का मतलब तो हुआ, थक जाए। खेल से कभी कोई थकता है! सच तो यह है, जब तुम काम से थक जाते हो तो खेल में थकान मिटाते हो।
दिनभर दफ्तर से लौटे, फिर घर आकर ताश खेलने लगे, या बैडमिंटन खेलने लगे। छह दिन थक गए, फिर सातवें दिन गोल्फ खेलने चले गए। थकान को मिटाते हो खेल से।
तो खेल से तो कोई कभी थकता नहीं, खेल से तो पुनरुज्जीवित होता है।

हमारी धारणा यही है कि जीवन कृत्य नहीं होना चाहिए, जीवन खेल होना चाहिए। खेल का यही फर्क है। कृत्य का लक्ष्य होता है, खेल का लक्ष्य नहीं होता। खेल में कोई फलाकांक्षा नहीं होती, काम में फलाकांक्षा होती है। तुम दफ्तर में बैठे काम करते हो, थक जाते हो, उतना ही काम तुम रविवार
के दिन घर में बैठकर करते रहते हो, नहीं थकते। अपना काम, तो खेल है। खोल ली कार, सफाई करने लगे, तो नहीं थकते; दिनभर लगे रहते हो। दफ्तर में फाइल यहां से वहां रखने में थक जाते हो। जहां काम आया, वहां थकान है। क्योंकि काम आया, लक्ष्य आया।
उस लड़के को पहली दफा खेल खेल हुआ। अब मजा और ही आने लगा, अब जीत की कोई चिंता न रही।
संयोग से यह घटना घटी थी। नमो बुद्धस्स कहना ऐसे ही खेल-खेल में शुरू किया था। लेकिन उस रात संयोग स्वाभाविक हो गया। उस रात मंत्र प्राणों में उतर गया। उस दिन मंत्र ऊपर-ऊपर न रहा; उस दिन मंत्र को उच्चार न करना पड़ा; उस दिन भीतर से उच्चार उठने लगा। इसी को तो हमने प्रणव कहा है। जब मंत्र अपने आप उठने लगे।
वह सन्नाटा, वह रात, जरा सोचो उस रात की। तुम होते, तुम्हारे भीतर भी कुछ होता--भय पकड़ता। और भय उठने लगता तुम्हारी नाभि से, और सारे प्राण भय से कंपने लगते। कंपित हो जाते, रात ठंडी भी होती तो पसीना आता। भूत-प्रेत दिखायी पड़ने लगते। मरघट, कोई साधारण जगह नहीं! अंधेरी रात, छोटा सा बच्चा! लेकिन यह संयोग, यह सुअवसर पाकर जो मंत्र अब तक किसी तरह ऊपर-ऊपर चलता रहा था, आज उसने पहली दफे डुबकी मार दी। इस मौके का अपूर्व लाभ हो गया। उसके हृदय से गुंजार उठने लगी होगी। अब ऐसा कहना ठीक नहीं कि उसने नमो बुद्धस्स का पाठ किया, अब तो ऐसा कहना ठीक होगा, नमो बुद्धस्स का पाठ हुआ। उस अपूर्व अवसर के बीच यह घटना घटी। ध्यान स्वाभाविक हुआ।
रात्रि वहां श्मशान में कुछ भूत आए। श्मशान! वे बड़े प्रसन्न हुए। वे
उस लड़के को खा जाना चाहते थे। वे अनायास मिले इस शिकार से अत्यंत खुश हो गए और उसके आसपास नाचने लगे।
और वह लड़का तो उस दशा में था--या निशा सर्वभूतानाम तस्याम जागर्ति संयमी। वह तो सोया था और जागा भी था।
भूतों को नाचते देखकर वह उठकर बैठ गया। भूत नाच रहे थे, वह भी अपने भीतर के नाच में मग्न हो गया, उसने फिर नमो बुद्धस्स, नमो बुद्धस्स कहना शुरू कर दिया।
लड़के की जैसे ही आंखें खुलीं, भूतों को नाचते देखा, वह भी अपने अंतर के नृत्य में संलग्न हो गया। आज उसे भूत डरा न पाए। जिस दिन ध्यान हो जाए, उस दिन मृत्यु डरा नहीं पाती--भूत यानी मृत्यु के प्रतीक। जिस दिन ध्यान हो जाए, उस दिन तो कुछ भी नहीं डरा पाता। ध्यानी के लिए भय होता ही नहीं। उसे तो खूब मजा आया। उसने तो सोचा होगा, तो ये भी ध्यानस्थ हो गए, या बात क्या है? ये भी नमो बुद्धस्स का पाठ करते हैं, या बात क्या है? उसे वे भूत जैसे दिखायी ही न पड़े होंगे।
और जब उसने नमो बुद्धस्स का उच्चार शुरू कर दिया तो भूत घबड़ा गए।
जब अमृत मौजूद हो तो मौत घबड़ा जाती है। जब ध्यान मौजूद हो तो यमदूत घबड़ा जाते हैं। वे तो बहुत घबड़ा गए।
उन्होंने गौर से देखा, यह कोई साधारण बच्चा नहीं था, इसके चारों तरफ प्रकाश मंडित था, एक आभामंडल था। वे तो उसकी सेवा में लग गए। वे तो भागे गए राजमहल, सम्राट की सोने की थाली और सम्राट का भोजन लेकर आए। उस छोटे से बच्चे को भोजन कराया, उसकी खूब पूजा की। फिर उसके पैर दाबे। रातभर उसकी रक्षा की, पहरा दिया।
ये तो प्रतीक हैं। जिसको ध्यान लग गया, मौत भी उसका पहरा देती है। जिसको ध्यान लग गया, मौत भी उसकी सेवा करती है। इस बात को ख्याल में रखना, प्रतीकों पर मत चले जाना। ऐसे कुछ भूत हुए, ऐसा नहीं है; ऐसा अर्थ मत ले लेना। ये तो सिर्फ सांकेतिक कथाएं हैं। ये इतना ही कहती हैं कि ऐसा घटता है। जब अमृत भीतर उपलब्ध होता है, तो मौत सेवा में रत हो जाती है। मौत तभी तक घातक है जब तक तुम मरणधर्मा से जुड़े हो। जब तक तुम सोचते हो मैं देह हूं,

तब तक मौत घातक है। जिस दिन तुमने जाना कि मैं देह नहीं हूं, मैं मन नहीं हूं, उस दिन मौत घातक नहीं है।
रात्रिभर पहरा देते रहे और सुबह जब सूरज ऊगने लगा तो जल्दी से सोने की थाली को गाड़ी की लकड़ियों में छिपाकर भाग गए। प्रातः नगर में यह समाचार फैला कि राजमहल से सम्राट के स्वर्ण-थाल की चोरी हो गयी है। सिपाही इधर-उधर खोजते हुए न पाकर, अंततः नगर के बाहर भी खोजने लगे। उस गाड़ी में वह स्वर्ण-थाल पाया गया। उस लड़के को, यही चोर है ऐसा मान, सम्राट के समक्ष प्रस्तुत किया गया। और वह लड़का तो रास्तेभर नमो बुद्धस्स जपता रहा। उसकी मस्ती देखते ही बनती थी। शहर में भीड़ उसके पीछे चलने लगी। वैसा रूप किसी ने देखा नहीं था।
वह उसी गांव का लड़का था! लेकिन अब किसी और दुनिया का हिस्सा हो गया था। उसका बाप भी भीड़ में चलने लगा, वह बाप भी बड़ा चकित हुआ--इस लड़के को क्या हो गया है! यह अपना नहीं मालूम होता। यह तो कहीं बहुत दूर मालूम होता है, यह कुछ और मालूम होता है। इसको हमने पहले कभी इस तरह देखा नहीं! सिपाही हथकड़ियां डाले थे, लेकिन अब कैसी हथकड़ियां! सिपाही उसे महल की तरफ ले जा रहे थे, लेकिन वह जरा भी शंकित नहीं था, अब कैसी शंका! अब कैसा भय! वह मग्न था। सिपाही थोड़े बेचैन थे और परेशान थे। और भीड़ बढ़ने लगी। और जब सम्राट के सामने लाया गया तो सम्राट तक भौचक्का रह गया जो देखा उसने सामने... सम्राट था बिंबिसार। उस समय का बड़ा प्रसिद्ध सम्राट था। बुद्ध के पास जाता भी था। बुद्ध से ध्यान की बातें भी सुनी थीं। जो बुद्ध में देखा था, जो बुद्ध के कुछ खास शिष्यों में देखा था, उसकी ही झलक--और बड़ी ताजी झलक जैसे झरना अभी फूटा हो, फूल अभी खिला हो--इस लड़के में थी।
वह उस लड़के को पूछा कि हुआ क्या है? यह थाल तूने चुराया? उस लड़के ने सारी कथा कह दी, कि हुआ ऐसा। मैं नमो बुद्धस्स कहते-कहते सो गया--सोया भी, जागा भी। मानो, न मानो, ऐसा हुआ। मुझसे भी कोई पहले कहता तो मैं भी न मानता कि सोना और जागना एक साथ हो सकता है। मगर ऐसा हुआ। कुछ बातें ऐसी हैं जो हों, तभी मानी जा सकती हैं। न हों, तो मानने का कोई उपाय नहीं। उसने कहा, आप भरोसा कर लो, ऐसा हुआ। मेरे आसपास कुछ लोग आकर नाचने लगे। मैंने आंख खोली, उनको नाचते देखकर मैं भी मस्त हुआ। मैंने सोचा, शायद ये भी नमो बुद्धस्स का पाठ कर रहे हैं, तो मैं फिर नमो बुद्धस्स का पाठ करने लगा। फिर पता नहीं उन्हें क्या हुआ, वे मेरे चरण दाबने लगे, भोजन लाए, थाली लाए, मुझे भोजन करवाया, मुझे सुलाया, रातभर मेरे पास खड़े रहे, पहरा देते रहे, सुबह इस थाली को लकड़ियों में छिपाकर भाग गए। फिर आपके सिपाही आए, फिर तो कथा आपको मालूम है, इसके बाद की कथा आपको मालूम है।
सम्राट उसे लेकर भगवान बुद्ध के पास गया। भगवान राजगृह में ठहरे थे। सम्राट ने भगवान से पूछा--भंते, क्या बुद्धानुस्मृति इस तरह की रक्षक हो सकती है? क्या नमो बुद्धस्स के पाठ मात्र से इस छोटे से बच्चे को जो हुआ है, वह किसी को हो सकता है? और यह भी खेल-खेल में! मैं तो लोगों को जीवनभर तपश्चर्या करते देखता हूं, तब नहीं होता, कैसे भरोसा करूं कि इस छोटे से लड़के को हो गया है? आप क्या कहते हैं? क्या इस लड़के की कथा सच है?
भगवान ने कहा--हां महाराज, बुद्धानुस्मृति स्वयं के ही परम रूप की स्मृति है। जब तुम कहते हो नमो बुद्धस्स, तो तुम अपनी ही परम दशा का स्मरण कर रहे हो--तुम्हारा ही भगवत-स्वरूप।
बुद्ध यानी कोई व्यक्ति नहीं, बुद्ध का कुछ लेना-देना गौतम बुद्ध से नहीं है। बुद्धत्व तो तुम्हारे ही जागरण की आखिरी दशा है, तुम्हारी ही ज्योतिर्मय दशा है, तुम्हारा ही चिन्मय रूप है। जब तुम स्मरण करते हो--नमो बुद्धस्स, तो तुम अपने ही चिन्मय रूप को पुकार रहे हो। तुम अपने ही भीतर अपनी ही आत्मा को आवाज दे रहे हो। तुम चिल्ला रहे हो कि प्रगट हो जाओ, जो मेरे भीतर छिपे हो। नमो बुद्धस्स किसी बाहर के बुद्ध के लिए समर्पण नहीं है, अपने अंतरतम में छिपे बुद्ध के लिए खोज है। और अगर कोई सरल चित्त हो तो जल्दी हो जाता है।
इसीलिए जल्दी हो गया, यह छोटा बच्चा है, सरल चित्त है। तपस्वी सरल चित्त नहीं हैं। बड़े कठिन हैं, बड़े कठोर हैं। और वासना से भरे हैं, लोभ से

भरे हैं। ध्यान करने चले हैं, लेकिन ध्यान में भी पीछे लक्ष्य बना हुआ है।
इसने बिना लक्ष्य के किया इसलिए हो गया। इसे सहज समाधि लग गयी है।
नमो बुद्धस्स या बुद्धानुस्मृति स्वयं के ही परम रूप की स्मृति है।
वह सतह के द्वारा अपनी ही गहराई की पुकार है। वह परिधि के द्वारा केंद्र का स्मरण है। वह बाह्य के द्वारा अंतर की जागृति की चेष्टा है। उसके अतिरिक्त और कोई शरण नहीं है। उसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। वही मृत्यु से रक्षा और अमृत की उपलब्धि बनती है। और तब उन्होंने ये गाथाएं कहीं--

सुप्पबुद्धं पबुज्झंति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं बुद्धगता सति।।
सुप्पबुद्धं पबुज्झंति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं धम्मगता सति।।
सुप्पबुद्धं पबुज्झंति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं संघगता सति।।

"जिनकी स्मृति दिन-रात सदा बुद्ध में लीन रहती है, वे गौतम के शिष्य सदा सुप्रबोध के साथ सोते और जागते हैं।"
"जिनकी स्मृति दिन-रात सदा बुद्ध में लीन रहती है... ।"
जो सदा याद करते हैं भगवत्ता का, बुद्धत्व का; जो सदा अपने जीवन को एक
ही दिशा में समर्पित करते चलते हैं; जिनके जीवन में एक ही अनुष्ठान है कि कैसे जाग जाएं; जो हर स्थिति और हर उपाय को जागने का ही उपाय बना लेते हैं; जो हर अवसर को जागने के लिए ही काम में ले आते हैं; जो राह के पत्थरों को भी सीढ़ियां बना लेते हैं और एक ही लक्ष्य रखते हैं कि भगवान के मंदिर तक पहुंचना है--और मंदिर उन्हीं के भीतर है, अपनी ही सीढ़ियां चढ़नी हैं; अपनी ही देह को सीढ़ी बनाना, अपने ही मन को सीढ़ी बनाना और जागरूक होकर निरंतर धीरे-धीरे स्वयं के भीतर सोए हुए बुद्ध को जगाना है।
"जिनकी स्मृति दिन-रात सदा बुद्ध में लीन रहती है, वे गौतम के शिष्य सदा सुप्रबोध के साथ सोते और जागते हैं।"
ऐसा ही नहीं कि वे जागते में जागते रहते हैं, वे सोते में भी जागते हैं।
"जिनकी स्मृति दिन-रात सदा धर्म में लीन रहती है, वे गौतम के शिष्य सदा सुप्रबोध के साथ सोते और जागते हैं।"
"जिनकी स्मृति दिन-रात सदा संघ में लीन रहती है, वे गौतम के शिष्य सदा सुप्रबोध के साथ सोते और जागते हैं।"
तीन बातों पर बुद्ध ने सदा जोर दिया--बुद्ध, धर्म और संघ। बुद्ध का अर्थ है, जिनमें धर्म अपने परिपूर्ण रूप में प्रगट हुआ है। काश, तुम ऐसे व्यक्ति को पा लो जिसके जीवन में धर्म तुम्हें लगे कि साकार हुआ है, तो धन्यभागी हो! जिसके जीवन से तुम्हें ऐसा लगे कि धर्म केवल सिद्धांत नहीं है, जीती-जागती स्थिति है। तो बुद्ध कहते हैं, उस व्यक्ति के स्मरण से लाभ होता है जो जाग गया है। क्योंकि जब तक तुम जागे हुए व्यक्ति के पास न होओ, तब तक तुम कितना ही सोचो, तुम्हें जागरण का कोई आधार नहीं है; तुम निराधार हो। तुम्हारे भीतर संदेह बना ही रहेगा। पता नहीं ऐसी अवस्था होती है, या नहीं होती! पता नहीं, शास्त्र कहते जरूर, लेकिन ऐसा कभी किसी को हुआ है, या कपोल-कल्पना है, या पुराणकथा है।
बुद्ध के पास जाने का अर्थ इतना ही है कि देखकर कि मेरे ही जैसे मांस-मज्जा-हड्डी से बने हुए आदमी में, मेरे जैसे ही आदमी में कुछ हुआ है जो मुझसे अतीत है। ठीक मेरे जैसा ही आदमी है, कुछ भेद नहीं है; जहां तक चमड़ी- मांस-मज्जा का संबंध है, ठीक मेरे जैसा है। बीमारी आएगी तो इसे भी लगेगी; जन्मा मेरी तरह, मरेगा भी मेरी तरह, सब सुख-दुख इसी तरह घटते हैं; लेकिन फिर भी इसके भीतर कुछ घटा है, जो मेरे भीतर नहीं घटा। अगर मेरे ही जैसे मांस-मज्जा से बने आदमी के भीतर यह दीया जल सकता है, तो मेरे भीतर क्यों नहीं?

तब एक प्यास उठती है, अदम्य प्यास उठती है। तब एक पुकार उठती है जो तुम्हें झकझोर देती है। सत्संग का यही अर्थ है।
तो बुद्ध का स्मरण। जाग्रत बुद्ध मिल जाए तो सदगुरु मिल गया। जाग्रत बुद्ध प्रतीक है, साकार अवतार है धर्म का। लेकिन जाग्रत बुद्ध को भी हम नमस्कार इसीलिए करते हैं कि वह धर्म का प्रतीक है, और किसी कारण नहीं। जब हम किसी एक दीए को नमस्कार करते हैं तो दीए के कारण नहीं करते, उसमें जलती ज्योति के कारण करते हैं। वह ज्योति तो धर्म की है। हालांकि दीए के बिना ज्योति नहीं होती। होती भी हो तो हमें दिखायी नहीं पड़ती। इसलिए हम दीए के धन्यवादी हैं कि उसने ज्योति को प्रगट करने में सहायता दी, लेकिन अंततः तो नमस्कार ज्योति के लिए है, दीए के लिए नहीं।
तो दूसरा नमस्कार धर्म के लिए। धर्म का अर्थ है, जीवन का आत्यंतिक नियम। जिससे सारा जीवन चलता है। जिसके आधार से चांद-तारे बंधे हैं। जिसके आधार से ऋतुएं घूमती हैं। जिसके आधार से जीवन चलता, उठता, बैठता। जिसके आधार से हम सोचते, विचारते, ध्यान करते, समाधि तक पहुंचते हैं। जो सारा विस्तार है जिसका, उस आधारभूत नियम का नाम है--धर्म। वह सनातन है। एस धम्मो सनंतनो। सदा से चला आया है, सदा चलता रहेगा।
जो स्थान हिंदू-विचार में परमात्मा का है, वही स्थान बुद्ध-विचार में धर्म का है। जो सबको धारण किए हुए है, वह धर्म। उसके प्रति निरंतर स्मृति बनी रहे, तो सोते-जागते भी व्यक्ति प्रकाश से भरा रहता है।
और तीसरी बात संघ में स्मृति लीन रहे। पहला, बुद्ध, जिनमें पूरा धर्म प्रगट हुआ है। बीच में धर्म, जो अप्रगट है हमें अभी। जिसका हमें अनुमान होता है--बुद्ध को देखकर--लेकिन जिसको हमने सीधा-सीधा साक्षात नहीं किया है। जो हमारे भीतर अभी नहीं घटा है। जिसकी हमारी निजी प्रतीति नहीं है। और फिर संघ। संघ है उन लोगों का समूह, जो उस धर्म की खोज में लगे हैं। तीन बातें हैं। जो उस धर्म की खोज में मुमुक्षा कर रहे हैं, वह संघ। उनकी भी स्मृति रखना। क्योंकि अकेले शायद तुम न पहुंच पाओ। तुम अगर उनके साथ जुड़ जाओ जो पहुंचने की यात्रा पर चले हैं, तो पहुंचना आसान हो जाएगा।
गुरजिएफ कहता था, अगर एक कारागृह में तुम बंद हो, अकेले निकलना चाहो
तो मुश्किल होगा। जेल बड़ा है, दीवालें बड़ी ऊंची हैं, पहरेदार मजबूत हैं; जेलर है, सारी व्यवस्था है; अकेले तुम निकलना चाहो तो मुश्किल होगा। लेकिन अगर तुम जेल में बंद दो सौ कैदियों के साथ एकजुट हो जाओ--दो सौ कैदी इकट्ठे निकलना चाहें तो बात बदल जाएगी। तब द्वार पर खड़ा एक संतरी शायद कुछ भी न कर पाए। शायद जेलर भी कुछ न कर पाए।
लेकिन अभी भी हो सकता है जेलर फौज बुला ले, मिलिटरी बुला ले, अड़चन खड़ी
हो जाए। तो अगर तुम जो भीतर दो सौ कैदी बंद हैं, तुम इकट्ठे हो गए और तुमने बाहर किसी से संबंध बना लिया जो जेल के बाहर है, तो और आसानी हो जाएगी। क्योंकि वह आदमी ठीक से पता लगा सकता है--कौन सी दीवाल कमजोर है, किस दीवाल पर कम पहरा रहता है, किस दीवाल से मिलिटरी बहुत दूर है, कौन से समय पर पहरा बदलता है, कब रात पहरेदार सो जाते हैं! यह तुम तो पता न लगा सकोगे, क्योंकि दीवाल के बाहर जो हो रहा है, वह दीवाल के बाहर जो है वही जान सकता है। तो अगर तुम्हारा दीवाल के बाहर से किसी से संबंध हो जाए... ।
फिर अगर दीवाल के बाहर जिससे तुम्हारा संबंध हो वह ऐसा हो, जो खुद भी कभी इस कारागृह में कैदी रह चुका हो, तो और भी लाभ है। क्योंकि उसे भीतर का भी पता है--कहां से द्वार हैं, कहां से दरवाजे हैं, कहां से खिड़कियां हैं, कहां से सींकचे काटे जा सकते हैं, किस पहरेदार को रिश्वत खिलायी जा सकती है, कौन सा जेलर कमजोर है, कौन सा जेलर रात में शराब पीकर मस्त हो जाता है, भूल-भाल जाता है!
बुद्ध का अर्थ है ऐसा व्यक्ति, जो इस संसार में बंद था--ठीक तुम जैसा--
अब बाहर हो गया है, उससे साथ जोड़ लो। संघ से संबंध है, उन लोगों से साथ जोड़ लो जो अभी जेल में तुम्हारे साथ बंद हैं। उनके साथ इकट्ठे हो जाओ।
मुझसे लोग पूछते हैं कि आप संन्यास देकर गैरिक लोगों की जमात क्यों पैदा कर रहे हैं?

यह संघ है। अकेले-अकेले आदमी कमजोर है, संग-साथ मजबूत हो जाता है। जो
एक न कर सके, दस कर सकेंगे; जो दस न कर सकें, सौ कर सकेंगे। जो सौ न कर सकें, हजार कर सकेंगे। जैसे-जैसे तुम संगठित होते चले जाते हो, तुम्हारी अपनी कमजोरियां तुम्हारे संगी-साथियों के बल के साथ संयुक्त हो जाती हैं, तुम ज्यादा बलवान हो जाते हो। तब एक बड़ी लहर पैदा होती है, जिस पर सवार हो जाना आसान है।
तो बुद्ध ने कहा, बुद्ध का स्मरण जो रखता है, संघ का स्मरण जो रखता है,
और दोनों के पार जो धर्म है, उसका स्मरण जो रखता है। जिन्होंने पा लिया, उनका स्मरण; जो पाने चल पड़े हैं, उनका स्मरण; और जिसे पाने चले हैं, और जो पा लिया गया है, उसका स्मरण--ये तीन महत्वपूर्ण स्मृतियां हैं। इनको बुद्ध ने त्रिरत्न कहा है, त्रिशरण कहा है। ये बुद्ध-धर्म के तीन रत्न हैं--बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि।

सुप्पबुद्धं पबुज्झंति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं कायगता सति।।
सुप्पबुद्धं पबुज्झंति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च अहिंसाय रतो मनो।।
सुप्पबुद्धं पबुज्झंति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च भावनाय रतो मनो।।
पहली तीन बातें अपने से बाहर के लिए--बुद्ध के लिए, संघ के लिए, धर्म के लिए। दूसरी तीन बातें अपने भीतर के लिए।
"जिनकी स्मृति दिन-रात सदा अपनी काया की स्मृति में लीन रहती है... ।"
बाडी अवेयरनेस। उठते हैं, बैठते हैं, चलते हैं, लेकिन ध्यान रखते हैं, मेरी देह से क्या हो रहा है!
"जिनकी स्मृति दिन-रात सदा काया के प्रति जागरूक रहती है, वे गौतम के शिष्य सदा सुप्रबोध के साथ सोते और जागते हैं।"
बुद्ध का इस पर बड़ा जोर था। काया हमारी पहली परत है। परत के भीतर परतें हैं। काया पहली परत है। दूसरी परत विचार की है। तीसरी परत भाव की है। तीन परतें हैं--शरीर, मन, हृदय। इन तीनों के पार हमारे असली सम्राट का निवास है। इन तीन दीवालों के पार भगवत्ता विराजमान है। इन तीन परकोटों को पार करना है। तो परकोटों को पार करने के लिए स्मृति चाहिए।
पहले काय-स्मृति। उठो तो जानना कि उठे, बैठो तो जानना कि बैठे। भोजन करो तो जानना कि भोजन कर रहे हो, स्नान करो तो जानना कि स्नान कर रहे हो। तुम्हारा शरीर यंत्रवत न रहे। तुम्हारे शरीर की प्रत्येक प्रक्रिया बोधपूर्वक होने लगे। कठिन है। भूल-भूल जाओगे।
करना कोशिश--रास्ते पर चलते जब तुम लौटकर जाओ तो जरा कोशिश करना कि थोड़ी देर याद रखो कि शरीर चल रहा है। दो सेकेंड याद रहेगा, भूल गए; मन कहीं और चला गया, फिर छिटक गया; फिर थोड़ी देर बाद याद आएगी कि अरे, मैं तो कुछ और सोचने लगा! फिर पकड़कर शरीर पर ध्यान को ले आना।
वर्षों की चेष्टा से काय-स्मृति सधती है। और जब काय-स्मृति सध जाती है
तो जीवन में बहुत सी बातें अपने आप समाप्त हो जाती हैं। जैसे क्रोध समाप्त हो जाएगा। कामवासना समाप्त हो जाएगी। लोभ समाप्त हो जाएगा। क्योंकि ये सब काया की बेहोशी हैं। कामवासना उठती है काया की बेहोशी से। जब तुम्हारे भीतर कामवासना उठती है तो काया की बेहोशी तुम पर हावी हो जाती है। अगर तुम चलते-उठते-बैठते, हाथ भी हिलाते हो तो होशपूर्वक हिलाते हो कि यह मेरा हाथ हिल रहा है... ।
तुम जरा इसका प्रयोग करना, तुम बड़े चकित होओगे। यह हाथ उठाया मैंने, इसको अगर होशपूर्वक उठाया, जानते हुए कि हाथ उठा रहा हूं, आहिस्ता-आहिस्ता उठाया, तब तुम चकित होओगे कि हाथ के उठाने में भी भीतर बड़ी शांति मालूम होगी। इसी आधार पर चीन में ताइ ची का विकास हुआ। बुद्ध की काय-स्मृति के आधार पर। प्रत्येक क्रिया शरीर की बहुत धीमे-धीमे करना।

बुद्ध कहते हैं अपने भिक्षु से, आहिस्ता चलो, धीमे चलो, ताकि स्मृति साध सको। आहिस्ता-आहिस्ता एक-एक कदम उठाओ, जानते हुए उठाओ कि बायां कदम उठाया, कि दायां कदम उठाया।
अगर कोई वर्ष दो वर्ष काय-स्मृति में उतरे तो चकित हो जाता है। लोग पूछते हैं, कामवासना कैसे छूटे? कामवासना सीधे नहीं छूटती, क्योंकि कामवासना काया के प्रति बेहोशी का हिस्सा है। जब काया की बेहोशी टूटती है तो कामवासना छूटती है। और क्रोध भी तभी छूटता है। आक्रमक-भाव भी तभी छूटते हैं, हिंसा भी तभी छूटती है।
तो पहला, काया के प्रति स्मृति। दूसरा--
"जिनका मन दिन-रात सदा अहिंसा में लीन है, वे गौतम के शिष्य सदा सुप्रबोध के साथ सोते और जागते हैं।"
दूसरी बात, विचार। पहली बात देह, दूसरी बात मन। मन हिंसात्मक है। मन सदा ही हिंसा की सोचता है--किससे छीन लूं! किससे झपट लूं! किसको मजा चखा दूं! मन प्रतियोगिता है, कांपिटीशन है, स्पर्धा है; एंबीशन, महत्वाकांक्षा है। मन आक्रामक है। मन सदा आक्रमण की योजनाएं बनाता रहता है। कैसे मकान बड़ा कर लूं! कैसे जमीन बड़ी कर लूं! कैसे तिजोड़ी बड़ी कर लूं? स्वभावतः, छीनना पड़ेगा तभी कुछ बड़ा होगा।
तो बुद्ध कहते हैं, मन की हिंसा के प्रति जागो। और अहिंसा के भाव में प्रतिष्ठा लाओ। यहां न कुछ कमाने जैसा है, न जोड़ने जैसा, न बढ़ाने जैसा। यहां सब बढ़ाया, न बढ़ाया बराबर हो जाता है। यहां की दौलत दौलत नहीं। यहां का राज्य राज्य नहीं। अनाक्रामक बनो। हिंसा है आक्रमण, अहिंसा है प्रतिक्रमण। अंदर लौटो, बाहर मत जाओ। ठहरो भीतर। विचार की हिंसा को ठीक से समझो। जैसे-जैसे विचार की हिंसा समझ में आएगी और अहिंसा का भाव तैरेगा भीतर, वैसे-वैसे तुम पाओगे, दूसरी परिधि भी टूट गयी।
फिर तीसरी परिधि है--
"जिनका मन दिन-रात सदा भावना में लीन रहता है, वे गौतम के शिष्य सदा सुप्रबोध के साथ सोते और जागते हैं।"
फिर तीसरी भाव की दशा है, भावना की। बुद्ध ने उसे ब्रह्म-विहार कहा है। उन भावनाओं में डूबो जो ब्रह्म के करीब ले आएंगी। जैसे करुणा, सहानुभूति, समानुभूति, दया। उन भावनाओं में डूबो, जिनसे तुम दूसरों से टूटते नहीं, जुड़ते हो। उन भावनाओं में डूबो, जिनसे धीरे-धीरे तुम्हारे भीतर शांति और आनंद घना होता है। ब्रह्म में विहार करो। एक में विहार करो, अनेक का भाव छोड़ो। कोई मेरा शत्रु नहीं है, सभी मेरे मित्र हैं। मैत्री- भावना, मित्रता का भाव फैलाओ। जो सुख मैं चाहता हूं, वही सब को मिले। और जो दुख मैं नहीं चाहता हूं, वह किसी को भी न मिले। ऐसी भावनाओं में डूबो। धीरे-धीरे भावना में डूबते-डूबते तीसरी सीढ़ी भी पार हो जाती है। काया
की स्मृति, विचार की स्मृति, भावना की स्मृति, फिर भीतर महल में प्रवेश होता है। उस महल में प्रवेश करके तुम पाओगे बुद्ध को विराजमान। तुम्हें तुम्हारे बुद्ध से मिलन हो जाएगा। इसको बुद्ध ने कहा है, अप्प दीपो भव! अपने दीए बन जाओ। फिर तुम अपने दीए बन जाओगे।
राजा बिंबिसार को इस लड़के को लाने के कारण बुद्ध ने ये सूत्र कहे।
इस कहानी में मैंने एक छोटा सा फर्क किया है, उसकी मैं क्षमा-याचना कर लूं। करना पड़ा। इतना सा फर्क किया है--पंडित और शास्त्रीयजनों को अड़चन होगी--फर्क यह किया हैः कथा में ऐसा कहा गया है, कथा ऐसे शुरू होती है कि राजगृह में दो लड़के थे, एक था सम्यक-दृष्टि, दूसरा था मिथ्या-दृष्टि। दोनों साथ खेलते थे। सम्यक-दृष्टि खेलते समय नमो बुद्धस्स का पाठ करता था और मिथ्या-दृष्टि नमो अरिहंताणं का।
इशारा साफ है। जिसने भी कथा रची होगी, लिखी होगी शास्त्र में, वह यह कह रहा है कि जो बुद्ध का स्मरण करता है वह तो पहुंच जाता है, जो महावीर का स्मरण करता है वह नहीं पहुंचता। जिसने कहानी लिखी होगी, उसकी दृष्टि बड़ी क्षुद्र और सांप्रदायिक रही होगी। तो जो नमो बुद्धस्स का पाठ करता है वह तो जीतता था, उसको कहा सम्यक-दृष्टि। और जो नमो अरिहंताणं, जिनों का स्मरण

करता था, अरिहंतों का स्मरण करता था, महावीर का, नेमि का, पार्श्व का स्मरण करता था, उसको कहा मिथ्या-दृष्टि। वह हारता था।
इतना मैंने फर्क किया है। इतना मैंने अलग कर दिया है। क्योंकि मुझे लगा कि उतनी बात बुद्ध के साथ मेल नहीं खाएगी। क्योंकि बुद्ध का और अरिहंत का एक ही अर्थ होता है। बुद्ध का अर्थ होता है जो जाग गया, अरिहंत का अर्थ होता है जिसने अपने शत्रुओं पर विजय पा ली।
मूर्च्छा शत्रु है। मूर्च्छा ही तो शत्रु है। काम-क्रोध-लोभ-मद-मत्सर शत्रु हैं। शत्रुओं पर विजय कैसे पायी जाती है? जागकर पायी जाती है। बुद्ध का भी एक नाम अरिहंत है। कृष्ण का भी एक नाम अरिहंत है। और मैं तो क्राइस्ट को भी अरिहंत कहता हूं और मोहम्मद को भी अरिहंत कहता हूं। अरिहंत का मतलब ही इतना है--जिसके अब कोई शत्रु न रहे। जिसके भीतर सब शत्रु विदा हो गए। जिसके भीतर सब शत्रु विगलित होकर मित्र बन गए। जिसका क्रोध करुणा बन गया। और जिसकी कामवासना ब्रह्मचर्य बन गयी। जिसने अपने शत्रुओं को अपना मित्र बना लिया। जिसने जहर को रूपांतरित कर लिया। जो उस कीमिया से गुजर गया जहां जहर अमृत हो जाता है।
तो इतना फर्क मैंने किया है। इतना कहानी में मैंने तोड़ दिया। अलग कर दिया। क्योंकि उतनी बात मुझे सांप्रदायिक मालूम पड़ी। और बुद्ध का सांप्रदायिक होने से कोई संबंध नहीं हो सकता है।
कहानी बुद्ध ने नहीं लिखी है। कहानी किसी अनुयायी ने लिखी होगी। अनुयायियों की क्षुद्रबुद्धि ने बड़े उपद्रव किए हैं। ऐसी कहानियां जैन-ग्रंथों में भी हैं, जिनमें बुद्ध को गाली दी गयी है। ऐसी कहानियां बुद्ध-ग्रंथों में हैं, जिनमें जैनों को गाली दी गयी है। ये ओछी बातें हैं। धर्म बड़ा विराट है। और जब भी मुझे ऐसा लगता है कि किसी शास्त्र में, किसी सूत्र को बदलने की जरूरत है, तो मैं जरा भी हिचकिचाता नहीं। मेरी शास्त्र के प्रति कोई निष्ठा ही नहीं है। मैं शास्त्रीय नहीं हूं। मैं पूरी स्वतंत्रता मानता हूं अपनी। क्योंकि मेरी निष्ठा बुद्ध के प्रति है, शास्त्र के प्रति नहीं है।
इस कहानी को पढ़ते वक्त मुझे लगा कि अगर बुद्ध भी इस कहानी को पढ़ेंगे
तो इतना हिस्सा छोड़ देंगे, उतना मैंने छोड़ दिया है। अगर मैं जिम्मेवार हूं किसी के प्रति तो बुद्ध के प्रति, और किसी के प्रति नहीं। अगर महावीर के वचनों में मुझे कुछ वचन ऐसे लगते हैं जो कि महावीर के वचन नहीं हो सकते, नहीं होने चाहिए, मैं उनको छोड़ देता हूं। कभी मुझे ऐसा लगता है कि यह अर्थ नहीं किया जाना चाहिए, तो अर्थ बदल देता हूं। इसलिए मुझसे पंडित नाराज भी हैं। वे कहते हैं कि मैं शास्त्रों में हेर-फेर करता हूं।
शास्त्र में मेरी कोई निष्ठा नहीं है। शास्त्र मेरे लिए खिलवाड़ है। मेरी निष्ठा शास्त्र से बहुत पार है। मेरी निष्ठा तो अनुभव में है। मेरी निष्ठा मेरे भीतर है। जो मेरी निष्ठा पर कस जाता है, मुझे लगता है कि यह बात मैं भी कह सकता हूं, तो ही मैं बुद्ध से कहलवाऊंगा। मैं भी कह सकता हूं, तो मैं महावीर से कहलवाऊंगा।
इसलिए जैन मुझसे प्रसन्न नहीं हैं। क्योंकि वे कहते हैं, महावीर से मैंने ऐसी बातें कहलवा दीं जो महावीर ने नहीं कही हैं। उनको पता नहीं है कि महावीर और मुझमें ढाई हजार साल का फर्क हो गया! आज महावीर लौटते तो जो मैं कह रहा हूं, वही कहते। ढाई हजार साल बाद इतना फर्क न पड़ता! महावीर जड़बुद्धि नहीं थे। कोई ग्रामोफोन के रिकार्ड नहीं थे कि वही का वही दोहराते रहते।
मुझसे बौद्ध नाराज हैं। मैं नागपुर में ठहरा था तो एक बड़े बौद्ध भिक्षु हैं, बड़े पंडित हैं--आनंद कौशल्यायन--वह मुझे मिलने आए। उन्होंने कहा कि आप कुछ ऐसी बातें कहते हैं जो शास्त्र में नहीं हैं। किस शास्त्र में हैं? आपने कुछ ऐसी बातें जोड़ दी हैं जो कहीं भी नहीं लिखी हैं। मेरी जिंदगी शास्त्र पढ़ते हो गयी।
तो मैंने उनसे कहा, न लिखी हों तो लिख लेनी चाहिए, क्योंकि शास्त्र किसी ने लिखे हैं। तुम इतना और जोड़ लो। मैं बुद्ध का नया संस्करण हूं। संस्करणों में थोड़ा फर्क हो जाता है न! वह तो बहुत नाराज हो गए। कहने लगे,

शास्त्र में कैसे कुछ जोड़ा जा सकता है! मैंने कहा, मैं जोडूंगा, मैं घटाऊंगा। क्योंकि जो बात मुझे लगती है ओछी है, वह कैसे बुद्ध से कहलवाऊं? अन्याय हो जाएगा। उसके लिए बुद्ध फिर मुझे कभी क्षमा न कर सकेंगे।
पंडित नाराज हो जाएं, मुझे जरा चिंता नहीं है, उनकी नाराजगी से क्या बनता-बिगड़ता है! लेकिन बुद्ध के साथ कुछ अन्याय नहीं होना चाहिए। इसलिए मैंने इतना फर्क किया है। अन्यथा कहानी अदभुत है। अन्यथा कहानी बड़ी प्यारी है, बड़ी सूचक है। इस पर ध्यान करना।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 10
पंचान्वे प्रवचन

मातरम् पितरम् हंत्वा

पहला प्रश्नः मैं दूसरों को सलाह देने में बड़ा कुशल हूं, यद्यपि अपनी समझ अपने ही काम नहीं आती है। दूसरों को सलाह देना इतना सरल क्यों होता है?

महाराज आप सोचते हैं कि आपकी सलाह दूसरों के काम आती है! सलाह किसी के काम नहीं आती। जब आपके ही काम आपकी सलाह नहीं आती, तो दूसरे के काम कैसे आ जाएगी? जिसको आपने ही इस योग्य नहीं माना कि इसका उपयोग करूं जीवन में, उसका कौन उपयोग करने वाला है?
लुकमान से किसी ने पूछा था, ऐसी कौन सी चीज है दुनिया में जिसे सभी देते हैं और कोई नहीं लेता? लुकमान ने कहा, सलाह। दी खूब जाती है, लेता कोई भी नहीं। तुम खुद ही अपनी सलाह मानने को तैयार नहीं हो, थोड़ा सोचो!
मैंने सुना है, एक सूफी फकीर के पास एक स्त्री अपने बेटे को लेकर आयी
और उसने कहा कि इसे जरा समझा दें, मैं हार गयी, इसके पिता हार गए, इसके शिक्षक हार गए, हम सबसे समझवा चुके हैं, यह समझता नहीं, अब आप ही एकमात्र आशा हैं, यह बहुत गुड़ खाता है। फकीर ने कहा, सात दिन बाद आओ। स्त्री तो समझी नहीं। इसमें सात दिन बाद आने की क्या बात थी? सात दिन बाद पहुंची बेटे को लेकर। फकीर ने कहा कि क्षमा करो, सात दिन और लगेंगे, सात दिन बाद आओ। ऐसा तीसरी बार भी कहा तो उस स्त्री ने कहा, बात क्या है? उसने कहा, बात तो मैं सात दिन बाद आओ तभी बताऊंगा।
इक्कीसवें दिन उस फकीर ने कहा, बेटा, गुड़ खाना बंद कर दे। स्त्री ने तो सिर से हाथ मार लिया कि इस सलाह के लिए इक्कीस दिन भटकाया! तीन बार बुलाया। उसने कहा, यह इतनी सी सलाह नहीं, मैं खुद ही गुड़ खाने का बहुत शौकीन हूं। इस छोटे से बच्चे को मैं कहूं कि गुड़ खाना छोड़ दे, बुरा है, इसके पहले मैं तो छोड़ दूं। इक्कीस दिन मुझे छोड़ने में लग गए। और इसे सलाह देता तो बेईमानी की होती, झूठी होती। उस बेटे ने फकीर की तरफ आंख उठाकर देखा, उसके चरणों में झुका और उसने कहा, तो मैं भी छोड़ देता हूं।
तुम्हारी सलाह में मूल्य तभी आता है जब तुम भी उसे करते हो। तुम्हारा जीवन अगर तुम्हारे विचार के विपरीत है, तो लोग तुम्हारा जीवन देखते हैं, तुम्हारा विचार थोड़े ही। विचार से कोई प्रभावित नहीं होता, लोग प्रभावित जीवन से होते हैं। तुम्हारे भीतर की अग्नि से होते हैं। बातें तुम आग की करो और तुम्हारे जीवन में राख ही राख हो। तुम्हारा जीवन तुम्हारे वचनों को झुठला देगा। बातें तो सभी अच्छी करते हैं। बातें अच्छी करने में क्या लगता है। हल्दी लगे न फिटकरी, रंग चोखा हो जाए। कुछ खर्च तो होता नहीं है बात करने में। लोग जानते हैं कि बातें तो कचरा हैं। और इस देश में तो और। इस देश में इतनी सलाहें दी गयी हैं, इतने उपदेश दिए गए हैं कि लोग थक गए हैं। लोग ऊब गए हैं। लोग छुटकारा चाहते हैं।
तुम सोचते हो कि "मैं दूसरों को सलाह देने में बड़ा कुशल हूं, लेकिन मेरी सलाह मेरे ही काम क्यों नहीं आती?"
किसी के काम नहीं आती। जब तुम्हारे काम नहीं आती तो किसी के भी काम नहीं आएगी।
मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन के पड़ोसी के घर एक बड़ा कीमती तोता था। तोता सात दिन तक मल-मूत्र विसर्जन न किया, तो पड़ोसी घबड़ा गया। ऐसा कभी न हुआ था। कब्जियत आदमियों को होती है, तोतों को नहीं। तोते अभी इतने बिगड़े नहीं। अभी जीवन इतना खराब नहीं हुआ। चिंतित हुआ, कुछ समझ में न आया, सोचा मुल्ला नसरुद्दीन से पूछ लूं, बुजुर्ग आदमी हैं, बूढ़े आदमी हैं, जीवन देखा है, परखा है, बाल ऐसे ही सफेद नहीं किए हैं। नसरुद्दीन को बुलाया। मुल्ला ने अपने चश्मे को ठीक-ठाक किया, तोते के पिंजरे के चारों तरफ घूमा, ठीक से निरीक्षण किया, विचार किया काफी। फिर कहा, भाईजान, पिंजरे में आपने हिंदुस्तान का नक्शा क्यों बिछाया है? पड़ोसी ने कहा, मल-मूत्र नीचे न

गिरे, इसलिए मैं सदा अखबार बिछा देता हूं। और जब से इमरजेंसी समाप्त हो गयी है, अखबारों में भी हड़ताल होने लगी है। तो सात दिन पहले अखबार की हड़ताल थी, अखबार आया नहीं, तो मैंने यह हिंदुस्तान का नक्शा बिछा दिया। क्या इसमें कोई गलती हो गयी? क्या मैंने कोई भूल-चूक की? इसमें आपको कोई एतराज है?
मुल्ला हंसा और बोला, बड़े मियां, एतराज नहीं, समस्या सुलझ गयी। तोते आदमियों जैसे जड़ नहीं होते, तोते बुद्धिमान होते हैं और संवेदनशील भी होते हैं। हिंदुस्तान जितना मल-मूत्र सह सकता था, सह चुका। और ज्यादा सहने की इसकी क्षमता नहीं है। यही देख बेचारा तोता मल-मूत्र साधे योगी बना बैठा है। हटाओ यह हिंदुस्तान का नक्शा!
तुम्हारे उपदेश, तुम्हारे उपदेष्टा, तुम्हारे सलाह देने वाले, तुम्हारे तथाकथित धर्मगुरु, तुम्हारी खोपड़ी को खूब कचरे से भर चुके हैं। जितनी सलाहें इस देश में दी गयी हैं उतनी और कहीं नहीं दी गयीं। इस देश की दुर्गति का यही बड़े से बड़ा कारण है। और जो सलाह दे रहा है, वह इसकी फिकर ही नहीं करता कि उसके जीवन में सलाह के लिए कोई प्रमाण नहीं है। उसका जीवन झुठला रहा है। वह जो कह रहा है, ठीक उससे उलटा उसका जीवन कह रहा है।
इसे तुम समझना। बड़ों की तो बात छोड़ दो, छोटे-छोटे बच्चे भी तुम क्या कहते हो यह नहीं सुनते, तुम क्या करते हो इसे सुन लेते हैं। मां-बाप क्या कहते हैं बच्चे को, इससे थोड़े ही बच्चा प्रभावित होता है। मां-बाप क्या करते हैं, इससे प्रभावित होता है। बच्चा देखता रहता है। तुम लाख कहो कि झूठ मत बोलो, लेकिन बच्चा झूठ बोलेगा। क्योंकि तुम झूठ बोलते हो। तुम लाख कहो कि निर्भीक रहो, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता।
मैंने सुना है, एक छोटा बच्चा भागा घर के भीतर आया और उसने अपनी मां से कहा--मम्मी, मम्मी, एक शेर चला आ रहा है। चौंककर उसकी मां ने देखा, एक मरियल सा कुत्ता चला आ रहा था। उसकी मां ने कहा कि हद्द हो गयी झूठ की, यह शेर है? कितनी दफा कहा, लाख दफे समझा चुकी हूं कि झूठ मत बोलो। चलो इसी वक्त आंख बंद करो और भगवान से प्रार्थना करो और क्षमा मांगो। बेटा बैठ गया पालथी लगाकर, आंख बंद करके। थोड़ी देर बाद उठा और बोला, क्षमा मांग ली। मां ने पूछा, क्या हुआ, क्या तुमने कहा? उसने कहा, मैंने कहा कि हे प्रभु, एक कुत्ता आ रहा था और मैंने अपनी मम्मी को कहा कि शेर आ रहा है, मेरी मम्मी बहुत नाराज हो गयी, कहती है झूठ नहीं बोलना चाहिए, आपका क्या विचार है? प्रभु बोले, अरे बेफिकर रह, जब मैं छोटा था तो मैं भी अपनी मम्मी को ऐसे ही कुत्ते को शेर कहकर डराया करता था।
बच्चा जानता है, तुम्हारा ईश्वर भी झूठा! किससे प्रार्थना करने को कह रहे हो उसे। उसने कुत्ते को शेर कहा, इसमें तो शायद थोड़ी सच्चाई भी हो, लेकिन किस ईश्वर से आंख बंद करके उससे तुम प्रार्थना करने को कह रहे हो? कोई भी नहीं है वहां। कुत्ते को शेर कहा, थोड़ी अतिशयोक्ति की, और आंख बंद करके तो कोई भी नहीं है वहां, किसको तुम भगवान कह रहे हो! न तुम्हें अनुभव है, न किसी को अनुभव है, झूठ पर और महाझूठ की पर्तें जमाए जा रहे हो।
बच्चे देखते हैं, सब तरफ झूठ चल रहा है। बाप कहता है कि झूठ मत बोलना
और फिर कह देता है--कोई दरवाजे पर आया, किराएदार आ गया--तो पहुंचा देता है बेटे को, कह दो कि पिताजी घर में नहीं हैं। अब बेटा देख रहा है कि यह बात झूठ है। इस सब का क्या अर्थ होता है? इसका अर्थ होता है कि जब कहना हो तो यही कहो कि झूठ नहीं बोलना चाहिए और जब बोलना हो तो जिसमें लाभ हो वही बोलो। यह बात इतनी स्पष्ट है, यह संदेश इतना साफ है।
छोटे बच्चे तक तुम्हारे सत्य को देख लेते हैं, तो बड़े--जो काफी बेईमान
हो गए, जिन्होंने जीवन में काफी अनुभव कर लिया है--वे तुम्हारे सत्य को न देख पाएंगे?
ऐसा हुआ, दक्षिण की एक कथा है। दक्षिण में एक बड़े प्रसिद्ध पंडित हुए, पंडित मणि। पंडित मणि कदिरेश चेट्टियार भगवान मुरुगन कार्तिकेय के भक्त थे। एक दिन उनके यहां एक भगत आया। वह गले में रुद्राक्ष की माला पहने, माथे पर भस्म रमाए हुए था और मुंह से मुरुगा-मुरुगा की रट लगा रहा था। उसने पंडित मणि से कहा, मैं भगवान मुरुगन का मंदिर बनवाने की सोच रहा हूं, कल

रात भगवान ने स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि चिंता मत करो, पंडित मणि के पास जाओ, तुम्हें जो कुछ भी चाहिए वे देंगे। पंडित मणि ने इस पर भगत से बड़ी विनम्रता से प्रार्थना की कि रातभर मेरे यहां रहिए, सुबह बातें होंगी। सबेरे उन्होंने भगत को बुलाकर बताया, महाराज, रात को भगवान ने मुझे भी दर्शन दिए हैं और कहा कि सामने वह जो ताड़ है, उसके नीचे पांच फुट की गहराई पर खजाना गड़ा हुआ है, उसे निकालकर भगत के हवाले कर दो। अगर वहां गुप्त खजाना न मिले तो? भगत ने शंका की। महाराज, पंडित मणि ने कहा, मुझे भी यही शंका हुई थी और मैंने हिम्मत करके भगवान मुरुगन से पूछ भी लिया। उन्होंने फौरन उत्तर दिया कि अगर वहां खजाना न मिले तो वहां भगत जी को गाड़ दो। यह सुनना था कि बगुला भगत लोटा-सोटा उठाकर वहां से भाग गया।
न तुम्हें भरोसा है तुम्हारे भगवान का, न तुम्हारे बच्चों को आएगा, न तुम जिनको सलाह देते हो उन्हें आएगा। तुम्हारा जीवन तुम्हारी कथा कहता है। तुम झूठ चला नहीं सकते। झूठ पकड़ा ही जाएगा।
अब तुम कहते हो कि "सलाह देने में मैं ब.ड़ा कुशल हूं।"
यह कुशलता महंगी पड़ रही है। यह कुशलता छोड़ो। इस कुशलता से किसी को लाभ नहीं हुआ, हालांकि तुम्हारा जीवन व्यर्थ जाएगा। इस कुशलता के कारण कोई तुम्हें कभी धन्यवाद नहीं देगा। लोग सिर्फ ऊबते होंगे तुम्हारी सलाह से। क्योंकि जब तक कोई सलाह मांगे नहीं, तब तक देना मत। और जब कोई सलाह मांगे, तो तभी देना जब तुम्हारे जीवंत अनुभव से निकलती हो। तो किसी के काम पड़े। तो किसी के जीवन में राह बने। तो किसी के अंधेरे में दीया जले।
ये दो कसौटी ख्याल रख लेना। पहले तो बिन मांगी सलाह देना मत। क्योंकि बिन मांगी सलाह कोई पसंद नहीं करता, अपमानजनक है। बिन मांगी सलाह का मतलब होता है कि तुम दूसरे को अज्ञानी सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हो। दूसरे के अहंकार को चोट लगती है। वह तुमसे बदला लेगा। तुम्हारी सलाह से उसे तो कोई लाभ न होगा, शायद तुम्हें हानि पहुंचाए। सलाह देने वालों को लोग माफ नहीं कर पाते।
तो पहले तो बिन मांगी सलाह देना मत। और सौ में निन्यानबे सलाहें बिन मांगी दी जाती हैं। फिर अगर कोई मांगे भी, तो विचार कर लेना कि तुम्हारी अपनी अनुभूति क्या है। अपनी अनुभूति के विपरीत सलाह मत देना। अगर तुम ये दो बातें करने में सफल हो जाओ तो न तो तुम किसी को हानि पहुंचा सकोगे, न तुम किसी का अपमान करोगे, न तुम लोगों का मन व्यर्थ कचरे से भरोगे। यह कुशलता छोड़ो! यह कुशलता काम की नहीं है! यह गले में फांसी है तुम्हारे। और अगर ये दो बातें तुमने ध्यान में रखीं तो तुम्हारे जीवन में धीरे-धीरे निखार आएगा, क्योंकि तुम वही करोगे जो कहोगे, और वही कहोगे जो तुम करोगे।
जब किसी व्यक्ति के जीवन में कृत्य में और विचार में तालमेल हो जाता
है तो परम संगीत पैदा होता है। नहीं तो ऐसा ही समझो कि तबला एक ढंग से बज रहा है और सितार एक ढंग से बज रहा है, दोनों में कोई तालमेल नहीं है। बेसुरापन है। ऐसे तुम्हारे विचार एक ढंग से चल रहे हैं और तुम्हारा जीवन एक ढंग से चल रहा है। दोनों में कोई तालमेल नहीं है। बैलगाड़ी में जुते बैल, एक इस तरफ को जा रहा है, एक उस तरफ को जा रहा है; और बैलगाड़ी की दुर्दशा हुई जा रही है। जीवन में संगीत तभी पैदा होता है, शांति तभी पैदा होती है, सुख तभी पैदा होता है, जब तुम्हारे विचार और जीवन में एक तालमेल होता है, एक सामंजस्य होता है, एक समन्वय होता है।
वही कहो जो तुमने जाना हो। ईमानदार बनो। अगर तुमने ईश्वर को नहीं जाना है तो भूलकर किसी से मत कहना कि ईश्वर है। कहना कि मैं खोजता हूं, अभी मुझे मिला नहीं, तो कैसे कहूं! मिल जाएगा तो निवेदन करूंगा। या इसके पहले तुम्हें मिल जाए तो मुझ पर दया करना, मुझे खबर देना। अपने छोटे बच्चों से भी यही कहना कि ईश्वर को खोजता हूं, अभी मुझे मिला नहीं। बेटे, शायद तुझे मिल जाए, मुझसे पहले मिल जाए--कौन जाने--तो मुझे याद रखना, मुझे बता देना। तेरा पिता अभी भी अंधेरे में है! तेरी मां अभी भी भटकती है!
काश, तुम अपने बच्चों के प्रति इतने सच्चे हो सको, अपने पड़ोसियों के प्रति इतने सच्चे हो सको, अपने मित्र-प्रियजनों के प्रति इतने सच्चे हो

सको, तुम सोचते हो, तुम्हारे जीवन में कैसी न सुगंध आ जाएगी! कैसे न तुम सुंदर हो उठोगे!
यह कुशलता छोड़िए। और सबसे पहले तो जो तुम किसी से कहने चले हो, उसे परखो, जांचो, उसे जीवन की कसौटी पर कसो, वह सच भी है! हां, तुम्हें लगे कि सच है, तुम्हें उससे रस मिले, तुम्हारे जीवन में आनंद बहे, तुम्हारे जीवन में थोड़ी रोशनी हो, थोड़ा साफ-साफ दिखने लगे, तुम्हारी आंखों का धुंधलका मिटे, फिर तुम जरूर कह देना। स्वभावतः, जब तुम्हें दिखायी पड़ेगा, तो जिन्हें तुम प्रेम करते हो, उनसे तुम निवेदन करना चाहोगे। लेकिन अभी तो अक्सर यही होता है कि तुम दूसरों को सलाह इसलिए देते हो, सिर्फ यही सिद्ध करने को कि मैं तुमसे ज्यादा ज्ञानी हूं, मुझे ज्यादा पता है।
मैं छोटा था तो मेरे गांव में एक बड़े पंडित थे, मेरे पिता के मित्र थे। मैं पिता का सिर खाया करता, कोई भी सवाल उठाता। मगर वह ईमानदार आदमी हैं, उनकी ईमानदारी के कारण मेरे मन में उनके प्रति अपार श्रद्धा है। वह मुझसे कहते, मुझे पता नहीं, तुम पंडितजी के पास चलो। पंडितजी के प्रति मेरे मन में कोई श्रद्धा कभी पैदा नहीं हुई। क्योंकि मुझे दिखता नहीं कि वह जो कहते थे, उसमें जरा भी सचाई थी। उनके घर जाकर मैं बैठकर उनका निरीक्षण भी किया करता। वह जो कहते थे उससे उनके जीवन का कोई तालमेल न था। लेकिन बड़ी ब्रह्मज्ञान की बातें करते थे। ब्रह्मसूत्र पर भाष्य करते थे। और जब मैं उनसे ज्यादा विवाद करने लगता तो वह कहते, ठहरो; जब तुम बड़े हो जाओगे, उम्र पाओगे, तब यह बात समझ में आएगी। मैंने कहा, आप उम्र की एक तारीख तय कर दें। अगर आप जीवित रहे तो मैं निवेदन करूंगा उस दिन आकर। मुझे टालने के लिए उन्होंने कह दिया होगा--कम से कम इक्कीस साल के तो हो जाओ।
जब मैं इक्कीस का हो गया, मैं पहुंच गया। मैंने कहा, कुछ भी मुझे अनुभव नहीं हो रहा है जो आप बताते हैं; इक्कीस साल का हो गया, अब क्या इरादा है? अब कहिएगा बयालीस साल के हो जाओ! बयालीस साल का हो जाऊंगा तब आगे की बता देना। टालो मत! तुम्हें हुआ हो तो कहो कि हुआ, नहीं हुआ हो तो कहो कि नहीं हुआ। उस दिन न-मालूम कैसे भाव की दशा में थे वे, कोई और था भी नहीं। नहीं तो उनके भक्त बैठे रहते थे, भक्तों के सामने और कठिन हो जाता। उस दिन उन्होंने आंख बंद कर लीं, उनकी आंख से दो आंसू गिर पड़े। उस दिन मेरे मन में उनके प्रति श्रद्धा पैदा हुई।
उन्होंने कहा, मुझे क्षमा करो, मैं झूठ ही बोला था, मुझे भी कहां हुआ है। टालने की ही बात थी। उस दिन भी तुम छोटे थे लेकिन तुम पहचान गए थे, क्योंकि मैं तुम्हारी आंखों से देख रहा था, तुम्हारे मन में श्रद्धा पैदा नहीं हुई थी। तुम भी समझ गए थे, मैं टाल रहा हूं कि बड़े हो जाओ। मुझे भी पता नहीं है। उम्र से इसका क्या संबंध! सिर्फ झंझट मिटाने को मैंने कहा था। मैंने कहा, आज मेरे मन में आपके प्रति श्रद्धा का भाव पैदा हुआ। अब तक मैं आपको निपट बेईमान समझता था।
ख्याल रखना कि तुम जो भी सलाह तुम्हारे जीवंत अनुभव से नहीं प्रगटी है, देते हो, उससे तुम बेईमान समझे जाते हो, ईमानदार नहीं। वही कहो जो जाना है। तब कितना कम कहने को रह जाता है! कभी सोचा? कितना कम रह जाता है कहने को! एक पोस्टकार्ड पर लिख सकते हो, इतना कम बचता है। सब कूड़ा-करकट हट जाता है। और तुम चकित हो जाओगे, उस छोटे से पोस्टकार्ड पर लिखी गयी बातें इतनी बहुमूल्य हो जाती हैं। एक-एक बात का वजन ऐसा हो जाता है जैसा हिमालय का वजन हो। तुम जिसे दोगे, वह कृतकृत्य होगा!
पूछते हो, "दूसरे को सलाह देना इतना सरल क्यों होता है?"
इसमें कठिनाई है भी क्या? तुम्हें करना नहीं है, करे तो दूसरा, फंसे तो दूसरा; न करे तो पछताए, करे तो पछताए। मुसीबत तुमने दूसरे की ख.ड़ी कर दी। तुम्हें क्या अड़चन है? तुम्हें दूसरे पर दया भी नहीं है। सिर्फ दयाहीन मुफ्त सलाह देते हैं। तुममें करुणा भी नहीं है। तुम्हें दूसरे के प्रति सहानुभूति भी नहीं है।
मैंने सुना, मुल्ला की पत्नी चौके के बाहर आयी और उसने कहा, नसरुद्दीन, आज मेरे दांत में बहुत दर्द है। नसरुद्दीन ने अखबार से आंखें उठायीं, बड़ी बेरुखी से, बेमन से, और कहा, तो निकलवा दो। मेरे दांत में होता

तो मैं तुरंत ही निकलवा देता। पत्नी ने कहा, हां जी, लेकिन यह तुम्हारा दांत थोड़े ही है! तुम्हारा होता तो मैं भी उसे निकलवाने में कोई कोर-कसर उठा न रखती।
अपना दांत निकलवाना हो, तो अड़चन होती है। दूसरे का दांत निकलवाना हो, इसमें सलाह देने में क्या अड़चन है? दूसरे को सलाह देने में अड़चन नहीं है। इसीलिए मैं कहता हूं, सोचकर देना। कच्ची मत दे देना। ऐसे ही मत दे देना। टालने को मत दे देना। व्यर्थ ज्ञान का प्रभाव दिखाने को मत दे देना। थोथे आडंबर के कारण मत दे देना। पीड़ा से देना, सोचकर देना, अनुभव करके देना; उसके साथ सहानुभूति रखकर देना।
तो तुम पाओगे कि तुम्हारी हर सलाह दूसरे को बदले न बदले, तुम्हें बदलती है। तुम अपनी हर सलाह में पाओगे कि तुम्हारा जीवन निखरता है। हर सलाह तुम्हारे जीवन पर छेनी की एक चोट बनेगी। तुम्हारी प्रतिमा ज्यादा साफ उभरेगी।
भीड़ में ऐसे कोई इंसान की बातें करे
जैसे पत्थर के बुतों में जान की बातें करे
झूठ को सच पर जहां तरजीह देना आम हो
कौन होगा जो वहां पर ज्ञान की बातें करे
है तो खुशफहमी महज लेकिन बहस से फायदा
है तो खुशफहमी महज लेकिन बहस से फायदा
शापग्रस्तों से कोई वरदान की बातें करे
मंजिलों की ओर बढ़ना है तो चलते ही रहो
लाख दुनिया गर्दिशो-तूफान की बातें करे
जो स्वयं चल पाए कांधे पर लिए अपनी सलीब
हक बजानिब है वही ईमान की बातें करे
जब तक अपने कंधे पर अपनी सूली लेकर तुम न चले होओ, तब तक ईमान की बातें करना ही मत। जब तक धर्म के रास्ते पर तुमने तकलीफ न उठायी हो, तब तक धर्म की बात करना ही मत। जब तक प्रभु के चरणों में तुमने अपना सिर काटकर न चढ़ाया हो, तब तक प्रभु-अनुभव की बात करना ही मत। जब तक अपने मन को राख करके समाप्त न कर दिया हो, तब तक ध्यान-समाधि की बात करना ही मत।
जो स्वयं चल पाए कांधे पर लिए अपनी सलीब
हक बजानिब है वही ईमान की बातें करे
तब तुम्हें हक मिलता है। नहीं तो गैर-अधिकार बात है। हिंसा है। इसे रोको। इसे छोड़ो। इस जाल को तोड़ो, इसके बाहर आओ। तुम्हारा जीवन ही तब सलाह बन जाता है। तुम्हारे उठते-बैठते से लोगों को किरणें मिलेंगी। तुम्हारी आंख का इशारा पर्याप्त होगा।
अभी तुम लाख सिर मारो, तुम जब कह रहे हो बड़े बल से, तब भी तुम्हारे भीतर
की निर्बलता साफ जाहिर होती है। तुम लड़खड़ा रहे हो। तुम कह रहे हो श्रद्धा की बात और भीतर संदेह खड़ा है। इस श्रद्धा में श्रद्धा जैसा कुछ भी नहीं है।
गुरजिएफ का एक बड़ा शिष्य आस्पेंस्की जब पहली दफा उसे मिला तो गुरजिएफ
ने आस्पेंस्की से कहा, यह कोरा कागज है, इस पर तू एक तरफ लिख ला कि क्या तू जानता है और दूसरी तरफ लिख ला कि क्या तू नहीं जानता है। आस्पेंस्की ने कहा, क्यों? तो गुरजिएफ ने कहा, ताकि जो तू जानता है, उसकी बात हम कभी न करेंगे--जब तू जानता ही है तो उसकी हम बात क्यों करें? जो तू नहीं जानता, उसकी बात करेंगे। जो तू नहीं जानता, वह मैं जनाने की कोशिश करूंगा; जो तू जानता है, वह समाप्त हो गयी बात।
सोचते हो, किस कठिनाई में पड़ गया होगा आस्पेंस्की! ले तो लिया कागज हाथ में, बगल की कोठरी में चला गया। सर्द रात थी और बर्फ पड़ रही थी बाहर, लेकिन उसे पसीना आने लगा। कलम तो उठा ली, लेकिन लिखने को कुछ न सूझे--क्या जानता हूं?
और आज बात बड़ी महंगी थी--सस्ती नहीं थी--क्योंकि एक दफा लिख दिया इस कागज पर, तो वह तो जानता है गुरजिएफ को कि वह आदमी ऐसा है कि अगर लिख दिया कि ईश्वर को जानता हूं, तो फिर ईश्वर की बात न करेगा! लिख दिया कि ध्यान को

जानता हूं, तो फिर ध्यान की बात न करेगा। लिख दिया कि प्रेम को जानता हूं, तो फिर प्रेम की बात न करेगा। आज बड़ी कठिन थी बात। बड़ी कठिन घड़ी थी। महंगा था यह सौदा। आज सोचकर ही लिखना था। खूब सोचने लगा, प्रेम को जानता हूं? ध्यान को जानता हूं? धर्म को जानता हूं? ईश्वर को, आत्मा को, क्या जानता हूं? उसने बड़ी किताबें लिखीं थीं इसके पहले--आस्पेंस्की ने--जगतख्याति थी उसकी। गुरजिएफ को तो कोई जानता भी न था, एक गरीब फकीर! लेकिन आस्पेंस्की जगतख्यात था, उसकी किताबें सारी दुनिया में थीं, अनेक भाषाओं में अनुवादित हो चुकी थीं, लोग उसे ज्ञानी की तरह मानते थे।
यह ज्ञानी लेकिन आदमी ईमानदार रहा होगा। एक घंटेभर बाद वापस आया, इसने कोरा कागज गुरजिएफ के हाथ में दे दिया और कहा, मुझे कुछ भी पता नहीं है, आप अ, ब, स से शुरू करें। मैं निपट अज्ञानी हूं, इससे बात शुरू करें। गुरजिएफ ने कहा, तब कुछ हो सकता है। मैं सोच रहा था कि तूने कितना अज्ञान अपनी किताबों में बघारा है! कितनी बातें तू लोगों को सलाह देता रहा है! आज कसौटी हो जाएगी कि तू आदमी ईमानदार है या नहीं? तू ईमानदार है। मैं तुझे स्वीकार करता हूं। तू इस रास्ते पर बढ़ सकेगा।
जगत की बड़ी से बड़ी ईमानदारी इस बात में है कि हम स्वीकार करें कि हमें मालूम नहीं है। जो स्वीकार करते हैं कि हम अज्ञानी हैं, किसी दिन ज्ञानी हो सकते हैं। जो स्वीकार करने में झिझकते हैं, जो थोथे और झूठे ज्ञान को अपना ज्ञान दावा करते रहते हैं, उनके ज्ञानी होने की कोई संभावना नहीं है।

दूसरा प्रश्नः ट्रांजेक्शनल एनालिसिस के बारे में बोलते हुए आपने कहा कि अगर इस विधि के खोजने वालों को भगवान बुद्ध का मातरम पितरम हंत्वा वाला सूत्र मिल जाए तो यह विधि अपूर्व रूप से उपयोगी हो जाए। इस पर कुछ और प्रकाश डालने की कृपा करें!

मनुष्य जब पैदा होता है, तो कोरे कागज की तरह पैदा होता है। मनुष्य जब पैदा होता है, तो शुद्ध निर्मलता की तरह पैदा होता है। मनुष्य जब पैदा होता है, तो पूर्ण स्वतंत्रता की तरह पैदा होता है। बेशर्त। उस पर कोई सीमा नहीं होती, कोई मर्यादा नहीं होती--अमर्याद, असीम। मनुष्य जब पैदा होता है, तो आत्मा की तरह पैदा होता है। फिर समाज, परिवार, पिता, माता, शिक्षक, स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय, सब मिलकर इस आत्मा के आसपास मन की एक पर्त खड़ी करते हैं। मन की एक दीवाल बनाते हैं।
ध्यान रखना, मन समाज द्वारा निर्मित होता है। आत्मा तुम्हारी है, शरीर प्रकृति का है और मन समाज का है। मन बिल्कुल उधार और बासी चीज है। शरीर भी सुंदर है, क्योंकि प्रकृति का सौंदर्य है उसमें--झरनों की कलकल है तुम्हारे खून में, मिट्टी की सुगंध है तुम्हारी देह में, जैसे आकाश के तारे हैं ऐसी ऊर्जा है तुम्हारे प्राण में; तुम्हारा शरीर निसर्ग से आया, वह प्राकृतिक है। वह प्रकृति है। तुम्हारी आत्मा परमात्मा से आयी। दोनों सुंदर हैं, दोनों अपूर्व रूप से सुंदर हैं। दोनों के बीच में एक दीवाल है मन की। मन समाज द्वारा निर्मित है। मन तुम्हारे शरीर को भी दबाता है और तुम्हारी प्रकृति को धीरे-धीरे विकृति बना देता है। मन तुम्हारी आत्मा को भी दबाता है, घेरता है और कारागृह में बंद कर देता है।
मन के दो काम हैं--शरीर की प्रकृति को नियंत्रित कर लेना और आत्मा की अबाध स्वतंत्रता को कारागृह में डाल देना।
सारे धर्म का इतना ही सूत्र है, मन से कैसे मुक्त हो जाएं। जो समाज ने किया है, धर्म उसे नकारता है। बुद्धपुरुषों का इतना ही उपयोग है, सदगुरु के पास होने का इतना ही प्रयोजन है कि जो समाज ने तुम्हारे साथ कर दिया है, सदगुरु उसे धीरे-धीरे हटाता है, तुम्हें सहयोग देता है कि तुम हटा दो। समाज ने जो दीवाल तुम्हारे तरफ चुन दी है मन की, विचारों की, उसकी एक-एक ईंट खिसका देता है।
जिस दिन मन विसर्जित हो जाता है, उसी दिन समाधि लग जाती है। जिस दिन शरीर नैसर्गिक और आत्मा स्वतंत्र, इन दोनों के मध्य समाधि का स्वर उठता

है। यह जो चीन की दीवाल है--मन--यह दोनों को अलग किए है। अ-मन समाधि का सूत्र है, नो-माइंड, उन्मन। मन से मुक्त हो जाना ध्यान का अर्थ है।
तो सारे धर्म की आधार-शिला एक ही है कि समाज ने जो किया है, उसे कैसे अनकिया किया जा सके। तुम फिर से कैसे उस जगह पहुंच जाओ जहां तुम पैदा हुए थे। तुम्हारी आंखें फिर कैसे उसी तरह निर्धूम और निर्धूल हो जाएं, जैसी जब तुम पहली दफा मां के पेट से जन्मे थे और आंखें खोली थीं उस क्षण थीं। कोई पर्दा न था। तुम्हारे कान फिर कैसे वैसे ही खुल जाएं जैसे पहली दफा जब तुमने ध्वनि सुनी थी तब थे। तुम्हारा स्पर्श कैसे फिर उतना ही संवेदनशील हो जाए जैसा पहले दिन था जब तुम जन्मे थे। तुम फिर कैसे उसी तरह मुक्त सांस लेने लगो, जैसी तुमने पहली सांस ली थी। तुम फिर कैसे वैसे ही हंसो-- क्वांरे--तुम फिर कैसे वैसे ही रोओ--क्वांरे--कैसे तुम क्वांरे हो जाओ, कैसे समाज ने तुम पर जो-जो थोपा है वह फिर से हटा लिया जाए।
समाज के इस आरोपण में माता-पिता ने बहुत बड़ा हाथ बंटाया है, क्योंकि
वे ही तुम्हारा पहला समाज थे। फिर तुम्हारे भाई-बहन थे, फिर तुम्हारे पड़ोसी थे, फिर स्कूल था, फिर कालेज था, फिर युनिवर्सिटी थी, फिर यह सारा विस्तार था--पर्त दर पर्त; जैसे कि प्याज होती है, एक पर्त के ऊपर दूसरी पर्त जमती चली गयी है। अब तो तुम खो ही गए हो भीड़-भड़क्के में। अब तो तुम्हें पता ही नहीं चलता कि तुम कौन हो। अब तो तुम्हें पूछना पड़ता है कि मैं कौन हूं। वर्षों चेष्टा करोगे कि मैं कौन हूं, तब कहीं तुम्हें उत्तर आएगा। क्योंकि जहां से उत्तर आ सकता है उसमें और तुम्हारे बीच इतना अंतराल हो गया है, और इतनी दीवालें, और इतने पर्दे, और इतनी अड़चनें, इतनी बाधाएं हो गयी हैं। धर्म का अर्थ है, इन बाधाओं को कैसे हटाएं।
इसका यह अर्थ नहीं होता कि हम बच्चे को इस तरह पाल सकते हैं कि उस पर कोई पर्दे ही न पड़ें। यह असंभव है। समझना इसे। मेरी बात सुनकर बहुत बार ऐसा लग जाता है, तो फिर हम बच्चों को कोई संस्कार क्यों दें? संस्कार देने से बचा नहीं जा सकता। संस्कार देने ही पड़ेंगे। अनिवार्य बुराई है।
नेसेसरी इविल।
आखिर बच्चा आग की तरफ जा रहा होगा तो रोकना ही पड़ेगा कि मत जाओ। संस्कार मिलेगा। अंधेरी रात में बच्चा बाहर जाना चाहेगा तो मां को कहना पड़ेगा कि मत जाओ, खतरा है; भय पैदा होगा, निर्भय पर सीमा बन जाएगी भय की।
जहर घर में रखा होगा तो दूर रखना पड़ेगा, बच्चे के हाथ तक न पहुंच जाए। हाथ पहुंच जाए तो झटके से छीन लेना होगा। बच्चा अपने को नुकसान पहुंचा सकता है, दूसरे को नुकसान पहुंचा सकता है। ये सारी बातें रुकावट डालनी होंगी। बच्चे को संस्कार देने होंगे। बच्चे को अनुशासन देना होगा। हर कहीं खड़े होकर मल-मूत्र विसर्जन करे तो रोकना होगा; समय पर, ठीक स्थान पर मल-मूत्र विसर्जन करे, इसकी शिक्षा देनी होगी, टायलेट ट्रेनिंग देनी होगी। समय पर भोजन मांगे, दिनभर भोजन न करता रहे; हर घड़ी, हर कहीं, हर कोई काम न करने लगे; एक विवेक देना होगा। इससे बचा नहीं जा सकता। यह करना ही होगा। कम-ज्यादा, ऐसा-वैसा, लेकिन यह होगा ही। यह अनिवार्य है।
और धर्म जो कहता है, वह भी बात महत्वपूर्ण है। जब यह सारी की सारी व्यवस्था निर्मित हो जाएगी, तो एक दिन इसे तोड़ना भी इतना ही जरूरी है। फिर तोड़ा जा सकता है। जिसके भीतर अनुशासन आ गया, उसे अनुशासन से मुक्त किया जा सकता है।
इस बात को समझना, इसके विरोधाभास को समझना।
वस्तुतः उसे ही अनुशासन से मुक्त किया जा सकता है, जिसके भीतर अनुशासन आ गया। जब तक नहीं आया है, तब तक तो मुक्त नहीं किया जा सकता है।
जिसके भीतर समझ आ गयी, उसे फिर संस्कार से मुक्त किया जा सकता है।
इसलिए हमने इस देश में संन्यासी को सारे संस्कारों से मुक्त रखा। हमने उसके ऊपर वर्ण की बाधा नहीं मानी, आश्रम की बाधा नहीं मानी, संन्यासी होते ही समाज की सारी व्यवस्था के बाहर माना। सारी व्यवस्था का अतिक्रमण कर गया। जो संन्यस्त हो गया, उस पर अब कोई रुकावट नहीं, कोई बाधा नहीं, उसकी स्वतंत्रता परम है। न शास्त्र रोकता है, न संस्कृति, न समाज। क्यों? क्योंकि हमने यह जाना कि संन्यस्त होने का अर्थ ही यही होता है कि कम से कम

समझ पैदा हो गयी, अपनी समझ पैदा हो गयी, अब ऊपर से रोपी गयी समझ की कोई जरूरत नहीं है।
ऐसा ही समझो कि बच्चा चलना शुरू करता है तो मां उसका हाथ पकड़ती है, चलाती है। यह हाथ सदा नहीं पकड़े रहना है। एक दिन पकड़ना पड़ता है, एक दिन छोड़ना भी पड़ता है। अगर मां बहुत दया में इस हाथ को पकड़े ही रहे तो दुश्मन है। जब बच्चा चलना सीख जाए, तो जैसे एक दिन मां ने दया करके बच्चे का हाथ पकड़ा था, ऐसे ही दया करके हाथ हटा भी लेना होगा। नहीं तो यह बच्चा जवान हो जाएगा और मां इसका हाथ पकड़े फिरेगी--यह कभी प्रौढ़ ही न हो पाएगा। बहुत सी माताएं ऐसा करती हैं। बहुत से पिता ऐसा करते हैं। उनके बच्चे मुर्दा रह जाते हैं--गोबर-गणेश।
सहारा दो, पर सहारा जरूरत से ज्यादा मत दे देना। सहारा देना इसीलिए कि किसी दिन व्यक्ति बेसहारा खड़ा हो सके। अपने पैर पर खड़ा हो सके। नियम देना, ताकि नियम से मुक्त हो सके। संयम देना, ताकि संयम से मुक्त हो सके। सब समझा देना, जब उसकी सब समझ साफ हो जाए, तो उससे कहना, अब समझ भी छोड़ दे, अब तू मुक्त हो सकता है।
यह दूसरी बात नहीं हो पाती। पहली बात हो जाती है, दूसरी अटक जाती है। ट्रांजेक्शनल एनालिसिस का इतना ही अर्थ है कि यह दूसरी बात हो जाए। जो मां एक दिन तुम्हारा हाथ पकड़ ली थी, वह पकड़े ही न रह जाए, उसका हाथ एक दिन छोड़ना जरूरी है। अगर उसने न छोड़ा हो तो तुम छोड़ना। तुम्हें वह हाथ से मुक्त हो जाना जरूरी है। तुम्हारे पिता ने एक दिन तुम्हें सुरक्षा दी थी, तुम्हें सब तरफ से घेरकर सुविधा दी थी, एक दिन वह घेरा तोड़ देना। अगर पिता तोड़ने को राजी न हों तो तुम तोड़ देना। वह तोड़ना जरूरी है, अन्यथा तुम घेरे में आबद्ध मर जाओगे। वह घेरा तुम्हारी कब्र हो जाएगा।
देखते न, एक पौधे को लगाते... मुक्ता यहां बगीचे में पौधा लगाती है, तो उसके सहारे के लिए एक बांस लगा देती है। फिर ऐसा हुआ कि यह यूक्लिप्टस यहां पास में है, इसका बांस लगा ही रहा। वह यूक्लिप्टस बड़ा हो गया है, लेकिन प्रौ.ढ़ नहीं हो पा रहा। छप्पर से ऊपर उठ गया है, लेकिन बिना बांस के गिर जाता है। उसमें रीढ़ पैदा नहीं हो पायी। बांस जरूरत से ज्यादा लगा रह गया। अब कोई उपाय नहीं दिखता कि अब क्या किया जाए! अब बांस को हटाओ तो गिरता है, मर जाएगा। बांस को न हटाओ तो खतरा है--क्योंकि अब, अब बांस की जरूरत नहीं है, यह बांस हट जाना चाहिए था। ऐसी हालत बहुत लोगों की है। छोटा वृक्ष होता है, उसके चारों तरफ हम बागुड़ लगा देते हैं, कटघरा खड़ा
कर देते हैं--सुरक्षा के लिए--फिर एक दिन कटघरे को अलग कर लेना होता है। हम अलग न करें तो वृक्ष तोड़कर आगे बढ़ जाता है।
ऐसी ही अवस्था मनुष्य की है। मनुष्य एक छोटा पौधा है। बच्चा एक बहुत नाजुक घटना है। उसके आसपास सब तरह की सुरक्षा चाहिए। लेकिन धीरे-धीरे सुरक्षा हटनी चाहिए। तो ही बच्चा बलशाली होगा, तो ही उसके भीतर रीढ़ पैदा होगी। इसलिए अक्सर ऐसा होता है कि बड़े घरों के बेटे बिना रीढ़ के होते हैं। जिनके पास खूब सुख-सुविधा है, उनके बच्चे मुर्दा होते हैं।
तुमने देखा होगा, बड़े घरों में प्रतिभाशाली लोग पैदा नहीं होते। प्रतिभा पैदा ही नहीं होती। जितना धन-पैसा हो किसी घर में, उतने ही बुद्धू पैदा होते हैं। प्रतिभा के लिए चुनौती चाहिए। अमीर का बेटा, चुनौती ही नहीं है उसके लिए, वह कहता है, जो चाहिए वह मुझे मिला ही हुआ है; अब और क्या करना है! पढ़-लिखकर भी क्या होगा! विश्वविद्यालय में सिर मारने से भी क्या फायदा है!
मैंने सुना है, हेनरी फोर्ड--अमरीका का बड़ा करोड़पति--अपने बेटों को गरीबों की तरह पाला। फोर्ड के बड़े मोटर-कारखाने के सामने उसके बेटे छोटे जब थे तो जूते पर पालिश करते थे। किसी ने हेनरी फोर्ड को कहा, यह तुम क्या कर रहे हो? उसने कहा कि मैं ऐसे ही जूते पालिश करता था, उस जूते पालिश करने से मैं हेनरी फोर्ड बना। अगर मेरे बच्चे अभी से हेनरी फोर्ड बन गए, तो एक दिन जूता पालिश करेंगे।
बात में बल है, बात सच है। आदमी कठिनाई से बढ़ता है, सुविधा से दब जाता,
मर जाता। अति सुविधा हितकर नहीं है। थोड़ी असुविधा भी होनी चाहिए, थोड़ी

सुविधा भी। और धीरे-धीरे सुविधा हटती जानी चाहिए और चुनौती बड़ी होती जानी चाहिए। हटा लो बांस, हटा लो बागुड़, ताकि वृक्ष उठे, तूफानों से टक्कर ले, अंधड़ों से जूझे; तो जड़ें मजबूत होंगी। तो उसके पैर जमीन में धंसेंगे और बल आएगा, आत्मविश्वास आएगा। यह भरोसा आएगा कि मैं तूफानों से जूझ सकता हूं, कि मैं चांद-तारों की यात्रा पर अकेला जा सकता हूं, कि मेरे पैर मजबूती से जमीन में गड़े हैं--यह पृथ्वी मेरी है, यह आकाश मेरा है।
ट्रांजेक्शनल एनालिसिस का बुनियादी आधार यही है कि एक दिन व्यक्ति को अपने मां-बाप से मुक्त होना चाहिए। बुद्ध का जो सूत्र है, मातरम पितरम हंत्वा, वह इसी का सूत्र है। बुद्ध कहते हैं, एक दिन माता-पिता की हत्या कर देनी चाहिए।
ठीक यही बात जीसस ने भी कही है। ईसाई भी इस बात को पकड़ नहीं पाए और बड़े शर्मिंदा हो जाते हैं; जब बाइबिल में यह वचन उनको दिखलाया जाता है तो वे बड़े परेशान हो जाते हैं। वे हल नहीं कर पाते। क्योंकि जीसस ने कहा है, जब तक तुम अपने माता-पिता को घृणा न करो, तुम मेरे शिष्य न हो सकोगे।
अब यह भी बात उस आदमी के मुंह से जो प्रेम का उपदेष्टा था; जिसने कहा, अपने दुश्मन को भी प्रेम करना; और जिसने कहा कि जो तुम्हारे एक गाल पर चांटा मारे उसके सामने दूसरा भी कर देना; और जिसने कहा कि जो तुम्हारा कोट छीन ले उसको कमीज भी दे देना, हो सकता है बेचारे को कमीज की भी जरूरत हो; और जो तुमसे एक मील बोझ ले जाने को कहे उसके साथ दो मील चले जाना, क्योंकि कौन जाने संकोचवश कह न रहा हो; शत्रु को भी अपने जैसा प्रेम करना; जिसने यह बात कही, उन्हीं ओंठों से यह दूसरी बात बड़ी अजीब लगती है कि जब तक तुम अपने मां- बाप को घृणा न करोगे, मेरे शिष्य न हो सकोगे।
ईसाइयत इन वचनों को छिपाती रही है। इन पर व्याख्या नहीं की जाती। बुद्ध का वचन तो और भी खतरनाक है। जीसस तो कहते हैं, जब तक तुम अपने माता- पिता को घृणा न करो--यह कुछ भी नहीं है! मेरी अपनी समझ यही है कि बुद्ध का सूत्र ही है जो जीसस के कानों में पड़ गया था, लेकिन जीसस ने इसमें बदलाहट की होगी। क्योंकि जिनसे वह बात कर रहे थे वे तो यह भी नहीं समझ पा रहे थे, हत्या की बात सुनकर तो वे बिल्कुल ही पागल हो जाते कि तुम कह क्या रहे हो! बुद्ध ने कहा है, मां-बाप की हत्या न करे जो, वह भिक्षु न हो सकेगा।
यह तो और भी कठिन बात हो गयी--और बुद्ध के मुंह से! महाकरुणावान! बुद्ध
से ज्यादा करुणा से भरा कोई व्यक्ति नहीं हुआ, हिंसा की बात कह रहे हैं-- हत्या कर दो मां-बाप की!
समझ लेना। बाहर के मां-बाप से इसका प्रयोजन नहीं है। तुम्हारे भीतर
जो संस्कारित होकर मां-बाप बैठ गए हैं, उनकी हत्या कर दो। तुम्हारे भीतर जो मां-बाप की आवाज बहुत गहरे में प्रविष्ट हो गयी है, जो तुम्हें अब भी मुक्त नहीं होने देती, जो संस्कार तुम्हारे भीतर बहुत जंजीर की तरह बंधा पड़ा है, उसे तोड़ दो।
ऐसा रोज तुम्हें अनुभव होगा अगर तुम थोड़ा समझपूर्वक जीओगे, थोड़े ध्यानपूर्वक जीओगे, थोड़ी स्मृति को जगाओगे, तो तुम घड़ी-घड़ी पाओगे।
मेरे एक मित्र हैं, हिंदी के बड़े कवि हैं। कोई पचास साल तो उम्र है, पत्नी है, बच्चे हैं; लड़की की शादी हो गयी, उसके बच्चे हैं। एक दफा मेरे साथ सफर किए। उनकी पत्नी ने मुझसे कहा कि सफर में आपको इनकी कई खूबियां पता चलेंगी। मैंने कहा, यह मेरे पुराने परिचित हैं। उन्होंने कहा, इससे कुछ नहीं होता। सफर में पता चलेंगी। और सफर में पता चलीं।
डाक्टर के बेटे हैं वह। पिता तो चल बसे। पिता कुछ झक्की किस्म के थे। डाक्टर थे और झक्की। सो दोहरी बीमारियां। झक्की ऐसे थे कि हर चीज में शक होता था कि कहीं कोई इन्फेक्शन न लग जाए, यह न हो जाए, वह न हो जाए। वही झक्क इनको भी है। वह मुझे पता भी नहीं था। जब ट्रेन में चाय आयी तो उन्होंने कहा कि नहीं, मैं नहीं पीऊंगा। मैंने कहा, क्या बात है? उन्होंने कहा, नहीं- नहीं। फिर भी, मुझे बताएं तो! उन्होंने कहा, नहीं, मुझे पीना ही नहीं, मुझे अभी इच्छा ही नहीं है। चलो, मैंने कहा, कोई बात नहीं।
भोजन का वक्त हो गया। भोजन आया तो कहा, नहीं, मुझे भोजन भी नहीं करना है। तो मैंने कहा, हुआ क्या तुम्हारी भूख को? उन्होंने कहा, नहीं, कोई बात

नहीं। पर मैंने कहा कि कोई तकलीफ हो रही है? पेट में कुछ अड़चन है? क्या बात है? उन्होंने कहा, अब आप बार-बार जिद्द करेंगे और चौबीस घंटे साथ रहना है, बात यह है कि मैं कहीं की चाय नहीं पी सकता और कहीं का भोजन नहीं कर सकता। यह चौबीस घंटे मैं तो उपवास करूंगा। मैंने कहा, क्यों? उन्होंने कहा, अब आप ज्यादा न छेड़ें, बात यह है कि मुझे इन्फेक्शन का डर है। मैंने कहा, यह डर आया कहां से? उन्होंने कहा कि मेरे पिता!
पिता चल बसे, मगर पिता जो संस्कार दे गए हैं वह बैठा है। जब बुद्ध कहते हैं, माता-पिता की हत्या कर दो, तब बुद्ध यह कह रहे हैं कि यह भीतर जो संस्कार है इसकी हत्या कर दो। अब यह फिजूल की बकवास है। और इतने डर-डरकर जीओगे तो जीने में कोई सार ही नहीं है, मर ही जाओ। ऐसे डर-डरकर तो जी न सकोगे। उनकी पत्नी ने मुझे बताया कि मेरे पति ने मुझे कभी चूमा नहीं; क्योंकि इन्फेक्शन!
यह तो बात सच है कि चुंबन से ज्यादा इन्फेक्सियस दुनिया में कोई और चीज नहीं है। क्योंकि दूसरे के ओंठों से लाखों कीटाणु तुम्हारे ओंठों में चले जाते हैं। अब यह पति तो तभी चूम सकते हैं अपनी पत्नी को जब, जब उसके ओंठ वगैरह सब स्टरलाइज्ड किए जाएं। मगर तब तक चुंबन का अर्थ न रह जाएगा, प्रयोजन न रह जाएगा। यह तो भय सीमा से आगे बढ़ गया। यह पागलपन आ गया।
तुम जरा अपने भीतर खोजना, शायद इतनी अतिशयोक्ति न हो, लेकिन तुम यही पाओगे। जब तुम अपने बेटे से बात कर रहे हो तब जरा गौर करना, तुम उसी ढंग से बात कर रहे हो, जिस तरह तुम्हारे पिता तुमसे बात करते थे। यह बड़े मजे की बात है। तो तुम बढ़े जरा भी नहीं, तुम वही दोहरा रहे हो, तुम ग्रामोफोन के रिकार्ड हो। तुम जब अपनी पत्नी से झगड़ा करो तो जरा गौर से देखना, यह झगड़ा वैसे ही हो रहा है जैसे तुम्हारे पिता और तुम्हारी मां का होता था। अक्सर तुम वही दोहरा रहे हो। इसमें जरा भी नया नहीं, कुछ नवीन नहीं है।
और अगर तुम स्त्री हो तो जरा गौर करना कि तुम अपने पति के साथ जो व्यवहार कर रही हो, वह तुमने अपनी मां से सीखा। मां जो तुम्हारे पिता के साथ करती थी, वही तुम अपने पति के साथ किए जा रही हो।
ऐसे सदियों तक चीजें दोहरती रहती हैं। और चैतन्य का लक्षण है-- नवीनता। जब इतना दोहराव होता है जीवन में, इतनी पुनरुक्ति होती है, तो चेतना दब जाती है, जड़ हो जाती है, मर जाती है; तब तुम जीवंत नहीं रह जाते। तुम जरा जांच-परख करना। तुम अपनी भाव-भंगिमाओं में अपने माता-पिता को छिपा पाओगे। तुम अपने व्यवहार में अपने माता-पिता को छिपा पाओगे, तुम अपने बोलने-चालने में माता-पिता को छिपा पाओगे; तुम अपने कृत्यों में, दुष्कृत्यों में माता-पिता को छिपा पाओगे, अच्छे-बुरे में छिपा पाओगे। तो तुम हो कहां?
बुद्ध जब कहते हैं माता-पिता की हत्या कर दो, तो वह कहते हैं उस हत्या
के बाद ही तुम्हारा जन्म होगा। एक जन्म तो हो गया, उतना जन्म काफी नहीं है, द्विज बनो, अब दूसरा जन्म चाहिए, फिर से जन्मो। यह दूसरा जन्म तुम्हारी चैतन्य की पहली घोषणा होगी। दोहराओ मत। तुम कोई अभिनय मत करो।
मगर ऐसा ही हो रहा है। मैं लोगों को देखता हूं। मेरे पास कभी कोई आ जाता है, वह कहता है कि मेरे पिता का ऐसा दुर्व्यवहार है, कि मेरी मां ऐसी दुष्ट है, तो इस--मां तो यहां मौजूद नहीं है, पिता यहां मौजूद नहीं हैं--मैं इसी आदमी का निरीक्षण करता रहता कुछ दिन तक। और अक्सर इस आदमी में ही प्रमाण मिल जाते हैं कि इसकी बात सच है या नहीं। इसको ही देखकर इसके मां- बाप की सारी कथा धीरे-धीरे लिखी जा सकती है। इसके ही व्यवहार में इसके मां- बाप को पकड़ा जा सकता है।
इस बात के लिए बुद्ध ने कहा कि अपने मां-बाप की हत्या कर दो। अपने संस्कार जो एक दिन जरूरी थे अब तोड़ डालो, बागुड़ हटा दो, बांस गिरा दो, अब सहारे की जरूरत नहीं है। बैसाखियां फेंक दो। अब अपने पैर पर खड़े हो जाओ। आत्मवान बनो। यह आत्मवान बनने का सूत्र ही ट्रांजेक्शनल एनालिसिस का सूत्र भी है। स्वयं बनो। स्वत्व की घोषणा करो। उधार-उधार, बासे-बासे न रहो।

तुम निरीक्षण करोगे तो तुम बहुत चौंकोगे। निन्यानबे प्रतिशत तुम उधार हो। और सबसे ज्यादा उधारी मां-बाप के प्रति है, स्वाभाविक। और ध्यान रखना, इसका यह मतलब भी नहीं है कि बुद्ध यह कह रहे हैं, मां-बाप गलत थे--यह तो बुद्ध कह ही नहीं रहे हैं। मां-बाप तुम्हारे कितने ही अच्छे रहे हों, इससे कोई संबंध नहीं है। अक्सर तो ऐसा होता है, बुरे मां-बाप से छूटना कठिन नहीं होता, अच्छे मां-बाप से ही छूटना कठिन होता है। अच्छे मां-बाप की जकड़ गहरी होती है। क्योंकि अच्छे से कैसे छूटो? सोने की जंजीर होती है, उसे छोड़ो कैसे, तोड़ो कैसे? बुरे मां-बाप से तो छुटकारा हो जाता है, अच्छे मां- बाप से मुश्किल होता है। अच्छे से तो लगाव बनता है, मोह बनता है--इतने प्यारे मां-बाप!
बुद्ध यह नहीं कह रहे हैं कि तुम्हारे मां-बाप गलत हैं, बुद्ध का वक्तव्य मां-बाप से कुछ भी संबंधित नहीं है। मां-बाप कैसे थे, इस संबंध में बुद्ध के वक्तव्य में कोई बात नहीं कही गयी है--न अच्छा, न बुरा। बुद्ध सिर्फ इतना ही कह रहे हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को एक दिन अपने मां-बाप से मुक्त होने की क्षमता जुटानी चाहिए। जिस दिन यह क्षमता तुम्हारी पूरी हो जाती है कि तुम मां-बाप से पूरी तरह मुक्त हो गए, उस दिन तुम व्यक्ति बने, उस दिन तुम आत्मवान हुए। उस दिन अगर तुम्हारे मां-बाप को थोड़ी भी समझ है, तो वे आनंदित होंगे और उत्सव मनाएंगे। तुम्हारा असली जन्म हुआ, तुम्हारा पहली दफा जन्मदिन आया। तुम्हारे मां-बाप फूल लगाएंगे; दीए जलाएंगे। अगर उनमें समझ है, तो भोज देंगे, मित्रों को बुलाएंगे कि आज मेरा बेटा स्वत्व को उपलब्ध हुआ। आज यह हमारी पुनरुक्ति नहीं है, आज इसके अपने जीवन की यात्रा शुरू होती है।
इन वक्तव्यों में माता-पिता से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इन वक्तव्यों में सिर्फ इतना ही प्रयोजन है, जैसे एक आदमी सीढ़ी चढ़ता है। बिना सीढ़ी चढ़े ऊपर की छत पर पहुंच नहीं सकता, फिर अगर सीढ़ी को ही पकड़कर रुक जाए रास्ते में तो भी छत तक नहीं पहुंच सकता। सीढ़ी पर चढ़ना भी होता है, फिर एक दिन सीढ़ी छोड़ भी देनी होती है। और स्वभावतः, मां-बाप का संस्करण सबसे गहरा होता है। क्योंकि वे हमारे सबसे ज्यादा करीब होते हैं, पहली शिक्षा उन्हीं से मिलती है।
अब तुम इसे जरा समझो कि किस तरह हम जकड़े हुए हैं। पहली दफा बच्चा पैदा होता है, बच्चे का जो पहला संसर्ग है जगत से, संसार से, वह मां के स्तन से होता है। पहला संसर्ग, पहला संसार मां का स्तन है। और तुम देखना, ऐसा पुरुष खोजना मुश्किल है जो स्त्री के स्तनों से मुक्त हो। जब तक तुम स्त्री के स्तनों से मुक्त नहीं हो, तब तक तुम अभी बचकाने ही हो; अभी तुम पहले दिन के बच्चे ही हो, जो मां के स्तन पर निर्भर था।
सदियां बीत गयीं, लोग मूर्तियां बनाते तो स्तन महत्वपूर्ण; चित्र बनाते तो स्तन महत्वपूर्ण; फिल्म बनाते तो स्तन महत्वपूर्ण; कविता लिखते, उपन्यास लिखते तो स्तन महत्वपूर्ण। और ऐसा मत सोचना कि आज ही ऐसा हो गया है, सदा से ऐसा है। तुम अपने पुराने से पुराने काव्यों को उठाकर देखो-- कालिदास को, कि भवभूति को--वहां भी वही है, स्तनों का वर्णन है। तुम पुरानी से पुरानी मूर्तियां देखो, तो स्तन बहुत उभारकर दिखाए गए हैं; इतने बड़े स्तन होते भी नहीं जितने मूर्तियों में दिखाए गए हैं--खजुराहो जाकर देखो। इतने सुडौल स्तन होते भी नहीं जितने चित्रकारी में और कविताओं में खोदे गए हैं।
यह क्या बात है? मामला क्या है? आदमी स्तन के पीछे ऐसा दीवाना क्यों है? यह पुरुष स्तन के प्रति इस तरह उत्सुक क्यों है? क्योंकि सभी पुरुषों का जो पहला संसर्ग संसार से हुआ, जो पहला संस्कार पड़ा, वह स्तन का है। और जो छोटा बच्चा, छोटा सा बच्चा, उसके लिए स्तन बहुत बड़ी घटना है। और स्वभावतः, स्तन जितना भरा हो, उतना बच्चे के लिए सुखद है। स्तन जितना सुडौल हो, उतना बच्चे के लिए सुखद है--उतना ज्यादा दूध देता है। वही भाव पोषण का गहरे में बैठ गया है। तो जिस स्त्री का स्तन बड़ा न हो, उसमें तुम्हारा रस कम होता है।

तो तुम्हारे भीतर जो बचपन में बैठा संस्कार है, अब भी तुम्हारी आंखों
पर पर्दा किए हुए है। अब जरूरी नहीं है कि छोटे स्तन वाली स्त्री बुरी स्त्री हो और बड़े स्तन वाली स्त्री अच्छी स्त्री हो, जरूरी नहीं, आवश्यक नहीं। लेकिन प्लेब्वाय और दुनियाभर में जितनी अश्लील पत्रिकाएं छपती हैं और अश्लील किताबें लिखी जाती हैं, उन सबमें बड़े स्तनों पर बड़ा आग्रह है। अमरीका में तो अब यह है कि अगर स्तन छोटा हो तो लोग इंजेक्शन ले रहे हैं--सिलिकान का इंजेक्शन--ताकि स्तन बड़ा हो जाए, सुडौल हो जाए, फूल जाए। जबर्दस्ती फूल जाए तो भी चलेगा। कृत्रिम औषधि से फूल जाए तो भी चलेगा। मगर स्तन फूला हुआ होना चाहिए, क्योंकि पुरुष उसमें आकर्षित है।
पुरुष स्तन में आकर्षित है, स्त्रियां भी स्तन में आकर्षित हैं। तो स्तन को सम्हाले रखने के लिए न-मालूम कितने तरह की ब्रा बनती हैं। स्तन को बड़ा दिखाने के लिए न-मालूम कितने तरह की पैडिंग की जाती है। छिपाती भी हैं स्त्रियां स्तन को और दिखाती भी हैं। एक बड़ा खेल चलता है। छिपाती भी हैं और दिखाती भी हैं। इस बात को ख्याल में रखना। छिपा-छिपाकर दिखाती हैं, दिखा-दिखाकर छिपाती हैं। स्त्रियों को भी पता है, पुरुषों को भी पता है। लेकिन यह बड़ी बचकानी दुनिया है।
इसका मतलब इस दुनिया में कोई बढ़ता ही नहीं, प्रौढ़ होता ही नहीं। और यह मैंने सिर्फ उदाहरण के लिए कहा। इसी तरह सारी चित्त की दशा है। तुम वहीं उलझे हो, जहां से कभी के पार हो चुकना था। तुम वहां अटके हो, जहां से तुम सोचते हो पार हो चुके हो।
ट्रांजेक्शनल एनालिसिस कहती है, अपने चित्त का ठीक से विश्लेषण किया जाए, अपने कृत्यों की... ट्रांजेक्शन का मतलब होता है, तुम जो कृत्य कर रहे हो दूसरों से संबंधित होने में, अंतर्संबंधों में तुम्हारे जो कृत्य हो रहे हैं, ट्रांजेक्शन जो हो रहा है, जो तुम्हारा लेन-देन हो रहा है दूसरों से, उस लेन-देन में ठीक से अगर विश्लेषण किया जाए, तो तुम पाओगे कि तुम अपने बचपन में अभी भी उलझे हो, वहां से तुम निकल नहीं पाए; शरीर बड़ा हो गया है, तुम्हारी चेतना विकसित नहीं हो पायी। तुम्हारी आत्मा छोटी रह गयी है। इस छोटी आत्मा को मुक्त करना है। इसे कारागृह के बाहर लाना है।
इसको कारागृह के बाहर लाने का उपाय है--मातरम पितरम हंत्वा, तुम माता- पिता के हंता हो जाओ। इसलिए बुद्ध ने कहा अपने भिक्षुओं को कि देखते हो इस भिक्षु को! यह महाभाग्यशाली है, यह अपने माता-पिता की हत्या करके परमसुख को उपलब्ध हो गया है।
जिस दिन तुम माता-पिता से मुक्त हुए, तुम संसार से मुक्त हुए। माता- पिता तुम्हारे संसार का द्वार हैं। उन्हीं के कारण तुम संसार में आए हो, उन्हीं के सहारे संसार में आए हो। जिस दिन उनसे मुक्त हो गए, उस दिन तुमने निर्वाण के द्वार में प्रवेश कर लिया।
ट्रांजेक्शनल एनालिसिस अभी प्रारंभिक है। बुद्ध का सूत्र अंतिम है, आखिरी है। इसलिए मैंने कहा कि अगर ट्रांजेक्शनल एनालिसिस के अनुयायियों को बुद्ध के ये सूत्रों का पता चल जाए तो वे बड़े गदगद होंंगे, उन्हें बड़ा सहारा मिलेगा। तब उनकी बात केवल मनोवैज्ञानिक ही न रह जाएगी, उनकी बात का एक धार्मिक आयाम भी हो जाएगा।

तीसरा प्रश्नः त्याग बड़ी बात है या छोटी?

आदमी आदमी पर निर्भर है।
अगर तुमने समझकर त्यागा तो बड़ी छोटी बात है। अगर नासमझी से त्यागा तो बड़ी बात है, बड़ी बड़ी बात है। समझ का अर्थ होता है, तुमने जाना धन में कोई मूल्य ही नहीं है। तो त्याग बड़ी छोटी बात है। कचरा था छोड़ दिया, तो क्या छोड़ा? तुम उसका गुणगान न करोगे, स्तुति न करोगे। स्तुति न करवाओगे, न आकांक्षा करोगे। तुम कहते न फिरोगे कि मैंने लाखों छोड़ दिए हैं। वहां कुछ था ही नहीं, तुम्हें दिखायी पड़ गया है, इसलिए छोड़ा। कूड़ा-करकट था, छोड़ दिया; कंकड़-पत्थर थे, छोड़ दिए।

लेकिन अगर तुमने किसी की बात सुनकर छोड़ा, स्वर्ग के लोभ में छोड़ा, पुरस्कार की आशा में छोड़ा, सोचा कि यहां छोड़ेंगे तो वहां मिलेगा, परमात्मा के घर में खूब मिलेगा, यहां लाख छोड़ें तो वहां दस लाख मिलेंगे, ऐसे गणित से छोड़ा, तो तुम घोषणा करते फिरोगे। क्योंकि तुम्हें स्वयं दिखायी नहीं पड़ा है कि धन व्यर्थ है। तुम तो और धन की आकांक्षा में इस धन को छोड़े हो। तुम शाश्वत धन की आशा में क्षणभंगुर धन को छोड़े हो। तुम तो भगवान के साथ भी जुआ खेल रहे हो, लाटरी लगा रहे हो। तो तुमने बड़ा त्याग किया, तुम घोषणा करोगे, चिल्लाते फिरोगे कि मैंने इतना छोड़ा। मगर फिर त्याग हुआ ही नहीं।
मैंने सुना है कि एक औरत मरी--एक सूफी कहानी है--एक औरत मरी। देवदूत उसे लेने आए। अब वे सोचने लगे कि इसे कैसे स्वर्ग ले जाएं? इसने कोई अच्छा कृत्य कभी किया? पूछा उसी बूढ़ी की आत्मा से, उसने कहा--हां, मैंने एक मूली एक बार एक भिखारी को दी थी। तो उन्होंने कहा चल, मूली के ही सहारे चल। मूली प्रगट हो गयी। उस औरत ने मूली को पकड़ लिया, और वह स्वर्ग की तरफ उठने लगी। और लोगों ने देखा। उसको स्वर्ग की तरफ उठते देखते कोई ने उसके पैर पकड़ लिए, वह भी उठने लगा; किसी ने उसके पैर पकड़ लिए, वह भी उठने लगा, बड़ी लंबी कतार लग गयी। क्यू तो लग गया। चली स्त्री उठती और वह लंबी कतार चली उठती। स्त्री को बड़ा बुरा भी लगने लगा कि दान तो मैंने की मूली और ये फालतू ऐरे-गैरे- नत्थू-खैरे, ये मेरे पैर पकड़कर चले आ रहे हैं। उसे बड़ा क्रोध भी आने लगा, उसे बड़ी अकड़ भी आने लगी।
आखिर जब ठीक स्वर्ग के द्वार पर पहुंच गयी तो उसने कहा कि हटो, छोड़ो मेरे पैर, मूली मेरी है। बात इतनी बढ़ गयी कि वह भूल ही गयी, विवाद में हाथ छोड़ दिए मूली से और कहा, मूली मेरी है। पूरी कतार जमीन पर गिर गयी। वह मेरे का भाव स्वर्ग के द्वार से वापस ले आया।
अगर त्याग किया है तो त्याग का अर्थ यह होता है कि तुम समझ गए कि यहां क्या मेरा, क्या तेरा? तब तो छोटी बात है।
ऐसा समझो, इस छोटी सी घटना को सुनो, बात है चैतन्य महाप्रभु की। गृहस्थ थे तब की बात है। नाम था उनका निमाई पंडित। एक सुबह नौका में जा रहे थे, हाथ में एक न्याय का हस्तलिखित ग्रंथ था और साथ थे सहपाठी रघुनाथ पंडित। रघुनाथ ने आग्रह किया तो चैतन्य प्रभु अपना ग्रंथ उन्हें पढ़कर सुनाने लगे। ज्यों-ज्यों वे ग्रंथ सुनाते जाते, तैसे-तैसे रघुनाथ पंडित का दुख बढ़ता जाता और चित्त उदास होता जाता। अंत में रघुनाथ पंडित रो पड़े। निमाई ने कारण पूछा, तो उन्होंने कहा, क्या बताऊं, मैंने भी बड़े परिश्रम से एक गं्रथ लिखा है--दिधिति। समझता था कि यह ग्रंथ न्याय के गं्रथों में सबसे प्रधान होगा, पर तुम्हारे इस गं्रथ के आगे उसे कौन पूछेगा? इसलिए मैं दुखी हो गया हूं। तुम्हारा गं्रथ निश्चित उससे श्रेष्ठ है। मेरे वर्षों की मेहनत व्यर्थ गयी।
निमाई हंसकर बोले, बस, इतनी छोटी सी बात! इतनी सी छोटी बात के लिए इतना दुख! यह लो, और उन्होंने पोथी को जल में फेंक दिया। एक क्षण न लगा, पोथी जल में डूब गयी। पोथी के पन्ने जल में बिखर गए। रघुनाथ ने कहा, यह तुमने क्या किया? इतने महान गं्रथ को ऐसे फेंक दिया! निमाई ने कहा, महान कुछ भी नहीं, सब शब्दों का जाल है। बड़ा इसका कोई मूल्य नहीं है। दो कौड़ी की बात है। तुम सुखी हो सको, इसके मुकाबले यह कुछ भी नहीं। तुम्हारे ओंठ पर मुस्कुराहट आ सके, तो ऐसे हजार गं्रथ नदी में फेंक दूं।
निमाई ने कहा, छोटी सी बात!
जब तुम जीवन के सत्यों को ठीक-ठीक पहचानते हो तो त्याग बड़ी छोटी बात है। जब जीवन के सत्यों को ठीक-ठीक नहीं पहचानते तो बड़ी कठिन बात है, बड़ी कठिन, और बड़ी बड़ी! तुम उसे खूब गुणनफल करके देखते हो। एक रुपया दान करोगे तो हजार कहोगे। कुछ छोटा-मोटा दान कर दोगे तो धीरे-धीरे बढ़ाते जाओगे। तुमको पता ही नहीं चलेगा कि तुम उसे बढ़ाते जा रहे हो। हर बार जब तुम बताओगे तो कुछ ज्यादा बताओगे, और ज्यादा बताओगे, बात बढ़ती चली जाएगी। तुम बड़ा करके बताना चाहते हो।
इस जगत में कोई भी वस्तु मूल्यवान नहीं है, ऐसी प्रतीति का नाम त्याग।
त्याग का अर्थ दान नहीं है, त्याग का अर्थ बोध। त्याग का अर्थ देना नहीं

है, त्याग का अर्थ है इस बात की समझ कि यहां देने योग्य भी क्या है! लेने योग्य भी क्या है! यहां का यहीं पड़ा रह जाएगा! हम आए और हम चले, सब ठाठ पड़ा रह जाएगा। जब हम नहीं आए थे तब भी यहीं था, हम चले जाएंगे तब भी यहीं होगा, हम नाहक ही बीच में अपना-तुपना करके बहुत झगड़े-झांसे खड़े कर लेते हैं। मेरा, तेरा। दे लेते, रोक लेते। कब्जा कर लेते, त्याग का मजा ले लेते। और अपना यहां कुछ भी नहीं है। अपना यहां कुछ है नहीं, ऐसी प्रतीति को मैं कहता हूं त्याग।
तो व्यक्ति व्यक्ति पर निर्भर है। त्याग बड़ी बात है या छोटी, तुम पर निर्भर है। अगर ध्यान है, तो त्याग कुछ भी खास बात नहीं, बड़ी साधारण बात है--ध्यान की छाया। अगर ध्यान नहीं है, तो फिर त्याग बड़ी बात है, बहुत बड़ी बात है।

चौथा प्रश्नः अगर शराब ध्यान में बाधक है, तो सच्चिदानंद वाली समाधि
की तो बात ही क्या! अनुभव से समझता हूं कि इस खड्ड से निकलकर ही ध्यान की प्राप्ति हो सकती है। कृपाकर इस खड्ड से निकलने का उपाय बताएं।

पूछा है लालभाई ने। पक्के पियक्कड़ हैं। मगर चलो पूछा, यह भी खूब। रास्ता इससे ही बनेगा। पूछना आ गया तो पहली किरण आ गयी। यह भाव उठने लगा कि इस खड्डे से बाहर निकलना है, तो निकल आओगे। खड्डे में तुम ही गए हो, जिन पैरों से गए हो वे ही पैर वापस ले आएंगे। जिस खड्डे में गिर गए हो, अगर पहचानने लगो कि यह खड्डा है, तो कितनी देर पड़े रहोगे? खड्डे में आदमी इसीलिए पड़ा रहता है कि सोचता है महल है, सोने का महल है। फिर तुम पैर पसारकर और चादर ओढ़कर सोए रहते हो। जिस दिन दिखायी पड़ा, अरे, खड्डा है, उठना शुरू हो गया, बाहर निकलना शुरू हो गया।
मैंने पिछले दिन कहा, शराब ध्यान में बाधक है; यह आधी ही बात थी। आधी बात तुमसे और कह दूं, ध्यान भी शराब में बाधक है। शराब पीए तो ध्यान करना मुश्किल होगा, और अगर ध्यान किए तो शराब पीना मुश्किल हो जाएगा। और यह बात ख्याल रखना, अगर दोनों में कुश्तमकुश्ती हो तो ध्यान ही जीतता है, शराब नहीं जीतती। शराब जीत भी कैसे सकती है! शराब छोटी शराब है, ध्यान बड़ी शराब है। शराब साधारण अंगूरों से निकलती है, ध्यान तो आत्मा का निचोड़ है। तो ध्यान और शराब में अगर संघर्ष हो जाए, तो पहले शायद थोड़े दिन तक शराब जीतती मालूम पड़े, घबड़ाना मत, ध्यान ही जीतेगा, संघर्ष जारी रहने देना।
हां, मैंने निश्चित कहा कि शराब ध्यान में बाधक है। मगर इससे तुम यह
मत सोचना कि फिर मैं ध्यान कैसे करूं? क्योंकि मैं तो शराब पीता हूं तो ध्यान कैसे करूं? अगर ध्यान न करोगे, तो फिर बाहर न निकल पाओगे। ध्यान शुरू करो, शराब बाधा डालेगी... तुम शराब ही थोड़े हो गए हो, तुम्हारे भीतर अभी थोड़ा बोध है, बोध बिल्कुल नष्ट तो नहीं हो गया--नष्ट कभी होता नहीं--उस थोड़े से बोध से ध्यान शुरू करो। ध्यान के विरोध में शराब तुम्हें खींचेगी, हटाएगी, डुलाएगी, तुम उसको चुनौती मानना। और तुम अपने बोध को ध्यान में लगाना। धीरे-धीरे तुम पाओगे, बोध बड़ा होने लगा, शराब की पकड़ छोटी होने लगी। एक दिन बोध इतना बड़ा हो जाएगा कि शराब कब गिर गयी तुम्हें याद भी न रहेगी। पूछा है तुमने, "इस खड्ड से निकलने का उपाय बताएं।"
ध्यान ही उपाय है। और कोई उपाय नहीं। ध्यान की सीढ़ी ही लगाओ इस खड्ड में। तुम्हें अड़चन होगी। तुम कहोगे, एक तरफ मैं कहता हूं कि शराब पीने से ध्यान में बाधा पड़ती है--निश्चित पड़ती है, ध्यान करोगे और शराब न पीते होओगे तो ध्यान जल्दी लग जाएगा; शराब पीते हो तो देर से लगेगा। अड़चन डालेगी शराब; शराब पूरी तरह उपाय करेगी तुम्हें फुसलाने के कि ध्यान मत करो। क्योंकि शराब अनुभव करेगी कि यह ध्यान तो दुश्मन है, तुम दुश्मन के खेमे में जा रहे हो, आज नहीं कल अगर ध्यान लग गया तो मुझसे तुम्हारा छुटकारा हो जाएगा। इसी कारण तो मैं कहता हूं, तुम ध्यान से लगाव लगाओ। चौबीस घंटे थोड़े ही शराब में पड़े हो, लालभाई! कभी पी लेते हो, तब अगर चूक भी गए, कोई हर्जा नहीं, जब नहीं पीते तब ध्यान मत चूको। जैसे-जैसे ध्यान में मजा बढ़ेगा, वैसे-वैसे तुम पाओगे क्रांति होने लगी।

आदमी शराब क्यों पीता है? दुखी है। और मैं जानता हूं लालभाई को, दुखी हैं। भले आदमी हैं, सरल चित्त हैं और दुखी हैं। जिंदगी में बेचैनियां हैं, उन बेचैनियों को भुलाने के लिए शराब पी लेते हैं। जब तक शराब पीए रहते हैं, बेचैनियां भूली रहती हैं, दुख भूले रहते हैं। फिर जब होश में आते हैं, दुख खड़े हो जाते हैं। दुख खड़े हो जाते हैं तो कोई और उपाय नहीं सूझता, फिर शराब पीओ, फिर भुलाओ।
हालांकि शराब पीने से दुख मिटते नहीं। यह कोई मिटाने का उपाय नहीं।
यह तो शुतुर्मुर्ग का ढंग है। दुश्मन दिखायी पड़ा, आंख बंद कर ली और रेत में सिर गड़ाकर खड़े हो गए; इससे दुश्मन मिटता नहीं। कभी तो निकालोगे सिर रेत के बाहर। भोजन की तलाश करने तो शुतुर्मुर्ग जाएगा! दुकान-दफ्तर तो जाओगे। जैसे ही सिर निकालोगे फिर परेशानियां खड़ी हो गयीं।
ध्यान करने से तुम पाओगे कि परेशानियां मिटने लगीं। परेशानियों के कारण शराब पीते हो, ध्यान परेशानियां मिटाने लगेगा। ध्यान तुम्हें दुख के बाहर लाने लगेगा। जैसे-जैसे दुख के बाहर आओगे वैसे-वैसे शराब पीने की जरूरत कम होने लगेगी। शराब कोई जानकर और मजे से थोड़े ही पीता है। इस ख्याल में पड़ना ही मत। लोग अत्यंत दुख में शराब पीना चुनते हैं। बहुत दुखी होता है आदमी तभी अपने को भुलाना चाहता है। जब आदमी सुखी होता है तब अपने को बिल्कुल नहीं भुलाना चाहता है।
मैं एक नगर में बहुत वर्षों तक रहा, एक मुसलमान वकील मेरे पास आए और उन्होंने कहा कि देखें, आपकी बात पढ़ता हूं, जंचती है। लेकिन कभी आया नहीं, क्योंकि एक बात मुझे मालूम है कि मैं जाऊंगा तो झंझट में पडूंगा। झंझट यह है कि मैं शराब पीता और मांस खाता। और मैं मानता हूं कि आप जरूर कहेंगे कि ये दोनों बातें छोड़ दो। मैंने कहा, तो तुमने मुझे समझा ही नहीं। मैं क्यों कहूं छोड़ दो? तुम मजे से मांस खाओ, मजे से शराब पीओ। उन्होंने कहा, क्या कहते हैं! आप कह क्या रहे हैं! यह मैं अपने कानों से सुन रहा हूं! मैंने कहा, तुम पीओ, तुम खाओ, तुम्हें जो करना है करो, मैं तो कहता हूं ध्यान शुरू करो। मैं तुम्हें कुछ छोड़ने को कहता नहीं, मैं तो तुम्हें कुछ पकड़ने को कहता हूं। मेरी दृष्टि विधायक है, नकारात्मक नहीं। मैं अंधेरा मिटाने को नहीं कहता, मैं कहता हूं दीया जलाओ। अंधेरा मिट जाएगा जब दीया जलेगा। उन्होंने कहा, तो मैं, छोड़ने की कोई मुझे जरूरत नहीं है, तो जंचती है, फिर आपसे मेरा मेल बैठ जाएगा। मैं कई साधु-संतों के पास गया, मेल मेरा बैठता नहीं, क्योंकि वे पहले ही बता देते हैं कि मांसाहार छोड़ो, शराब बंद करो। वह मुझसे होता नहीं, इसलिए बात आगे बढ़ती नहीं। मैंने कहा, आज से तुम कभी मांसाहार, शराब की बात मेरे सामने उठाना ही मत। यह तुम्हारा काम, तुम जानो। मेरा काम इतना है कि तुम ध्यान करो। मेरे से अब से तुम्हारा ध्यान का संबंध हुआ और कसम खाओ कि मेरे सामने अब कभी यह शराब और मांस की बात नहीं उठाओगे। उन्होंने कहा, उठाऊंगा ही क्यों, बात ही खतम हो गयी!
वर्षभर उन्होंने ध्यान किया--लेकिन बड़ी निष्ठा से ध्यान किया, आदमी ईमानदार थे--वर्षभर के बाद उन्होंने मुझे आकर कहा कि क्षमा करें, वचन तोड़ना पड़ेगा, आज मुझे शराब की बात करनी पड़ेगी और मांसाहार की भी। मैंने कहा, क्या हुआ? उन्होंने कहा, छह महीने ध्यान करने के बाद धीरे-धीरे शराब में रस कम होने लगा; नौ महीने के बाद रस ही कम नहीं हो गया, नौ महीने के बाद शराब से अड़चन होने लगी, जब पी लेता तो जैसी मस्ती ध्यान की बनी रहती थी वह खो जाती। जब न पीता तो मस्ती ज्यादा होती।
अब समझना! शराब तो भुलाने का काम करती है, अगर तुम दुखी हो तो दुख को भुला देती है, अगर तुम मस्त हो तो मस्ती को भुला देती है।
तो शराब छुड़ाने का एक ही उपाय है कि तुम किसी तरह मस्त हो जाओ। उस दिन असली बात दांव पर लगेगी, उस दिन शराब पीना हो तो पीना। जब मस्ती को भुलाना पड़ेगा, तब तुम खुद ही पाओगे कि यह तो महंगा सौदा हो गया। यह तो कोई सार न हुआ। पैसा लगाओ, शराब पीओ, चोरी करो, पत्नी से झगड़ो, तलाक की हालत सहो, बच्चे गाली दें, मोहल्लाभर तुमको पागल समझे, जहां जाओ वहां बेइज्जती हो, और इस सबका परिणाम कुल इतना कि हाथ जो मस्ती लगी वह खो-खो जाए!

तो उन्होंने कहा कि नौ महीने के बाद मैंने शराब बंद कर दी। क्योंकि अब इसमें कोई सार ही नहीं रहा। सार की तो बात ही छोड़ दो, उलटा जो मेरी मस्ती सध रही थी वह इसकी वजह से टूटती। यह महंगा सौदा हो गया। लेकिन तब तक मांसाहार पर कोई अड़चन न आयी थी। उसके बाद मांसाहार पर अड़चन शुरू हो आयी।
ध्यान एक-एक कदम जाता है, धीरे-धीरे जाता है। शराब इतनी गहरी नहीं थी जितना मांसाहार गहरा था, क्योंकि मुसलमान थे। शराब तो जब जवान हो गए तब पीना शुरू की थी, मांसाहार तो बचपन से किया था। मांसाहार में तो पले थे। उसका संस्कार बहुत गहरा था, वह मां-बाप से मिला था। वह तो जब तक मां-बाप को न मार डालो, तब तक उससे छुटकारा होने वाला नहीं था। वह जरा गहरी बात थी। शराब तो ऊपर-ऊपर थी। पहले शराब चली गयी।
फिर जिस दिन उन्होंने मुझसे आकर यह बात कही, उन्होंने कहा कि आज मैं
एक मित्र के घर भोजन करने गया था, जब मांस परोसा गया तो मुझे एकदम उल्टी होने लगी। एकदम घबड़ाहट हुई। मांस देखकर मेरे भीतर एकदम ऐसा तूफान उठ गया, और जब तक मैं स्नानगृह में जाकर उल्टी नहीं कर लिया तब तक राहत न मिली। और अब मैं मांस न खा सकूंगा। खाने की तो बात दूर, अब मुझे यही सोचकर हैरानी होती है कि मैंने पिछले पैंतालीस साल जीवन के कैसे मांसाहार किया? कैसे? जिस दिन तुम्हारा ध्यान गहरा होता है, ये परिणाम अपने से आने शुरू होते हैं। तो मैं कहता हूं, लालभाई! ध्यान में लगो! ध्यान और शराब को लड़ा दो! ध्यान सदा जीता है, शराब सदा हारी है। प्रमाण के लिए दूसरे शराबी का प्रश्न है--तरु काः
थोड़े समय से शराब की एक मात्रा होती है जिसकी मैं तलाश में थी। बेहोशी
जब आने लगती है तब संकल्प से उस घड़ी को सम्हाल लेती हूं, कुछ क्षण बाद जागृति का बड़ा विस्फोट होता है और साथ-साथ नशा पूरा एक ही साथ उतर जाता है। भीतर कुछ इतना सम्हल गया है कि मैं वर्णन नहीं कर सकती। अब कुछ अपने में श्रद्धा बढ़ रही है। लगता है कि वे दिन दूर नहीं हैं जिनकी मुझे तलाश थी। आपकी ही शराब में डूबने लायक हो जाऊं, इतनी प्रार्थना। आपने जिस तरह मुझे मेरे पर छोड़ दिया और निंदा न की, इसलिए आज मैं शराब जैसी आदत को छोड़ पाऊंगी। किस तरह आपका धन्यवाद अदा करूं! बस अब बिल्कुल सब ठीक चल रहा है। बदला लेने का भाव भी विसर्जित हो गया है। मगर आपने मुझे मौका दिया, यह क्या कम है! अब निंदा या कंडेमनेशन भी नहीं है। मगर जागकर और जानकर सब कुछ अपने आप छूट रहा है। और यह मेरे बस की बात नहीं है। यह प्रश्न नहीं, हकीकत है। मेरे प्रणाम स्वीकार करें!
जो आज तरु को हुआ है, कल लालभाई को भी हो सकता है। जरा साहस रखने की, संकल्प को सम्हाले रखने की, जरा धैर्यपूर्वक साधना में लगे रहने की जरूरत है। साधना निश्चित फल लाती है।

पांचवां प्रश्नः मैं क्या करूं कि मुझे मेरे असली रूप के दर्शन हो जाएं?

एक बहुत गंदे बच्चे ने अपने पिता से पूछा--पिताजी, हम सब जासूस-चोर खेल रहे हैं और मैं जासूस हूं, जरा बताइए कि मैं क्या करूं कि मेरे दोस्त मुझे पहचान न पाएं? बेटा, तुम सिर्फ साबुन से मुंह धो लो, तुम्हें कोई नहीं पहचानेगा, पिताजी बोले।
"मैं क्या करूं कि मुझे मेरे असली रूप के दर्शन हो जाएं?"
जरा साबुन! कबीर ने ध्यान को साबुन कहा है। जरा ध्यान, जरा धो डालो मुंह, जरा ध्यान के छींटे पड़ जाने दो।

आखिरी प्रश्नः आप कहते हैं कि राजनीतिज्ञ धार्मिक नहीं हो सकता। क्यों?

यह भी कोई बड़ी कठिन बात है समझनी कि राजनीतिज्ञ धार्मिक नहीं हो सकता। राजनीति का अर्थ होता है, दूसरों पर कैसे बलशाली हो जाऊं? दूसरों पर

बलशाली वही होना चाहता है जो अपने पर जरा भी बल नहीं रखता। यह उसकी ही पूर्ति है।
मनोवैज्ञानिक, विशेषकर एडलर कहता है, जिनके जीवन में हीनता-ग्रंथि है, इन्फीरिआरिटी कांप्लेक्स है, जिनको भीतर से लगता है मैं हीन हूं, कुछ भी नहीं हूं, वे सारे लोग राजनीति में संलग्न हो जाते हैं। क्योंकि उनके पास एक ही उपाय है कि कुर्सी पर बैठ जाएं बड़ी, तो दुनिया को वह दिखा सकें कि मैं कुछ हूं। और दुनिया मान ले कि मैं कुछ हूं तो उनको खुद भी भरोसा आ जाए कि मैं कुछ हूं, और तो उनके पास उपाय नहीं।
हीनग्रंथि के लोग ही राजनीति में उत्सुक होते हैं। हीनतम लोग राजनीति में उत्सुक होते हैं। तुम्हारी राजधानियों में हीनतम लोग इकट्ठे हैं। राजधानी करीब-करीब अपराधियों से भरी है, पागलों से भरी है, विक्षिप्तों से भरी है।
लेकिन ये अपराधी बड़े कुशल अपराधी हैं। ये बड़ी व्यवस्था और नियम से अपराध करते हैं। ये इस ढंग से अपराध करते हैं कि जैसे सेवा कर रहे हों। ये सेवा कहकर अपराध करते हैं।
मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन दिल्ली गया था। एक संध्या एक बगीचे में घूमने गया था। सर्दी आने-आने को थी, मीठी-मीठी सर्दी बढ़ने लगी थी, लोग अपने ऊनी वस्त्र निकाल लिए थे। मुल्ला भी अपना ऊनी कोट पहनकर बगीचे की तरफ घूमने गया था। एक बूढ़े भिखारी ने चार आने मांगे। उसकी दशा अति दयनीय थी, पेट पीठ से लगा जा रहा था, वस्त्र चीथड़े हो गए थे, आंखें दुर्बलता से अब बुझीं, तब बुझीं, ऐसी मालूम होती थीं।
मुल्ला नसरुद्दीन ने उससे कहा, बड़े मियां, चार आने से क्या होगा? चार आने में कुछ आता भी तो नहीं--खाक भी नहीं मिलती चार आने में! चार आने से क्या खरीदोगे? यह लो पांच रुपए का नोट ले लो।
लेकिन बूढ़ा भिखमंगा पीछे हट गया, उसने कहा कि नहीं साहब, चार आने काफी हैं; क्योंकि इतने राजनीतिज्ञों से भरी दिल्ली में पांच रुपए जैसी बड़ी रकम लेकर चलना खतरे से खाली नहीं है।
सब बेईमान, सब अपराधी, सब तरह के चालबाज राजधानियों में इकट्ठे हो जाते हैं। जिस दिन दुनिया में राजधानियां न होंगी, दुनिया बड़ी बेहतर होगी। और जिस दिन दुनिया में राजनीतिज्ञ न होंगे, दुनिया बड़ी स्वस्थ होगी। जिस दिन दुनिया से राजनीति हट जाएगी, उस दिन दुनिया में धर्म होगा। धर्म बिल्कुल उलटी यात्रा है। धर्म का अर्थ है, मैं अपना मालिक हो जाऊं। और राजनीति का अर्थ है, मैं दूसरों का मालिक हो जाऊं। धर्म का अर्थ है, मैं अपने भीतर जाऊं। राजनीति का अर्थ है, बाहर मेरा राज्य फैले। धर्म भीतर के राज्य की खोज है और राजनीति बाहर के राज्य की खोज है। धन बाहर है, पद बाहर है, राजनीति उसमें उत्सुक है। ध्यान भीतर है, परमात्मा भीतर है, धर्म उसमें उत्सुक है। धर्म अंतर्यात्रा है, राजनीति बहिर्यात्रा।
तो जब मैं कहता हूं, राजनीतिज्ञ धार्मिक नहीं हो सकता, तो बड़ी सीधी सी बात है--जो बाहर की यात्रा पर गया है, वह कैसे साथ ही साथ भीतर की यात्रा पर जा सकता है? भीतर की यात्रा पर जाने के लिए अनिवार्य चरण है कि बाहर की यात्रा रुके। बाहर की यात्रा समाप्त हो, बंद हो। क्योंकि वही ऊर्जा जो बाहर जा रही है, भीतर आएगी। ऊर्जा तो एक ही है तुम्हारे पास, जीवन तो एक ही है, कहीं भी लगा दो, या तो बाहर की सेवा में लगा दो, या भीतर की खोज में लगा दो। राजनीतिज्ञ बहिर्मुखी है, धार्मिक अंतर्मुखी।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 10
छियान्वे प्रवचन

लोभ संसार है, गुरु से दूरी है

दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं दुरवासा घरा दुखा।
दुक्खो समानसंवासो दुक्खानुपतितद्धगू।
तस्मा न च अद्धगू सिया न च दुक्खानुपतितो सिया।। 253।।

सद्धो सीलेन संपन्नो यसोभोगसमप्पितो।
यं यं पदेसं भजति तत्थ तत्थेव पूजितो।। 254।।

दूरे संतो पकासेंति हिमवंतो" व पब्बता।
असंतेत्थ न दिस्संति रत्तिखित्ता यथासरा।। 255।।

एकासनं एकसेय्यं एको चरमतंदितो।
एकोदममत्तानं वनंते रमतो सिया।। 256।।

प्रथम दृश्य--

भगवान वैशाली में विहरते थे। उनके सान्निध्य में, कहते थे, सूखे वृक्ष पुनः हरे हो गए। और जो जीवन-वीणाएं सूनी पड़ी थीं, उनमें संगीत जाग पड़ा। जो झरने बहने बंद हो गए थे, वे पुनः बहने लगे। मरुस्थल मरूद्यानों में बदल गए। पर इसे देखने को तो आंखें चाहिए। सूक्ष्म आंखें चाहिए, अंतर्दृष्टि चाहिए। चमड़ी की आंखों से तो यह दिखायी नहीं पड़ता है। और यह संगीत ऐसा तो नहीं है कि बाहर के कानों से सुना जा सके। यह परमोत्सव है, परम भोग है, यह परमात्म-दशा है। समाधि ही सुन पाती है इस स्वर को। समाधि ही देख पाती है इस उत्सव को।
तो जो देख सकते थे वे आह्लादित थे। जो सुन सकते थे वे मस्त हो रहे थे।
और जो आह्लादित थे और मस्त हो रहे थे, उनके लिए स्वर्ग रोज-रोज अपने नए द्वार खोल रहा था। पर सभी तो इतने भाग्यशाली नहीं हैं। कुछ ऐसे भी थे जिन्हें न कुछ दिखायी पड़ता था, न कुछ सुनायी ही पड़ता था। वे रिक्त आए थे और रिक्त ही थे। वे आ भी गए थे और आए भी नहीं थे। ऐसे अभागों में ही एक था-- वज्जीपुत्त भिक्षु।
आश्विन पूर्णिमा की रात्रि थी, वैशाली रागरंग में डूबा था, नगर से संगीत और नृत्य की स्वर-लहरियां भगवान के विहार-स्थल महावन तक आ रही थीं। वह भिक्षु भगवान के संगीत को तो नहीं सुन पाया था, उसने भगवान के अंतस्तल से उठते हुए प्रकाश को तो अब तक नहीं देखा था, लेकिन राजधानी में जले हुए दीए उसे दिखायी पड़ रहे थे, और राजधानी में होता रागरंग और उससे आती स्वर-लहरियां उसे सुनायी पड़ रही थीं। वह भिक्षु गाजे-बाजों की ये आवाजें सुन अति उदास हो गया। उसे लगा कि मैं भिक्षु हो व्यर्थ ही जीवन गंवा रहा हूं। सुख तो संसार में है। देखो, लोग कैसे मजे में हैं! राजधानी उत्सव मना रही है, मैं यहां पड़ा मूढ़ क्या कर रहा हूं? मैं भी संन्यास ले कैसी उलझन में पड़ गया!
ऐसा अवसर शैतान--मार--तो कभी चूकता नहीं, सो मार ने उसे भी खूब उकसाया, खूब सब्जबाग दिखाए, मोहक सपनों को खड़ा किया और वह भिक्षु सोचने लगा--कल सुबह ही, अब बहुत हो चुका, कल सुबह ही भाग जाऊंगा छोड़कर यह संन्यास। संसार ही सत्य है। यहां मैं व्यर्थ ही उलझा हूं, तड़फ रहा हूं। यहां मैं कर क्या रहा हूं! यहां रखा भी क्या है!
लेकिन इसके पहले कि वह भाग जाता, भगवान ने उसे बुलाया। सुबह वह भागने
की तैयारियां ही कर रहा था कि भगवान का संदेश आया। वह तो बहुत चौंका। यह पहला मौका था जब भगवान ने उसे बुलाया था। डरा भी, मन में शंका भी उठी। लेकिन उसने सोचा--मैंने तो किसी को बात कही भी नहीं है, मेरे अतिरिक्त कोई जानता भी नहीं कि मैं भाग रहा हूं। शायद किसी और कारण से बुलाया होगा।

फिर भगवान ने जब उससे उसके सारे मन की कथा कही, तो उसे भरोसा ही न आया। एक-एक बात जो उसने सोची थी, और एक-एक स्वप्न जो उसने देखा था, और एक-एक उत्तेजना जो शैतान ने उसे दी थी, और उसका यह निर्णय कि वह भागकर जा रहा है आज, सभी भगवान ने उसे कहा। उस दिन उसकी आंखें खुलीं। उस दिन उसने जाना कि वह किसके पास है। ऐसे तो वह वर्षों से था बुद्ध के पास, पर उस दिन ही सत्संग बना। उस दिन ही गुरु मिला। उस दिन से उदासी न रही। उस दिन से उत्सव शुरू हुआ। उस दिन से बुद्ध की वीणा के स्वर उसे सुनायी पड़ने लगे। उस दिन संसार झूठा हुआ, संन्यास सत्य हुआ।
इस वज्जीपुत्त भिक्षु से ही भगवान ने ये गाथाएं कही थीं--

दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं दुरवासा घरा दुखा।
दुक्खो समानसंवासो दुक्खानुपतितद्धगू।
तस्मा न च अद्धगू सिया न च दुक्खानुपतितो सिया।।
सद्धो सीलेन संपन्नो यसोभोगसमप्पितो।
यं यं पदेसं भजति तत्थ तत्थेव पूजितो।।

"गलत प्रवज्या में रमण करना दुष्कर है। न रहने योग्य घर में रहना दुखद है। असमान या प्रतिकूल लोगों के साथ रहना दुखद है। इसलिए संसार के मार्ग का पथिक न बने और न दुखी हो।"
"श्रद्धा और शील से संपन्न तथा यश और भोग से मुक्त पुरुष जहां कहीं जाता है, सर्वत्र पूजित होता है।"
इसके पहले कि हम गाथाओं में उतरें, तुम इस प्यारी कहानी को ठीक से समझ लेना। यह दृश्य तुम्हारे हृदय पर अंकित हो जाए कि मिटे न, बहुत काम पड़ेगा। ऐसी दशा बहुतों की है। ऐसी दशा यहां भी बहुतों की है। ऐसी दशा सदा ही बहुतों की है।
पहली बात, गौतम बुद्ध जैसे व्यक्ति के पास होकर भी तुम उन्हें देख पाओगे, ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं। सूर्य निकला हो, तो भी तुम्हें प्रकाश दिखायी ही पड़े, ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं। तुम अंधे हो सकते हो। या न सही अंधे, आंख वाले होओ, लेकिन आंख बंद किए खड़े हो सकते हो। तो प्रकाश तुम्हें दिखायी न पड़ेगा। प्रकाश है, लेकिन प्र्रकाश देखने के लिए तुम्हारी आंख खुली होनी चाहिए।
बुद्धों के पास भी लोग बुद्धों को चूक जाते हैं। जिनों के पास भी लोग जिनों को चूक जाते हैं। कृष्ण और क्राइस्ट के पास रहकर भी लोग उन्हें नहीं पहचान पाए हैं। और जब नहीं पहचान पाते, तो स्वभावतः उनकी सहज निष्पत्ति यही होती है कि भगवान होंगे ही नहीं, बुद्ध होंगे ही नहीं, अन्यथा हम आंख वालों को दिखायी क्यों न पड़ते? फिर उनका यह भी निष्कर्ष होता है कि जिन्हें दिखायी पड़ते हैं, ये पागल मालूम होते हैं। स्वयं को तो दिखायी नहीं पड़ता है, तो दूसरों को दिखायी पड़ता है, यह मानना भी अति कठिन हो जाता है। फिर दूसरों को दिखायी पड़ता हो और मुझे न दिखायी पड़ता हो, तो अहंकार को चोट लगती है।
इसलिए अंधे आंख वालों को झुठलाने की चेष्टा करते हैं। और आंख वाले कम हैं, आंख वाले बहुत थोड़े हैं, अंधे बहुत हैं, अंधों की भीड़ है, आंख वाले इक्के-दुक्के हैं, इसलिए स्वभावतः बहुमत अंधों के पक्ष में हो जाता है। बुद्धों को देखना हो तो बहुमत की मत सुनना, भीड़ की मत सुनना, नहीं तो तुम बुद्धों को कभी न देख पाओगे। बुद्धों को देखने के लिए कोई लोकतांत्रिक व्यवस्था नहीं होती, कि मत ले लिया कि कितने लोग मानते हैं कि यह आदमी बुद्ध है या नहीं। कभी-कभी ऐसा होता है कि बुद्ध गुजर जाते हैं और किसी को दिखायी नहीं पड़ता। पूरा नगर अंधा हो तो किसी को भी दिखायी नहीं प.ड़ते हैं। और जिसे दिखायी पड़ते हैं वह इतना अकेला पड़ जाता है कि वह कहने में भी डरता है कि मैंने बुद्ध को देखा, कि मैंने भगवान के दर्शन किए, कि मेरा भगवान से संबंध जुड़ा।
भगवान वैशाली में विहरते थे। उनके सान्निध्य में, कहते हैं शास्त्र, सूखे वृक्ष फिर से हरे हो गए।

ये प्रतीक हैं। इन प्रतीकों को तुम तथ्य मत मान लेना। आदमी नहीं देख पाता, तो वृक्ष कैसे देख पाएंगे! आदमी इतना अंधा है--आदमी जो इतना विकसित हो गया है, जिसकी चेतना इस पृथ्वी पर सबसे ज्यादा विकासमान चेतना है--वह नहीं देख पाता, तो वृक्ष कैसे देख पाएंगे! तथ्य मत मान लेना। लेकिन एक सूचना है इस प्रतीक में, वृक्ष सरल हैं। आदमी जितने विकसित तो नहीं हैं, लेकिन आदमी जितने जटिल भी नहीं हैं। विकास के साथ जटिलता आती है। विकास के साथ तर्क आता है, संदेह आता है। विकास के साथ अश्रद्धा आती है। विकास के साथ अहंकार आता है। विकास दोहरी तलवार है। एक तरफ तुम्हारी समझ बढ़ती है, एक तरफ तुम्हारी नासमझी की क्षमता भी उतनी ही बढ़ती है। ये दोनों साथ-साथ बढ़ती हैं।
तो मनुष्य जितना समझदार हो सकता है, उतना ही नासमझ भी हो सकता है। वृक्ष बहुत समझदार तो नहीं हो सकते, इसीलिए बहुत नासमझ भी नहीं हो सकते। वृक्षों में तुम बुद्धिमान वृक्ष न पाओगे और बुद्धू वृक्ष भी न पाओगे, वृक्ष सब एक जैसे होते हैं। आदमी में बड़ी प्रतिभा भी देखोगे और बड़ा अंधापन भी पाओगे।
प्रतीक यह है कि वृक्ष तो सरल हैं, अविकसित हैं, लेकिन सरल हैं। छोटे बच्चों की भांति हैं। वृक्ष अभी भी हिंदू और मुसलमान नहीं हैं। अभी भी कुरान और वेद में उनका भरोसा नहीं है। अभी भी उन्होंने किताबें पढ़ी नहीं, ज्ञानी नहीं बने। वृक्ष पंडित नहीं हैं, भोले हैं, सहज हैं।
तो प्रतीक यह है कि बुद्धों को वह समझ लेता है जो सहज है। वृक्षों जैसा भोला-भाला आदमी भी समझ लेगा, और मनुष्यों जैसा महापंडित भी हो तो चूक जाएगा। सरलता बुद्ध को देखने का उपाय है। सरलता के लिए सुगम है।
शास्त्र कहते हैं कि झरने जो बहने बंद हो गए थे, फिर बहने लगे।
बुद्धत्व का अर्थ होता है, जिसकी जीवन ऊर्जा अपने परिपूर्ण प्रवाह में आ गयी, जिसकी जीवन ऊर्जा अब अवरुद्ध नहीं है, बह रही है। जो बहता है, उसके साथ-साथ दूसरों में भी बहने की संवेदनशीलता पैदा होती है। नाचते आदमी के साथ नाचने का मन होने लगता है, हंसते आदमी के साथ हंसी फूटने लगती है, रोते आदमी के साथ उदासी आ जाती है। बुद्ध तो प्रवाहशील हैं। सरित प्रवाह है। उनकी धारा तो अब किसी अवरोध को नहीं मानती, किसी चट्टान को स्वीकार नहीं करती। अब उन पर न कोई पक्षपात हैं, न कोई बांध हैं, अब परम स्वतंत्रता उनके जीवन की स्थिति है। जैसे नदी बही जाती है परिपूर्ण स्वतंत्रता से, ऐसा बुद्ध का चैतन्य भाव है।
इस भाव के लिए प्रतीक है कि झरने जो सूख गए थे, वे भी बुद्ध की मौजूदगी में फिर बहने लगे। उनके भीतर भी बहने का स्वप्न जगा। बहना ही भूल गए थे, याद ही चली गयी थी कि हम बहने के लिए बने हैं, बुद्ध का बहाव देखकर उनकी भी सोयी आत्मा जग गयी।
तथ्य मत मान लेना। तथ्य नहीं है इन कथाओं में। इन कथाओं में सत्य है, तथ्य बिल्कुल नहीं। तथ्य से इनका कोई लेना-देना नहीं है। इनके इशारे जीवन के महत्वपूर्ण सिद्धांतों की तरफ हैं।
ऐसी ही तो दशा मनुष्य की है। उसके भीतर सब धाराएं रुक गयी हैं। न प्रेम बहता, न दया बहती, न करुणा बहती, न बोध बहता, न समाधि बहती, कुछ भी नहीं बहता। तुम अवरुद्ध एक तलैया हो गए हो, सड़ते हो। तुम्हारा जीवन एक बहाव नहीं है। तुम बहुत बंध गए हो। इस बंधी हुई अवस्था को ही बुद्ध ने गृहस्थ होना कहा है। और जो बहने लगा, उसको ही संन्यस्त कहा है।
तो प्रतीक प्यारा है कि सूखे झरने बहने लगे। जिनकी जीवनधारा सूख गयी थी, जो भूल ही गए थे बहने का पाठ, जो भाषा ही भूल बैठे थे बहने की, और जो छोटे-छोटे डबरों में कैद हो गए थे, उनके भीतर भी सिंहनाद उठा। बुद्ध को बहते देखकर उनको भी याद आयी, भूली-बिसरी याद आयी, अपने होने का ढंग समझ में आया। बुद्ध के बहाव में जो नृत्य उन्हें दिखायी पड़ा, उन्हें लगा--काश, हम भी ऐसे बहते! हम भी ऐसे बह सकते हैं। अगर एक मनुष्य बह सकता है तो हम क्यों नहीं बह सकते? उनकी सोयी आत्मा को चुनौती मिली, वे भी बहने लगे थे।
और जिनकी-जीवन वीणा अछूती पड़ी थी... ।

जिस पर अंगुलियों ने कभी कोई संगीत रचा ही न था, वीणा के तार धूल से जम
गए होंगे, पोंछा ही न था वीणा को, और कभी वीणा को पुकारा भी नहीं था, सजाया- संवारा भी नहीं था, और वीणा में जो सोया है संगीत उसे कभी जगाया भी न था, ललकारा भी न था, उनकी वीणा के तार कंपने लगे। बुद्ध की बजती वीणा के पास यह स्वाभाविक था।
मरुस्थल मरूद्यानों में बदल रहे थे। चेतनाओं में नए फूल खिलने लगे। चेतनाएं हरी होने लगीं। ध्यान की वर्षा होने लगी, समाधि की हरियाली फैलने लगी, प्रेम की सरिताएं बहने लगीं, परमात्मा का संगीत उठने लगा।
पर इसे देखने को तो चाहिए आंखें। यह सबको नहीं दिखायी पड़ा। हो सकता है तुम भी मौजूद रहे होओ। कभी न कभी रहे ही होओगे। इतने लोग बुद्ध हो चुके हैं इस पृथ्वी पर और तुम सदा से यहां हो, असंभव है यह बात कि कभी न कभी बुद्धों का रास्ता और तुम्हारा रास्ता कटा न हो। असंभव है यह बात कि कभी न कभी तुम उसी रास्ते पर बुद्धों के साथ थोड़ी देर न चल लिए होओ। यह संयोग मिल ही गया होगा। कितने बुद्धपुरुष हुए हैं! अनंत बुद्धपुरुष हुए हैं अनंतकाल में। तुम भी अनंतकाल से यहां हो, इसी नगरी के वासी हो। यह बात मानी नहीं जा सकती कि तुम्हारा रास्ता कभी किसी बुद्धपुरुष ने नहीं काटा होगा। लेकिन तुम पहचान नहीं पाए। तुम अपनी धुन में चले गए होओगे। तुम अपनी ही दुकानदारी, अपना बाजार, अपना धन-दौलत, अपने बच्चे, अपना परिवार, अपनी चिंता-फिकर में डूबे रहे होओगे, बुद्ध पास से गुजर गए होंगे, तुमने आंख उठाकर न देखा होगा। तुम्हारे भीतर मन का इतना शोरगुल है, इतना कोलाहल है कि बुद्ध अपने एकतारे को बजाते तुम्हारे पास से निकल गए होंगे और तुम्हें सुनायी न पड़ा होगा। तुम अपने में इस तरह डूबे हो कि तुम देखते ही नहीं कि क्या हो रहा है चारों तरफ। किन वृक्षों पर फूल खिल गए, और किन पक्षियों ने गीत गाए, कौन सा सूरज निकला, कौन से चांद-तारों से आज आकाश भरा है, फुरसत कहां है? तुम इतने व्यस्त हो अपनी क्षुद्र बातों में कि विराट से चूक जाते हो।
ख्याल रखना, क्षुद्र भी विराट को चुका सकता है। एक छोटा सा तिनका आंख में पड़ जाए तो सामने खड़ा हिमालय दिखायी पड़ना बंद हो जाता है। जरा सा तिनका आंख में पड़ जाए तो आंख बंद हो गयी, हिमालय दिखायी पड़ना बंद हो गया। हिमालय इतना विराट है और छोटे से तिनके के कारण छिप जाता है।
ऐसी छोटी-छोटी क्षुद्र बातें हमारी आंखों में भरी हैं, उनके कारण विराट हिमालय जैसे पुरुष भी हमारे पास से निकल जाते हैं, हमारी पहचान में नहीं आते। कभी अगर किसी को पहचान में भी आ जाते हों तो हम समझते हैं, पागल है, सम्मोहित हो गया होगा, विक्षिप्त हो गया है; होश में नहीं है, बुद्धि गंवा दी। हम सोचते हैं, हम तर्कशाली लोग हैं, हम विचार करना जानते हैं, हम इतने जल्दी से किसी के भुलावे में नहीं आते।
इसे देखने को आंखें चाहिए। बुद्धत्व को देखने के लिए आंखें चाहिए, अंतर्दृष्टि चाहिए, सूक्ष्म दृष्टि चाहिए। एक तो स्थूल दृष्टि होती है, जो स्थूल को देखती है। जब तुम स्थूल से देखते हो तो स्थूल ही दिखायी पड़ता है। तुम जब किसी को देखते हो तो उसकी आत्मा तो दिखायी नहीं पड़ती, उसकी देह दिखायी पड़ती है। चमड़े की आंखें चमड़े की देह को देखने में समर्थ हैं। चमड़े के कान चमड़े के ओंठों से उठी आवाज को सुनने में समर्थ हैं।
पर इस देह में छिपा भी कोई बैठा है। यह दीया खाली नहीं है, इसके भीतर
एक ज्योति जल रही है। उस ज्योति को देखने के लिए ये आंखें काफी नहीं हैं। और एक शब्द तो है जो ओंठों से पैदा होता है, और एक शब्द है जो अहर्निश भीतर गूंज रहा है--ओंकार, परम नाद--वह तो कानों से सुनायी नहीं पड़ता। हम सूक्ष्म से ही सूक्ष्म को देख सकते हैं, यह गणित सीधा है।
तो बुद्धों को देखने के लिए अगर तुम इन्हीं आंखों को लेकर गए जिन आंखों से तुमने जिंदगीभर और सब चीजें देखीं, तो ये आंखें काम न आएंगी। इन आंखों को हटाना पड़ेगा, नयी आंखें तलाशनी होंगी। क्योंकि बुद्ध में तुम शरीर को देखने तो नहीं गए हो। शरीर तो और भी बहुतों के पास हैं। बुद्ध के शब्द ही सुनने तो नहीं गए हो, शब्द तो सब तरफ काफी गुंजरित हो रहे हैं। शब्द और शरीर को देखने अगर तुम बुद्ध के पास गए तो तुम बुद्ध के पास गए ही नहीं। बुद्ध के पास तो तुम निःशब्द को देखने गए हो। अरूप को पकड़ने गए हो।

निराकार की थोड़ी सी झलक मिल जाए, इसके लिए गए हो। उसके लिए जरूरी होगा कि तुम्हारे भीतर निराकार को पकड़ने वाली थोड़ी सी दृष्टि तो पैदा हो, जरा तो भीतर की आंख खुले।
ध्यान के बिना बुद्ध को नहीं पहचाना जा सकता है। विचार से बुद्ध को नहीं पहचाना जा सकता है, ध्यान से ही पहचाना जा सकता है। विचार से संसार जाना जाता है, ध्यान से परमात्मा। ध्यान से भगवान पहचाना जाता है।
इसे देखने को चाहिए सूक्ष्म दृष्टि, अंतर्दृष्टि, चमड़े की आंखों से
यह दिखायी नहीं पड़ता। और यह संगीत ऐसा तो नहीं है कि बाहर के कानों से सुना जा सके।
यह अति सूक्ष्म तल पर बज रहा है। अहर्निश बज रहा है। प्रतिपल बज रहा है। लेकिन जब तुम भी इतने ही शांत अपने भीतर हो जाओगे जितनी शांति में बुद्ध का संगीत बज रहा है, तो मेल बैठेगा। बुद्ध जैसे थोड़े से होओगे तो बुद्ध से मेल बैठेगा। बुद्ध के रंग में थोड़े रंगोगे तो मेल बैठेगा। बुद्ध जैसे हुए बिना बुद्ध के साथ संबंध नहीं जुड़ता। थोड़ा सही, जरा सी मात्रा में सही, बुद्ध होंगे विराट सागर, तुम एक बूंद ही बन जाओ सागर की, तो भी चलेगा। एक छोटी सी बूंद भी सागर से मिलने में समर्थ हो जाती है।
तुमने देखा, एक छोटी सी बूंद को सागर में ढुलका दो, तत्क्षण मिल जाती है। एक क्षण की भी देर नहीं लगती। और तुम एक बड़ी चट्टान को लाकर सागर में डाल दो--बड़ी हो तो भी क्या, चट्टान है, मिलती नहीं। बूंद छोटी है तो भी मिल जाती है, बड़ी चट्टान भी नहीं मिलती। बड़ी बुद्धि लेकर गए तुम बुद्ध के पास तो भी मेल नहीं होगा। छोटा सा ध्यान लेकर गए तो भी मेल हो जाएगा। क्योंकि ध्यान स्वभावतः, स्वरूपतः वैसा ही है जैसे बुद्ध हैं। और विचार का बुद्ध से कोई संबंध नहीं है। बुद्ध हैं निर्विचार, तो निर्विचार की थोड़ी बूंद चाहिए।
अगर बुद्धपुरुषों को पहचानना हो तो ध्यान में उतरना। तुम्हारी आंख पर ध्यान का रस आ जाए, फिर सब ठीक हो जाएगा। फिर जो नहीं दिखायी पड़ता था कल तक, अचानक दिखायी पड़ेगा। जैसे बिजली कौंध जाए, जैसे अंधेरे में दीया जल जाए। और तुम तब चकित होओगे कि यह इतने करीब थी बात और इतने दिन तक मैं था और फिर भी दिखायी नहीं पड़ती थी!
यह परमोत्सव है, परम भोग है, यह परमात्म-दशा है।
बुद्ध की दशा इस जगत की दशा नहीं है। इस जगत के बाहर का है कुछ, तुम भी थोड़े बाहर होओ तो पहचान होगी।
तो जो देख सकते थे वे आह्लादित थे।
स्वभावतः। जो देख सकते थे बुद्ध को वे आह्लादित थे, क्योंकि बुद्ध की मौजूदगी में एक बात सिद्ध हो गयी थी कि हम भी यही हो सकते हैं। आज नहीं कल, कल नहीं परसों, थोड़ी देर भला लग जाए, लेकिन आत्मविश्वास प्रतिष्ठित हो गया था। जिन्होंने बुद्ध को देख लिया था, पहचान लिया था--सागर थे बुद्ध, लेकिन अब बूंद भी आशा कर सकती थी कि मैं भी सागर हो सकती हूं। बुद्ध बड़े विराट वृक्ष थे, लेकिन अब बीज भी सपना देख सकता था वृक्ष होने का। बुद्ध के वृक्ष पर फूल खिले थे, बुद्ध सजे खड़े थे, लेकिन अब बीज भी सोच सकता था कि देर होगी, थोड़ा समय लगेगा, श्रम होगा, लेकिन कोई बात नहीं, आज नहीं कल, मैं भी फैलाकर अपनी शाखाओं को आकाश में खड़ा होऊंगा। मैं भी हवाओं में नाचूंगा। मैं भी चांद-तारों से बात करूंगा। मेरे भी फूल खिलेंगे। बुद्ध को देखकर जिनको आनंद हो गया था, उनके भीतर बुद्ध के पैदा होने का पहला बीजांकुर पड़ गया, पहला अंकुरण शुरू हुआ, वे गर्भित हो गए।
जो बुद्ध को देखकर आनंदित नहीं होते, उन्हें पता नहीं, वे आत्मघात कर रहे हैं। बुद्ध को देखकर ऐसे भी लोग हैं जो दुखी होते हैं, ऐसे भी लोग हैं जो चिंतित और परेशान होते हैं और उदास होते हैं, ऐसे भी लोग हैं जो ईर्ष्या से भरते हैं और जलन से भरते हैं। जो बुद्ध को देखकर ईर्ष्या और जलन से भर गया; जो बुद्ध को देखकर उदास और दुखी हो गया, हिंसा से भर गया; जो बुद्ध को देखकर बुद्ध के खंडन में लग गया; जो बुद्ध को देखकर इस चेष्टा में लग गया सिद्ध करने की कि नहीं, कोई बुद्ध नहीं है, बुद्ध होते ही नहीं, यह सब धोखाधड़ी है, जो इस चेष्टा में लग गया, उसे पता नहीं वह क्या कर रहा है! वह

अपने ही हाथ से अपनी जड़ें काट रहा है। बुद्ध के खंडन से बुद्ध का तो खंडन नहीं होगा, तुम्हारे भविष्य में बुद्धत्व की संभावना क्षीण हो जाएगी। बुद्ध के खंडन से बुद्ध का क्या बिगड़ेगा! बुद्ध का न कुछ बनेगा न कुछ बिगड़ेगा। लेकिन तुम अपने भविष्य को अंधकार में कर लोगे। जब बुद्धत्व होता ही नहीं, तो तुम कैसे किसी दिन बुद्ध हो पाओगे! तुम अपने विश्वास को--जन्म सकता था, उसे न जन्मने दोगे। जो बीज अंकुर बन सकता था, तुम उसे मार डालोगे। यह तुम्हारा गर्भपात हो गया। तुमने अपने भविष्य को तोड़ दिया। तुम अपने अतीत से टंगे रह गए।
जिन लोगों को बुद्ध को देखकर आह्लाद पैदा होता है, उनका अतीत समाप्त हुआ और भविष्य का प्रारंभ हुआ। उनके जीवन में नए के होने की संभावना आ गयी। संभावना ने द्वार खोला। विकास अब हो सकता है।
तो अगर तुम आह्लादित न हो सको बुद्धों को देखकर, तो कम से कम दुखी तो
मत ही होना। धन्यभागी हो, अगर आह्लादित हो सको; अगर उनके साथ नाच सको, उनके गीत में डूब सको, तुम धन्यभागी हो! अगर यह न हो सके, तो कम से कम दुखी तो मत होना। नाराज मत होना, आक्रामक मत हो जाना। क्योंकि बुद्धों का विरोध अपने ही हाथों अपना आत्मघात है, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। जब भी तुमने किसी भगवत्ता का विरोध किया है, तभी तुमने तय कर लिया कि अब तुम भगवान होने के लिए तैयार नहीं हो। तभी तुमने निर्णय ले लिया कि मैं जो हूं, बस यही रहूंगा, आगे बढ़ने की मेरी कोई आकांक्षा नहीं है।
जो तुमसे आगे है, उसके साथ आगे बढ़ जाओ। उसे इनकारो मत, उसके साथ नाच लो। उसी नृत्य में तुम गतिमान हो जाओगे।
तो जो देख सकते थे, आह्लादित थे। जो सुन सकते थे, मस्त हो रहे थे। और जो आह्लादित थे और मस्त हो रहे थे, उनके लिए स्वर्ग रोज-रोज अपने नए द्वार और अपने नए रहस्य खोल रहा था।
यह यात्रा ऐसी है कि कभी चुकती नहीं। जितना बढ़ो, उतनी बढ़ती जाती है। जितना खोलो, उतने नए रहस्य की संभावनाएं पैदा होती जाती हैं। रहस्य का कोई अंत नहीं है। आध्यात्मिक यात्रा का प्रारंभ तो है, अंत नहीं। यह अनंत की यात्रा है, सो अनंत यात्रा है।
पर सभी इतने भाग्यशाली नहीं हैं, कथा कहती है। आदमी अभागा भी है। बहुत
तो थे जिन्होंने बुद्ध को सुना नहीं, बहुत थे जिन्होंने सुना तो स्वीकारा नहीं, और बहुत ऐसे भी थे कि सुन लिया, स्वीकार भी कर लिया और बुद्ध के पास आकर दीक्षित भी हो गए, संन्यस्त भी हो गए, तो भी बुद्ध के पास नहीं आ पाए। किसी गलत कारण से दीक्षा ले ली होगी। किसी गलत कारण से संन्यस्त हो गए होंगे। आदमी की गलती इतनी प्रगाढ़ है कि वह गलत कारणों से संसार में होता है, और फिर किसी दिन संन्यास भी लेता है तो गलत कारणों से संन्यास ले लेता है। गलत कारणों से लिया संन्यास तो काम नहीं आता।
ऐसा ही एक भिक्षु था, वज्जीपुत्त उसका नाम था। वह रिक्त ही आया और रिक्त ही था, और वर्षों बुद्ध के पास हो गए थे रहते। सुनता था, जो बुद्ध कहते करता भी था, ऊपर-ऊपर ही लेकिन सारी बात थी। भीतर कहीं बुनियाद में ही भूल हो गयी थी, कहीं जड़ में चूक हो गयी थी। आया भी था, लेकिन आ नहीं पाया था। दूसरे कहते थे भगवान हैं, तो स्वीकार भी करता था, लेकिन बुद्ध के भगवान होने की प्रतीति निज नहीं थी। भीतर से नहीं हुई थी। लोभ के कारण दीक्षित हो गया होगा। यह सोचकर दीक्षित हो गया होगा कि शायद संन्यास में सुख हो। शायद आधार रहा होगा संन्यास का। प्रतीति नहीं थी, लोभ था। संन्यास में सुख है, ऐसा दिखायी नहीं पड़ा था; बुद्ध भी आनंदित हैं, ऐसा दिखायी नहीं पड़ा था; बुद्ध आनंद की बातें करते हैं, ऐसा सुनायी पड़ा था। बुद्ध आनंद की बातें करते हैं तो भीतर आनंद की आकांक्षा भी पैदा हुई होगी--मैं भी आनंद पाऊं। शायद बुद्ध कहते हैं, ठीक ही कहते होंगे। दुखी रहा होगा, जैसे सभी दुखी हैं, उस दुख के बीच बुद्ध की आनंद की बातों को सुनकर लोभ जगा होगा, वासना जगी होगी, महत्वाकांक्षा पैदा हुई होगी। इसी महत्वाकांक्षा के कारण दीक्षित हो गया था।
महत्वाकांक्षा के कारण जो दीक्षित होता है उसकी दीक्षा बुनियाद से ही रुग्ण हो गयी। समझ के कारण संन्यास हो तो ही ठीक। महत्वाकांक्षा तो

नासमझी है। महत्वाकांक्षा ही तो संसार है। संसार में दौड़ते हो कि धन मिल जाए तो सुख होगा, पद मिल जाए तो सुख होगा, फिर हारे-थके, न पद से मिलता सुख, न धन से मिलता सुख, दुख ही दुख बढ़ता जाता है। फिर एक दिन सुनते हो किसी बुद्धपुरुष को कि इस सबको छोड़ दो तो सुख होगा, तो तुम सोचते हो--चलो इसको भी देख लें करके। ऐसे जिंदगी तो जा ही रही है, पद और धन में दौड़कर आधी तो गंवा ही दी है, कुछ बची है थोड़ी, शायद यह आदमी ठीक कहता हो, चलो एक मौका इसको भी दो। लेकिन तुम्हें इस आदमी में आनंद दिखायी नहीं पड़ा है।
इस भेद को ख्याल में रखना। दो तरह के संन्यासी सदा होते रहे हैं। एक, लोभ के कारण। और दूसरा, जिसने बुद्ध को भर आंख देखा, पहचाना, उनकी सुगंध ली, उनके संगीत को सुना, और जिसके भीतर यह श्रद्धा जन्मी कि हां, यहां सुख है, इस आदमी में सुख नाच रहा है, ऐसी जिनको प्रतीति हुई, उस प्रतीति के कारण संन्यस्त हुए। जो प्रतीति के कारण संन्यस्त होता है, उसका बुद्ध से सीधा संबंध जुड़ गया। जो महत्वाकांक्षा के कारण संन्यस्त हुआ, उससे बुद्ध का कोई संबंध नहीं, वह अभी भी अपनी पुरानी ही दुनिया में है। वस्त्र बदल लिए, जीवन का ऊपरी ढांचा बदल लिया, घर-द्वार छोड़ दिया, पत्नी-बच्चे छोड़ दिए, भिक्षापात्र हाथ में ले लिया, मगर यह सब नाटक है। और थोड़े-बहुत दिनों में यह बात तो भीतर उठने ही लगेगी कि इतनी देर हो गयी, अभी तक सुख तो मिल नहीं रहा है! और नाटक से सुख मिलता नहीं; नाटक से मिल सकता नहीं।
तो थोड़े दिनों में उसको फिर घबड़ाहट शुरू हो जाएगी, यह डर भी शुरू होगा
कि हो सकता था मैं संसार में ही रहा आता, कम से कम कुछ तो था। शायद थोड़े दिन और मेहनत करता और थोड़ा धन मिल जाता तो सुख होता, और बड़े पद पर पहुंच जाता तो सुख होता, यह छोड़कर तो मैं झंझट में पड़ गया, न घर के रहे न घाट के। यह तो मेरी धोबी के गधे की हालत हो गयी। वह संसार गया और यहां कुछ मिलता नहीं मालूम पड़ता।
एक जैन मुनि ने मुझे कहा--उनकी उम्र सत्तर वर्ष है; सरल आदमी हैं; हिम्मतवर होंगे तभी मुझसे कह सके; बहुत हिम्मतवर नहीं हैं, इसलिए जब मुझसे कहा तो वहां जो और लोग बैठे थे, उनसे कहा, आप कृपा करके यहां से चले जाएं, मुझे कुछ निजी बात करनी है। वे उन्हीं के शिष्य थे जो बैठे थे। मैंने उनसे कहा, बैठे रहने दें, इनको भी कुछ लाभ होगा। उन्होंने कहा कि नहीं, इन्हें हटाएं। जब वे सब चले गए तब उन्होंने मुझसे कहा कि मुझे एक दुख की बात कहनी है और इनके सामने नहीं कह सकता था। क्या दुख की बात है? तो उन्होंने कहा, पचास साल हो गए मुझे मुनि हुए, जब बीस साल का था तब संन्यास लिया था, लेकिन सुख तो मिला नहीं। यह मैं किससे कहूं? श्रावकों से तो कह नहीं सकता। इनको तो मैं यही समझाता हूं कि बड़ा सुख है, इनको तो मैं यही समझाता हूं कि तुम कहां दुख में पड़े हो, छोड़ो संसार! समझाता तो हूं, लेकिन भीतर डर भी लगता है कि मैं इनको क्या कह रहा हूं, सुख तो मुझे भी नहीं मिला! भीतर चिंता भी पैदा होती है कि मैं इन्हें कहीं किसी गलत मार्ग पर तो नहीं ले जा रहा हूं! क्योंकि जो मुझे नहीं मिला, वह इन्हें कैसे मिलेगा? आपसे निवेदन करता हूं कि मुझे सुख नहीं मिला। आया था सुख की तलाश में, इसी खोज में आया था।
उस दिन उन जैन मुनि को मैंने यह वज्जीपुत्त की कथा कही थी। उनको मैंने कहा था, यह कथा सुनें; आप गलत कारणों से संन्यास ले लिए हैं। आप लोभ में संन्यास ले लिए हैं। आपका संन्यास संसार का ही एक रूप है। यह संन्यास है ही नहीं। पचास साल नहीं, पांच सौ साल बैठे रहो, कुछ भी न होगा। कंकड़ को दबा दो जमीन में और बैठे रहो पांच सौ साल, तो कहीं अंकुर थोड़े ही आने वाला है। बीज दबाना होगा। कितनी देर बैठे रहे, इससे थोड़े ही संबंध है। मौसम भी आएगा और चला जाएगा, वसंत भी आएगा और बीत जाएगा, वर्षा भी होगी और बीत जाएगी--कंकड़ में से अंकुरण थोड़े ही होता है! लोभ से कभी कोई सुख नहीं निकलता।
अब इसे समझना।
संसार में दुख है, ऐसा मत समझो, लोभ में दुख है। लोभ के कारण संसार में दुख है। अगर संसार में रहते हुए भी लोभ छूट जाए तो संसार में भी दुख नहीं है। ख्याल करना, संसार में दुख नहीं है, लोभ में दुख है। ऐसे लोग भी हुए हैं इस जगत में जो संसार में रहकर सुख को उपलब्ध हुए।

अष्टावक्र की महागीता में तुमने देखा न, जनक संसार में रहे, अष्टावक्र भी संसार में रहे, और परम सुख को उपलब्ध हुए। कृष्ण संसार में रहे और परम सुख को उपलब्ध हुए। मोहम्मद ने भी संन्यास नहीं लिया, संसार में ही रहे और परम सुख को उपलब्ध हुए। नानक और कबीर, दादू और रैदास परम सुख को उपलब्ध हुए। संसार में दुख नहीं है, दुख लोभ में है। इसका यह अर्थ हुआ कि लोभ ही संसार है। लोभ गया तो संसार गया।
अब होता क्या है, संसार तो तुम छोड़ देते हो और लोभ बचा लेते हो। तो तुमने जहर तो बचा लिया, असली चीज तो बचा ली, भीतर का जहर तो बचा लिया, बोतल फेंक दी। बोतल फेंकने से कुछ भी न होगा। बोतल में जहर था भी नहीं। बोतल जहर थी भी नहीं। जहर तो बचा लिया, असली चीज तो बचा ली--लोभ--लोभ के कारण संन्यस्त हो गए, तो पचास साल नहीं, पचास जन्म तक संन्यासी रहो, कुछ भी न होगा। तुम बार-बार संसार में लौटोगे।
लोभ दुख है, ऐसी प्रतीति हो जाए। और ऐसी प्रतीति का सबसे सुगम उपाय यही है कि किसी बुद्धपुरुष को अवसर दो, किसी बुद्धपुरुष के पास शांत होकर बैठो, सत्संग करो, किसी बुद्धपुरुष के पास तुम्हें ऐसा दिखायी पड़ जाए कि लोभ इस आदमी में नहीं है और परम सुख की वर्षा हो रही है। यह प्रतीति तुम्हारे भीतर साफ हो जाए, यह किरण एक बार उतर जाए, फिर संन्यास आएगा। फिर तुम संसार में रहो कि संसार के बाहर रहो, तुम कहीं भी रहो, सुख तुम्हारा छाया की तरह पीछा करेगा। लोभ से संग-साथ छूटना चाहिए। सारी साजिश लोभ की है।
तो रिक्त ही आया था यह वज्जीपुत्त और रिक्त ही था। आ भी गया था और आया
भी नहीं था। ऊपर-ऊपर से मौजूद था, बुद्ध के पीछे चलता था, लेकिन बुद्ध इसे अभी दिखायी ही नहीं पड़े थे, पीछे कैसे चलोगे? पीछे तो उसके चल सकते हो जो दिखायी पड़ा हो। अंधे की तरह अंधेरे में टटोलता था। सामने रोशनी खड़ी थी, लेकिन आंख बंद हो तो रोशनी दिखायी नहीं पड़ती। सामने दीया जल रहा था, इस जले दीए से अपना बुझा दीया जलाया जा सकता था। लेकिन बुझा दीया जलाना हो तो जले दीए के करीब आना पड़े, बहुत करीब आना पड़े, इतने करीब आना पड़े कि जले दीए की लौ एक छलांग लगा सके और बुझे दीए की लौ पर सवार हो जाए। इसी सान्निध्य का नाम सत्संग है। इसी सान्निध्य के लिए सदियों से लोग बुद्धपुरुषों के पास रहे हैं, उनके निकट रहे हैं। जितने निकट हो जाएं! जितनी समीपता हो जाए! फिर आयी आश्विन पूर्णिमा की रात्रि। उस रात्रि वैशाली में महोत्सव मनाया जाता था। रागरंग का दिन था। लोग खूब नशा करते हैं, लोग खूब नाचते हैं, वेश्याएं सजकर निकलतीं, सारा नगर भोग में लीन होता। उस दिन दीन-दरिद्र भी अच्छे वस्त्र पहनते। वह रात्रि भोग की रात्रि थी।
वैशाली रागरंग में डूबा था। नगर से संगीत और नृत्य की स्वर-लहरियां भगवान के विहार-स्थल महावन तक आ रही थीं।
महावन वैशाली के बाहर था--नगर के बाहर, नदी के उस पार। नगर के उत्सव की लहरें। नगर में जले होंगे दीप, दिवाली थी नगर में, युवक-युवतियां सजकर निकले थे, सब तरफ नाच था, सब तरफ मस्ती थी, उस रात जैसे संसार में कोई दुख नहीं था।
बुद्ध की स्वर-लहरियां तो सुनायी नहीं पड़ी थीं वज्जीपुत्त को, लेकिन वैशाली की ये स्वर-लहरियां सुनायी पड़ीं। बुद्ध का सुख तो नहीं दिखायी पड़ा था वज्जीपुत्त को, लेकिन नगर में ये दुखी लोग जो शराब पीकर नाच रहे हैं, ये दुखी लोग जो जीवनभर दुखी रहे हैं--सालभर दुखी रहते हैं और साल में एक दिन किसी तरह अपने को समझाते हैं कि सुख है--इनमें उसे सुख दिखायी पड़ा। जहां सुख जरा भी नहीं था। और ऐसा भी नहीं था कि इस दुनिया से वह अपरिचित हो। इसी दुनिया से आया था। इन उत्सवों में वह भी सम्मिलित हुआ होगा। लेकिन आदमी सीखता कहां अनुभव से? भूल-भूल जाता है। चूक-चूक जाता है। इसी दुनिया से आया था, इन्हीं गलियों से आया था, इन्हीं वेश्याओं के द्वारों पर उसने भी नाच-गाने देखे होंगे। इसी तरह शराब पी होगी, इसी तरह रागरंग में डूबा होगा--भूल गया सब, कि सुख वहां था तो मैं यहां आता ही क्यों? आज फिर मन लुभाने लगा।

वह भिक्षु गाजे-बाजों की ये आवाजें सुन अति उदास हो गया। उसे लगा, मैं भिक्षु हो व्यर्थ ही जीवन गंवा रहा हूं।
ऐसा बहुत बार तुम्हें लगेगा। ध्यान करते वक्त लगेगा--क्या कर रहा हूं, इतना समय व्यर्थ जा रहा है, इतनी देर रेडियो ही सुन लेते, सिनेमा ही देख आते, गांव में सरकस आया है, इतनी देर ताश ही खेल लेते, मित्रों से गपशप कर लेते, यह मैं क्या कर रहा हूं! ध्यान कर रहा हूं! प्रार्थना कर रहा हूं! इस पूजागृह में बैठा मैं क्या कर रहा हूं! संन्यस्त होकर भी बहुत बार तुम्हें यह ख्याल आएगा कि मैं क्या कर रहा हूं! इसमें सार क्या है!
मन बार-बार संसार की तरफ लौट जाना चाहता है। क्यों? क्योंकि मन का जीवन लोभ के साथ है। लोभ के बिना मन ऐसे ही है जैसे मछली सागर के बिना। जैसे मछली तड़फती है--सागर की रेत पर डाल दो, तड़फती है सागर के लिए--ऐसा मन तड़फता है लोभ के लिए, क्योंकि लोभ में ही मन जीता है। लोभ के बिना मन मर जाता है।
मैं संन्यास ले कैसी उलझन में पड़ गया, सोचने लगा वज्जीपुत्त। ऐसा अवसर मार--शैतान--चूकता नहीं।
शैतान मन का ही नाम है। मन तो उसे खूब उकसाने लगा और मन ने तो उसे खूब फुसलाया, खूब प्रलोभन दिए, खूब सब्जबाग दिखाए कि संसार में कैसे-कैसे मजे हैं! स्त्री का मजा है, शराब का मजा है, नाच का मजा है, भोजन का मजा है, वस्त्रों का मजा है, महलों का मजा है--मजा ही मजा है। तू यहां क्या कर रहा है, भिक्षापात्र लिए बैठा है, मूढ़! ये बाकी मूढ़ हैं, इनके साथ तू भी मूढ़ हो गया है। जरा देख, बुद्ध के साथ कितने लोग हैं? थोड़े से, उंगलियों पर गिने जा सकें इतने लोग हैं। वहां देख संसार में कितने लोग हैं! ये सभी लोग नासमझ तो नहीं हो सकते। ये थोड़े से लोग ही बुद्धिमान हैं! तू किस झंझट में पड़ गया? तू किन की बातों में उलझ गया? ठीक ही तो कहते थे लोग कि बुद्ध की बातों से बचना, सम्मोहित मत हो जाना, तूने सुना नहीं। सुन लेता, अच्छा था। अभी भी कुछ बिगड़ा नहीं है, अभी भी जिंदगी है। देर अभी भी नहीं हो गयी है, अभी भी भाग जा।
आखिर उसने रात जागते-जागते तय ही कर लिया कि कल सुबह भाग जाऊंगा। हो जाऊंगा वापस संसारी।
सभी का मन बार-बार संन्यास से भागता है और संसारी हो जाना चाहता है।
मन की मौत है संन्यास! अहंकार की मौत है संन्यास! तो अहंकार और मन तुम्हें समझाएंगे। सावधान रहना, सावचेत रहना।
लेकिन इसके पहले कि वह भाग जाता, भगवान ने उसे बुलाया।
सदगुरु का यही तो अर्थ है कि तुम्हें भागने न दे; तुम जब भागने लगो तब रोके। सदगुरु का इतना ही तो प्रयोजन है। इसीलिए तो आदमी सदगुरु को खोजता है। अपने वश नहीं है बात, अपने वश तो तुम भाग ही जाओगे। कोई रोक न ले तो तुम रुक न पाओगे। कोई तुम्हारा हाथ न थाम ले तो तुम रुक न पाओगे।
बुद्ध ने कभी उसे बुलाया नहीं था। लेकिन आज न बुलाएं तब तो फिर बहुत देर हो जाएगी। भाग गया तो भाग गया। फिर गिर जाएगा उसी पंक में, उसी कीचड़ में। कमल बनने का अवसर मिलने ही वाला था कि फिर कीचड़ में गिरने की तैयारी कर रहा है। देखते होंगे वज्जीपुत्त को, सोचते होंगे बहुत बार कि यह वस्तुतः संन्यासी तो अभी हुआ नहीं। प्रतीक्षा करते होंगे कि आज नहीं कल, कल नहीं परसों हो जाएगा। लेकिन अगर यह भाग गया तब तो सारी संभावनाएं समाप्त हो जाएंगी। यह तो आत्मघात में उत्सुक है, अब देर नहीं की जा सकती। तो बुद्ध ने उसे बुलाया।
वह तो बहुत डरा भी। लेकिन सोचा--मैंने किसी को कहा भी तो नहीं।
लेकिन सदगुरु का अर्थ ही क्या होता है? सदगुरु का अर्थ इतना ही होता
है कि जो शिष्य के भीतर घटता हो, वह गुरु को संवादित होता रहे--शिष्य कहे या न कहे। अक्सर तो ऐसा होता है कि शिष्य कुछ कहता है, वह तो कहता ही नहीं जो उसके भीतर होता है। अक्सर तो हम शिष्टाचार में ही झूठी बातें कहते रहते हैं। कुछ कहता है, कुछ कहना चाहता है, कुछ भीतर होता है। लेकिन गुरु इसकी फिकर नहीं करता है कि तुम क्या कहते हो, क्या नहीं कहते हो, गुरु तो वही देखता है, क्या है?

शिष्य तो गुरु को भी धोखा देने की कोशिश करता है। यह भी स्वाभाविक है, क्षमा योग्य है। क्योंकि जो अपने को ही धोखा दे रहा है, वह गुरु को कैसे धोखा देने से बचेगा? धोखा देना ही जिसकी कुशलता है, धोखा देना ही जिसके जीवन का सारा सार-संचय है, वह बचेगा भी कैसे? वह तो गुरु को भी धोखा देता है। लेकिन गुरु तो दर्पण है; जो तुम्हारे भीतर उठता है, वह गुरु के भीतर घट जाता है। जो मेघ तुम्हारे भीतर घुमड़ते हैं, उनकी छाया गुरु के भीतर पड़ने लगती है। जो सपने तुम्हारे भीतर उठते हैं, गुरु को उनकी गंध लग जाती है, उनकी पगध्वनि सुनायी पड़ जाती है।
सोचा--मैंने अपनी बात तो किसी को कही भी नहीं है। शायद कुछ और कारण होगा। लेकिन फिर बुद्ध ने सारी कथा कही। उसके मन का सारा राज कहा, विस्तार से सारी बातें कहीं। एक-एक रंग-ढंग जो उसके मन में उठा था और उसके मन ने, शैतान ने उसे जो-जो बातें समझायी थीं, वह भी सब कहीं। उस दिन उसकी आंखें खुलीं। उस दिन उसे समझ में आया वह किसके पास है।
पास रहकर भी अब तक समझ में न आया था। आज पहली दफे बुद्ध की करुणा प्रगट हुई। बुद्ध की दृष्टि प्रगट हुई। और बुद्ध की चिंता उसके लिए, बुद्ध का प्रेम उसके लिए। अब तक तो शायद कई बार यह भी सोचा होगा कि बुद्ध औरों की तो फिक्र करते हैं, मेरी कोई फिक्र नहीं करते। वर्षों हो गए, पता नहीं मेरी याद भी करते हैं कभी? मुझे कभी बुलाया भी नहीं, मेरी तरफ कभी ध्यान भी नहीं दिया, इतनी तो भीड़ है शिष्यों की, इसमें कहां वज्जीपुत्त की याद होगी! क्रोधित भी हुआ होगा। मन में नाराज भी हुआ होगा। कई बार सोचा भी होगा कि क्या रखा है यहां रहने में जहां अपनी कोई चिंता करने वाला नहीं! घर था तो कम से कम मां फिक्र करती थी, पिता फिक्र करते थे; बच्चे फिक्र करते बूढ़ा हो जाता, यहां तो कोई फिक्र करने वाला दिखायी नहीं पड़ता--और बुद्ध तो अलिप्त हैं, दूर हैं, बहुत दूर हैं। आज पहली दफे उसे लगा कि अलिप्त में भी करुणा होती है। जो दूर है, उससे भी, जो भटके हैं उनके लिए चिंता उठती है। निश्चित ही अपने दुख से बुद्ध मुक्त हो गए हैं, लेकिन जिस दिन कोई व्यक्ति अपने दुख से मुक्त हो जाता है, उस दिन सभी का दुख उसे दिखायी पड़ने लगता है। अपनी कोई चिंता नहीं बची है, लेकिन जिस दिन अपनी चिंता नहीं बचती, उस दिन सारे संसार की चिंता सालने लगती है। अपनी तरफ से तो आ गए मंजिल पर, लेकिन मंजिल पर आते ही एक बड़े उत्तरदायित्व का जन्म हो जाता है। और वह उत्तरदायित्च यही है कि जो पीछे भटक रहे हैं और टटोल रहे हैं, उनको राह दिखाओ।
बुद्ध के जीवन में कथा है कि जब वह मरे और स्वर्ग के द्वार उनके लिए खुले, तो वह द्वार पर ही खड़े रह गए, पीठ करके खड़े रह गए। द्वारपाल ने कहा, आप प्रभु भीतर आएं। हमने स्वागत की तैयारियां की हैं। जन्मों-जन्मों में कभी, अनंत-अनंत युगों में कोई बुद्ध होकर आता है। सारा स्वर्ग सजा है, अप्सराएं नाचने को तैयार हैं, देवता संगीत वाद्य लिए उत्सुक हैं, फूल बरसाने की तैयारियां हैं, सारा स्वर्ग सजा है, आप भीतर आएं। आप उस तरफ मुंह करके क्यों खड़े हो गए हैं? बुद्ध ने कहा, कैसे अभी भीतर आऊं! और बहुत लोग हैं; मैं भीतर आ जाऊं तो औरों का क्या होगा? मैं रुकूंगा, मैं इस द्वार पर ही रुकूंगा, क्योंकि इस द्वार से मेरी आवाज दूसरों तक पहुंच सकेगी, भीतर आ गया तो फिर मेरी आवाज के पहुंचने का कोई उपाय नहीं। मैं अनंत काल तक रुकूंगा, जब और सारे लोग प्रविष्ट हो जाएंगे स्वर्ग में, गिनती कर लूंगा कि सभी प्रविष्ट हो गए, तब मैं आखिरी आदमी प्रविष्ट होऊंगा।
यह कथा मीठी है। अपूर्व कथा है। महाकरुणा की कथा है।
उस दिन लगा वज्जीपुत्त को कि बुद्ध की अलिप्तता में करुणा की रिक्तता नहीं है, महाकरुणा की लहरें हैं। उस दिन उसकी आंखें खुलीं। उस दिन उसने जाना कि वह किसके पास है। ऐसे वह वर्षों से साथ था, पर उस दिन सत्संग बना। सत्संग उसी दिन बनता है, जिस दिन गुरु की महिमा प्रगट होती है। जिस दिन गुरु का गुरुत्व प्रगट होता है, जिस दिन गुरु का गुरुत्वाकर्षण प्रगट होता है। जिस दिन गुरु की करुणा साफ होती है। उस दिन बुद्ध की प्रतिमा उसे दिखायी पड़ी। मिली होगी झलक एक अंधेरे में। देखा होगा बुद्ध का प्रकाशमान रूप। उस दिन बुद्ध का दीया ही महत्वपूर्ण न रहा, बुद्ध की भीतर की ज्योति

से थोड़ा संबंध बना। उस दिन सत्संग हुआ। उस दिन बुद्ध की देह न रही मूल्यवान, बुद्ध की अंतरात्मा, बुद्ध के भीतर छिपा हुआ निराकार, निःशब्द। प्रेम में ही सत्संग बनता है। उस दिन उसे प्रमाण मिला कि बुद्ध का प्रेम है उसके प्रति। इस बुद्ध के प्रेम में ही उसके भीतर भी प्रेम जगा होगा--प्रेम ने प्रेम को पुकारा, प्रेम ने प्रेम के हाथ में हाथ दे दिया। उस दिन से नाच शुरू हुआ, उस दिन से उत्सव शुरू हुआ। उस दिन से उदासी न रही, उस दिन से एक अपूर्व आनंद की वर्षा होने लगी।
इस वज्जीपुत्त भिक्षु से ही भगवान ने ये गाथाएं कही थीं--
"गलत प्रवज्या में रमण करना दुष्कर है।"
गलत प्रवज्या यानी लोभ से लिया गया संन्यास।
"न रहने योग्य घर में रहना दुखद है।"
अब यह जो तूने लोभ का घर बना लिया, यह रहने योग्य था ही नहीं। तूने घर
का नाम बदल लिया, संसार की जगह संन्यास लिख दिया, मगर यह गलत घर गलत ही था, रहता तू उसी में रहा। यह लोभ के घर को गिरा दे।
"असमान या प्रतिकूल लोगों के साथ रहना दुखद है। संसार के मार्ग का पथिक न बने और न दुखी हो।"
तू लोभ को छोड़। लोभ के कारण गलत घर बना लिया, लोभ के कारण गलत लोगों से संबंध जोड़ लिया। लोभ के कारण असमान और प्रतिकूल लोगों के साथ संबंध जुड़ता है। लोभ के कारण ही शत्रुता पैदा होती है। लोभ के कारण ही तथाकथित मित्रता पैदा होती है। लोभ के कारण मोह बनता है, द्वेष बनता है; लोभ के कारण घृणा आती है, हिंसा आती है; लोभ से सारा फैलाव होता है। फिर इन सबके साथ रहना पड़ता है--घृणा, हिंसा, ईर्ष्या, मत्सर, मद, अहंकार; और इनके साथ रहना दुखद है। एक तो लोभ का घर और ये संगी-साथी!
"इसलिए संसार के मार्ग का पथिक न बने और न दुखी हो।"
संसार का अर्थ है, लोभ। लोभ के मार्ग का पथिक न बने।
"श्रद्धा और शील से संपन्न हो।"
संदेह से कोई कभी सुख तक नहीं पहुंचा। श्रद्धा से पहुंचते लोग सुख तक।
"श्रद्धा और शील से संपन्न... ।"
और शील का अर्थ होता है, लोभ को छोड़कर जो जीवन में आचरण बचता है, उसका नाम शील है। लोभ के कारण जो आचरण है, वही कुशीलता है। लोभमुक्त जो आचरण है, वही शील है, उसका सौंदर्य अपूर्व है।
अब तुम सोचो! अगर तुम ध्यान करने भी लोभ के कारण बैठे तो ध्यान शील नहीं है। यह बुद्ध की अनूठी व्याख्या है। बुद्ध कहते हैं, ध्यान का मजा लेने के लिए है। ध्यान में ही रस लेने के लिए बैठे। कोई लोभ नहीं है, कुछ और पाने की इच्छा नहीं है, ध्यान करने में ही सारा मजा है, ध्यान के बाहर कोई लक्ष्य नहीं है, कोई फलाकांक्षा नहीं है। ध्यान अपने में ही अपना फल है। मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, ध्यान करेंगे तो क्या मिलेगा? क्या, लाभ क्या होगा? उनकी समझ में ही यह बात नहीं आती कि ध्यान और लाभ का कोई संबंध नहीं है, क्योंकि लाभ का संबंध लोभ से होता है। लाभ तो लोभ का पुत्र है। ध्यान का लोभ से कोई संबंध नहीं है, लाभ से कोई संबंध नहीं है। ध्यान तो ऐसी चित्त की दशा है, जब तुम कुछ भी नहीं मांगते, न कुछ चाहते; न कहीं जाना चाहते, न कुछ होना चाहते। ध्यान तो परम संतुष्टि है, कहां लाभ? कहां रोगों की बात उठा रहे हो? कहां बीमारियां ला रहे हो? लाभ में तो तनाव है। फिर लाभ में चिंता है। फिर कम हुआ कि ज्यादा हुआ, तो अहंकार है या विषाद है। फिर तो उपद्रव शुरू हो जाते हैं। फिर और ज्यादा हो, फिर और ज्यादा हो, फिर और की दौड़ पैदा होती है। और की दौड़ ही तो मन है। फिर संसार का चाक घूमने लगता है।
तो बुद्ध कहते हैं, "श्रद्धा और शील से संपन्न, यश और भोग से मुक्त पुरुष।"
कुछ भोग लूं, कुछ पा लूं, कुछ बन जाऊं--यश की आकांक्षा--कुछ बन जाऊं, कि राष्ट्रपति हो जाऊं, कि प्रधानमंत्री हो जाऊं, कि धनपति हो जाऊं, कि बड़ा

प्रसिद्ध हो जाऊं। कुछ हो जाऊं--यश--और कुछ भोग लूं, इन दो आकांक्षाओं से ही, इन दो पैरों से ही सारा संसार चल रहा है। यश और भोग।
चीन में एक कथा है। एक सम्राट अपने मंत्री के साथ महल पर खड़ा था और सागर में हजारों नौकाएं चल रही थीं, हजारों जहाज चल रहे थे। सम्राट ने अपने वजीर से कहा--वजीर बूढ़ा था--उस बूढ़े वजीर से कहा, देखते हैं, हजारों जहाज समुद्र में चल रहे हैं। उस बूढ़े वजीर ने देखा और उसने कहा कि नहीं महाराज, जहाज तो दो ही हैं। सम्राट बोला, दो? आपकी आंखें तो ठीक हैं न! उम्र ने कहीं आंखें तो खराब नहीं कर दीं? नहीं, उसने कहा कि दो ही जहाज हैं--यश और भोग। बाकी सब जहाज तो ठीक ही हैं, बाकी उन्हीं के कारण चल रहे हैं। अगर इन सब जहाजों को बांटा जाए तो दो कतारों में बंट जाएंगे, कोई यश के लिए चल रहा है, कोई धन के लिए चल रहा है।
दुनिया में दो ही तो महत्वाकांक्षाएं हैं--एक धन की महत्वाकांक्षा और
एक पद की महत्वाकांक्षा। दुनिया में दो ही तो राजनीतियां हैं--एक पद की राजनीति, एक धन की राजनीति।
"इन दो से जो मुक्त है", बुद्ध कहते हैं, "वह जहां भी जाता है, सर्वत्र पूजित होता है।"
यह बड़ी अनूठी बात है। जो यश के भाव से मुक्त है, उसे यश मिलता। जिसे यश
की आकांक्षा नहीं, उसे यश मिलता। और जिसे भोग का कोई ख्याल नहीं रहा, उसे परम भोग उपलब्ध होता है। उस पर भोग की वर्षा हो जाती है।
द्वितीय दृश्य--

भगवान के श्रावक अनाथपिंडक सेठ की लड़की चूलसुभद्दा का विवाह उग्रनगरवासी उग्गत सेठ के पुत्र से हुआ था। उग्गत सेठ मिथ्या-दृष्टि था। वह पाखंडियों का आदर करता था। धर्म में नहीं, चमत्कारों में उसकी श्रद्धा थी। सो मदारियों और जादूगरों और धूर्तों का उसके घर में बड़ा सम्मान था। इन तरह-तरह के ढोंगियों के आने पर वह चूलसुभद्दा को भी उन्हें प्रणाम करने के लिए कहता था। वह सम्यक-दृष्टि युवती इन तथाकथित साधुओं, संतों और महात्माओं के पास जाने में झिझकती थी और किसी न किसी तरह टाल जाती थी। जिसने बुद्ध के चरणों में सिर रखा हो, फिर हर किसी के चरणों में सिर रखना कठिन हो जाता है। और इसमें कुछ आश्चर्य भी नहीं। जिसने कोहिनूर जाना हो, फिर उसे कंकड़-पत्थर नहीं लुभा सकते हैं।
लेकिन उसका यह व्यवहार उसके ससुर को कष्टकर होने लगा। उसके पति को भी कष्टकर होने लगा, उसकी सास को भी कष्टकर होने लगा। वह सारा परिवार ही पाखंडियों के जाल में था। उनके अहंकार को चोट लगती थी। उन्हें यह बात ही बहुत कष्टकर मालूम होती थी कि उनके महात्मा पाखंडी हैं। यह बात उनके बरदाश्त के बाहर होने लगी।
एक दिन वह आगबबूला हो उठा और क्रोध में सुभद्दा से बोला--तू सदा हमारे साधुओं का अनादर करती है, सो बुला अपने बुद्ध को और अपने साधुओं को, हम भी तो उन्हें देखें! देखें क्या चमत्कार हैं उनमें! और देखें क्या रिद्धियां- सिद्धियां हैं!
चूलसुभद्दा ने ससुर की ऐसी बात सुनकर जेतवन की ओर प्रणाम करके, आनंद आंसुओं से भरी हुई आंखों से कहा--भंते, कल के लिए पांच सौ भिक्षुओं के साथ मेरा भोजन स्वीकार करें। मुझे भुला तो नहीं दिया है न! और मेरी आवाज तो आप तक पहुंचती है न! मैं हूं चूलसुभद्दा! और फिर उसने तीन मुट्ठी जुही के फूल आकाश की ओर फेंके। वे फूल वहीं जमीन पर गिर पड़े। ससुर और उसका सारा परिवार इस पागलपन पर खूब हंसा। क्योंकि जेतवन वहां से मीलों दूर था जहां बुद्ध ठहरे थे। और जब फूल ही नहीं गए तो संदेश क्या खाक जाएगा! लेकिन चूलसुभद्दा भगवान के स्वागत की तैयारियों में संलग्न हो गयी।
अब दृश्य बदलें, चलें जेतवन--
भगवान बोलते थे--सुबह-सुबह की घड़ी होगी--बीच में अचानक आधा वाक्य था, अटक गए; बोले नहीं, रुक गए। और बोले--भिक्षुओ, जुही के फूलों की गंध आती है न! और उन्होंने उग्रनगर की ओर आंखें उठायीं। तभी अनाथपिंडक ने खड़े होकर कहा--भंते, कल के लिए मेरा भोजन स्वीकार करें। भगवान ने कहा--गृहपति, मैं

कल के लिए तुम्हारी बेटी चूलसुभद्दा द्वारा निमंत्रित हूं। उसने जुही के फूलों की गंध के साथ अभी-अभी आमंत्रण भेजा है। अनाथपिंडक ने चकित होकर कहा--भंते, चूलसुभद्दा यहां से मीलों दूर है, वह कैसे आपको निमंत्रित की है! मैं उसे यहां कहीं देखता नहीं। भगवान हंसे और उन्होंने कहा--गृहपति, दूर रहते हुए भी सत्पुरुष सामने खड़े होने के समान प्रकाशित होते हैं। मैं अभी सुभद्दा के सामने ही खड़ा हूं। श्रद्धा बड़ा सेतु है, वह समय और स्थान की सभी दूरियों को जोड़ने में समर्थ है। वस्तुतः श्रद्धा के आयाम में समय और स्थान का अस्तित्व ही नहीं है। अश्रद्धालु पास होकर भी दूर और श्रद्धालु दूर होकर भी पास ही होते हैं। और तब उन्होंने ये गाथाएं कहीं--

दूरे संतो पकासेंति हिमवंतो" व पब्बता।
असंतेत्थ न दिस्संति रत्तिखित्ता यथासरा।।
एकासनं एकसेय्यं एको चरमतंदितो।
एकोदममत्तानं वनंते रमतो सिया।।

"संत दूर होने पर भी हिमालय पर्वत की भांति प्रकाशते हैं और असंत पास होने पर भी रात में फेंके बाण की तरह दिखलायी नहीं देते।"
"एक ही आसन रखने वाला, एक ही शय्या रखने वाला और अकेला विचरने वाला बने। और आलस्यरहित हो और अपने को दमन कर अकेला ही वनांत में रमण करे।" पहले इस मीठी कहानी को समझें।
अनाथपिंडक बुद्ध के खास श्रावकों में एक था। उसका असली नाम क्या था, भूल ही गया है। बुद्ध उसे अनाथपिंडक कहते थे, क्योंकि वह बड़ा दानी था, अनाथों को देता था। अनाथों को देने के कारण अनाथपिंडक था। जेतवन उसी की भूमि थी, जो उसने बुद्ध को भेंट की थी। उसकी बेटी थी चूलसुभद्दा। बचपन से ही बुद्ध की छाया में बड़ी हुई थी। जेतवन में बुद्ध अक्सर ठहरते थे। ये इतनी जो कहानियां मैंने कहीं, बहुत सी कहानियों में जेतवन में विहरते थे, जेतवन में विहरते थे, आता है। जेतवन अनाथपिंडक द्वारा दिया गया जंगल था बुद्ध के लिए।
छोटी थी, तभी से चूलसुभद्दा ने बुद्ध की तरफ देखना शुरू किया था। सौभाग्यशाली थी, धन्यभागी थी, क्योंकि जिन्हें बचपन से बुद्धपुरुषों का साथ मिल आए उससे बड़ी और कोई बात नहीं। क्योंकि बच्चों के हृदय होते हैं सरल, उन पर छाप जल्दी पड़ती है, गहरी पड़ती है। जितनी देर होती जाती है उतनी मुश्किल होती जाती है। उतनी जटिलता हो जाती है। बड़े होकर और हजार बातें बाधा बन जाती हैं। बच्चे के सामने कोई बाधा नहीं होती। बच्चे तो एक अर्थ में बुद्ध के निकटतम होते हैं। उन्हें मौका मिल जाए तो उनकी वीणा तो जल्दी बजने लगती है। उन्हें मौका मिल जाए तो उनका ध्यान तो जल्दी लगने लगता है। मौके की ही बात है।
चूलसुभद्दा सौभाग्यशाली थी। अनाथपिंडक बुद्ध का दीवाना श्रावक था। बुद्ध के पीछे पागल होकर घूमता था। जहां बुद्ध जाते, वहीं जाता था। और अक्सर बुद्ध उसकी भूमि में निवास करते थे। तो चूलसुभद्दा बचपन से ही बुद्ध की वाणी पर पली थी। दूध के साथ ही उसने बुद्ध का स्मरण भी पीया था। फिर उसका विवाह हुआ। जिसके यहां विवाह हुआ--उग्गत सेठ के पुत्र से, उग्रनगरवासी--उसकी बुद्ध में कोई श्रद्धा न थी। उसने बुद्ध को कभी देखा भी न था। उसकी श्रद्धा तो चमत्कारों में थी। तो बाजीगर, जादूगर, मदारी, कोई स्थूल बातें दिखलाएं, इसमें उसकी श्रद्धा थी। उसके घर में ऐसे पाखंडियों की कतार लगी रहती। वह चूलसुभद्दा को भी स्वभावतः कहता था कि हमारे गुरु आए हैं, उनके चरण छुओ।
चूलसुभद्दा मुश्किल में पड़ती होगी--इनकार भी नहीं करना चाहती थी, और जिसने बुद्ध के चरण छुए हों, कथा कहती है, अब हर किसी के चरण छूना कठिन हो जाता है। जिसने बुद्ध को देखा हो, फिर और कोई सूरत मन नहीं भाती। जिसने बुद्ध से थोड़ी सी भी संगति बांध ली हो, कोहिनूर मिल गया, अब कंकड़-पत्थरों की कोई कितनी ही प्रशंसा करे, कितनी ही स्तुति करे, तो भी उसकी पहचानने वाली आंखें अब कंकड़-पत्थरों के लोभ में नहीं पड़ सकतीं।

वह हंसती होगी मन ही मन में, कुछ कहती भी न थी--घूंघट मार लेती होगी--कि कोई ताबीज निकालकर दे रहा है हवा से, कोई राख गिरा रहा है, सब मदारी। इनके जीवन में नहीं कोई बुद्धत्व की किरण है, नहीं कोई शांति है, नहीं कोई आनंद है, नहीं कोई समाधि है।
लेकिन धीरे-धीरे यह बात ससुर को अखरने लगी। अक्सर अखरता है। तुम्हारे गुरु को कोई न माने तो अखरता है, कष्ट होता है। क्योंकि तुम्हारे गुरु के साथ तुम्हारा अहंकार जुड़ गया होता है। तुम्हारे गुरु का मतलब यह है, तुम्हारा गुरु ठीक तो तुम ठीक। अगर तुम्हारा गुरु गलत तो फिर तुम भी गलत। तो थोड़े दिन तो ससुर ने सहा होगा, फिर धीरे-धीरे उसने कहा यह बात ज्यादा हुई जा रही है--वह कभी छूने न गयी पैर। कभी झुकी नहीं किसी और के लिए। बच जाती, कोई हजार बहाने निकाल लेती, कोई काम करने लगती, यहां-वहां सरक जाती, पड़ोस में हो जाती होगी।

एक दिन ससुर आगबबूला हो उठा। क्रोध में सुभद्दा से बोला--तू सदा हमारे साधुओं का अनादर करती है।
साधुओं का उसने अनादर किया भी नहीं था, लेकिन कोई साधु हो तब न! वह तो केवल असाधुओं के चरणों में झुकने से इनकार कर रही थी।
सो बुला अपने बुद्ध को, उसके ससुर ने कहा, और अपने साधुओं को, हम भी तो उन्हें देखें। सदा उन्हीं-उन्हीं की बात करती है। देखें क्या चमत्कार है उनमें! देखें क्या रिद्धियां-सिद्धियां हैं!
फिर भी उसकी नजर तो चमत्कार पर है, रिद्धि-सिद्धि पर है। बुद्ध को फिर
भी वह पहचान न पाएगा। अगर यही नजर रहती है, तो बुद्ध को पहचानना असंभव हो जाएगा। यह गलत दृष्टि है। इसलिए सूत्र कहता है कि मिथ्या-दृष्टि था। सम्यक-दृष्टि वह है जो जीवन के सत्य की तलाश करता है। और मिथ्या-दृष्टि वह है जो जीवन के सत्य की तलाश तो नहीं करता, जीवन में और शक्तिशाली कैसे हो जाए इसकी खोज करता है।
रिद्धि-सिद्धि का क्या अर्थ है? रिद्धि-सिद्धि का अर्थ है, वही संसार
का रोग फिर लगा है। पहले धन कमाते थे, अब सिद्धियां कमाते हैं। पहले भी लोगों को प्रभावित करने में उत्सुक थे, अब भी लोगों को प्रभावित करने में उत्सुक हैं। पहले भी चाहते थे कि हमारे हाथ में शक्ति हो, बल हो, अब भी वही खोज चल रही है। सम्यक-दृष्टि शांति खोजता है, मिथ्या-दृष्टि शक्ति।
फर्क समझ लेना। अगर तुम शक्ति खोजने निकले हो तो तुम मिथ्या-दृष्टि हो। और अगर तुम शांति खोजने निकले हो तो तुम सम्यक-दृष्टि हो। और मजा यह है कि जो शांति खोजता है उसे शक्ति अनायास मिल जाती है। और जो शक्ति खोजता है उसे शांति तो मिलती ही नहीं, शक्ति का भी सिर्फ धोखा ही पैदा करता है। शक्ति के नाम पर चालबाजियां।
आज ही ऐसा नहीं चल रहा है, सदा से ऐसा चलता रहा है। तुम चालबाजों के पास बड़ी भीड़-भाड़ देखोगे। और कुछ क्षुद्र बातों के लिए भीड़-भाड़ चलती है। कोई के हाथ से राख गिरती है और लाखों लोग इकट्ठे हो जाएंगे। अब राख के गिरने से भी क्या होता है!
एक मित्र ने मुझे पत्र लिखा कि उनकी पत्नी सत्य साईंबाबा को मानती है... और वह मुझे मानते हैं। उनका पत्र आया है कि एक चमत्कार हो गया। सत्य साईंबाबा की फोटो से राख गिरती है। तो उनकी पत्नी ने कहा कि--किसी दिन हो गया होगा विवाद--तो उनकी पत्नी ने कहा कि तो तुम्हारे भगवान की फोटो से राख गिरे, तो मैं मानूं। जिद्द चढ़ गयी होगी पति को भी। यह मामला अहंकार का, पति- पत्नी के अहंकार का मामला। तो उन्होंने भी फोटो मेरी रख दी होगी। मेरे पास पत्र आया कि बड़ी हैरानी की बात है, दूसरे दिन राख गिरी। आपके फोटो से भी राख गिरी। आप क्या कहते हैं?
तो मैंने उन्हें लिखा कि पत्नी न केवल साईंबाबा के फोटो से राख गिरा रही है, वह मेरी फोटो से भी राख गिरा रही है, तुम पत्नी से सावधान! मेरा इसमें कोई हाथ नहीं है।
पत्नी ने ही आखिर पति पर दया की होगी, सोचा होगा कि अब बात ज्यादा बिगड़ जाएगी, तो रात उस मेरी फोटो पर भी छिड़क आयी होगी राख। जैसा साईंबाबा की पर

छिड़कती रही, उसने--पत्नियां हैं, दयालु होती हैं--उसने सोचा होगा, अब पति की भी इज्जत बचाओ। मगर पति इससे बड़े चमत्कृत हैं।
हमारी बुद्धियां छोटी हैं, हमारी बुद्धियां ओछी हैं। यह बात उनको बहुत जंची कि राख गिरी। अब राख गिरने से होगा भी क्या! समझो कि गिरी, तो भी क्या होने वाला है? इसका कोई भी तो मूल्य नहीं है, दो कौड़ी की बात है। मगर हमारे मन दो कौड़ी के हैं। और हमारे मन इस तरह की क्षुद्र बातों में बड़ा रस लेते हैं।
तो पूछा सुभद्दा के ससुर ने कि देखें क्या चमत्कार है उनमें? देखें क्या रिद्धियां-सिद्धियां हैं?
अब बुद्ध में रिद्धियां-सिद्धियां होती ही नहीं। बुद्धपुरुष का अर्थ
ही होता है, जो रिद्धि-सिद्धि के पार हुआ। बुद्धत्व तो आखिरी बात है। बुद्धत्व में कोई चमत्कार नहीं होते। क्योंकि बुद्धत्व महाचमत्कार है। किसी ने झेन फकीर बोकोजू से पूछा, तुम्हारा चमत्कार क्या है? तो उसने कहा, जब मुझे भूख लगती है, भोजन कर लेता; जब नींद आती तो सो जाता; जब नींद खुल जाती तो उठ आता, यही मेरा चमत्कार है। उन्होंने कहा, यह भी कोई चमत्कार है!
मगर बोकोजू ठीक कह रहा है। वह कह रहा है, सब सरल हो गया है। सब बालसुलभ
हो गया है। जब भूख लगी, रोटी खा ली; जब नींद आ गयी, सो गए; सब सरल हो गया है। वह बड़ी अनूठी बात कह रहा है। बुद्धपुरुष तो सरल होते हैं।
चूलसुभद्दा ने ससुर की ऐसी बात सुन जेतवन की ओर प्रणाम करके, आनंद आंसुओं से भरी हुई आंखों से कहा--भंते, कल के लिए पांच सौ भिक्षुओं के साथ मेरा भोजन स्वीकार करें। मुझे भुला तो नहीं दिया है न! और मेरी आवाज तो आप तक पहुंचती है न! और फिर उसने तीन मुट्ठी जुही के फूल आकाश की ओर फेंके। वे फूल वहीं गिर पड़े। ससुर और उसका सारा परिवार इस पागलपन पर हंसा। कहा कि जब फूल ही गिर गए तो संदेश क्या पहुंचेगा!
सोचा होगा उन्होंने, फूल फेंके तो फूल जाएंगे आकाश के मार्ग से, जाएंगे बुद्ध को संदेश लेकर। अगर यह घटना घटी होती तो वे भागकर बुद्ध के चरणों में खुद गए होते। लेकिन चूलसुभद्दा ने उनके हंसने की जरा भी चिंता न की। वह तो स्वागत की तैयारियों में लग गयी, कल भगवान आएंगे, पांच सौ भिक्षु आएंगे। ऐसी श्रद्धा होती है। वह तो इसने बात ही खतम हो गयी, कह दिया, निवेदन कर दिया, अब बात खतम हो गयी, अब और क्या करने को है। वह तैयारी में लग गयी। वह तो पागल की तरह दौड़ती रही होगी, दिनभर उसने तैयारियां की होंगी, पांच सौ भिक्षुओं का भोजन बनाना है, भगवान पहली दफा आएंगे, उनका भोजन बनाना है।
अब दृश्य बदलें, चलें जेतवन। भगवान बोलते थे, अचानक बीच में रुक गए और बोले--भिक्षुओ, जुही के फूलों की गंध आती है?
शायद किसी को भी न आयी हो, शायद सिर्फ बुद्ध को ही आयी हो, क्योंकि कहानी कुछ कहती नहीं कि किसी ने कहा कि हां, हमें भी आती है।
और उन्होंने उग्रनगर की ओर आंखें उठायीं। तभी अनाथपिंडक ने खड़े होकर कहा--चूलसुभद्दा के पिता ने, वह उसका गांव था--भंते, कल के लिए मेरा भोजन स्वीकार करें। बुद्ध ने कहा--क्षमा करो गृहपति, मैं निमंत्रण स्वीकार कर चुका। तुम्हारी बेटी चूलसुभद्दा का निमंत्रण मैंने स्वीकार कर लिया है। कल तो मुझे वहां जाना होगा। उसने जुही के फूलों की गंध के साथ अभी-अभी आमंत्रण भेजा है। तुम्हें गंध नहीं मालूम होती? कैसी जुही के फूलों की गंध चारों तरफ भर गयी है!
शायद उसे भी गंध का पता न चला हो। अनाथपिंडक ने चकित होकर कहा--भंते, चूलसुभद्दा यहां से मीलों दूर, वह कैसे आपको निमंत्रित की है! तो भगवान ने कहा--गृहपति, दूर रहते हुए भी सत्पुरुष सामने खड़े होने के समान प्रगट होते हैं, प्रकाशित होते हैं। मैं अभी सुभद्दा के सामने ही खड़ा हूं। श्रद्धा बड़ा सेतु है, वह समय और स्थान की सभी दूरियों को जोड़ देता है। वस्तुतः श्रद्धा के आयाम में समय, स्थान का अस्तित्व होता ही नहीं। अश्रद्धालु पास होकर भी दूर और श्रद्धालु दूर होकर भी पास होते हैं।

देखा, अभी-अभी वज्जीपुत्त की कथा हमने पढ़ी। वह पास था और दूर था। और अब
हम पढ़ते हैं कथा सुभद्दा की--दूर है और पास है।
तब उन्होंने ये सूत्र कहे थे।
सूत्र के पहले तीन बातें, जो मैंने इस कहानी में फर्क की हैं, वह तुम्हें निवेदन कर दूं।
पहली बात, कथा कहती है कि उग्गत सेठ जिन-श्रावक था। वह महावीर का भक्त था। यह बात मैंने अलग कर दी। क्योंकि महावीर उतने ही चमत्कारों के पार हैं, जितने बुद्ध। न बुद्ध ने कोई चमत्कार किए हैं, न महावीर ने कोई चमत्कार किए हैं। अगर कोई चमत्कार हुए हैं तो हुए हैं, किए किसी ने भी नहीं।
इसलिए जिन्होंने कथा लिखी है--शिष्यों में तो विवाद चलते ही रहते हैं; बुद्ध के शिष्य और महावीर के शिष्य जगह-जगह लड़ते थे, चौराहे-चौराहे पर लड़ते थे, उनमें भारी विवाद थे, वे एक-दूसरे की निंदा करते थे; शिष्यों की समझ कितनी! कथा भी शिष्यों ने लिखी है, तो नासमझी उसमें भरी है। इसलिए मैंने महावीर का श्रावक था सुभद्दा का ससुर, वह बात अलग कर दी है।
अगर महावीर का भक्त होता तो पाखंडियों का भक्त हो ही नहीं सकता था। दो में से एक ही हो सकता है, या तो पाखंडियों का भक्त रहा हो, या महावीर का भक्त रहा हो। और मेरे सामने दो ही विकल्प थे, या तो महावीर का भक्त मानूं, पाखंडियों का भक्त न मानूं, लेकिन तब कहानी में कोई अर्थ ही न रह जाएगा, क्योंकि जिसने महावीर को पहचान लिया उसने बुद्ध को भी पहचान ही लिया। ये दोनों ही भीतर बिल्कुल एक जैसे हैं। शायद बाहर का रूप-रंग अलग हो, मगर बाहर के रूप-रंग की बात ही कहां हो रही है। बात तो भीतर की हो रही है। भीतर महावीर और बुद्ध का स्वाद बिल्कुल एक जैसा है, उसमें रत्तीभर फर्क नहीं है।
तो अगर मैं पाखंडियों का हिस्सा अलग कर देता और कहता कि महावीर का भक्त है, तो पूरी कहानी खराब हो जाती, फिर कहानी में कोई मतलब ही नहीं रह जाता। इसलिए मैंने महावीर का भक्त था, यह बात अलग कर दी है।
दूसरी बात, कहानी कहती है कि चूलसुभद्दा ने तीन मुट्ठी फूल फेंके, वे आकाश में तिरोहित हो गए। पहुंचे तीर की तरह बुद्ध के ऊपर, छतरी बनकर खड़े हो गए, आकाश में अधर में लटक गए। वह बात भी मैंने अलग कर दी है। क्यों? स्थूल का चमत्कार अर्थहीन है। इसलिए मैंने इतनी ही बात रखी है--फूलों की सुगंध पहुंची। सूक्ष्म पहुंचा, स्थूल तो गिर जाता है, स्थूल कहां जाता है। सूक्ष्म की अनंत यात्रा है। चमत्कार सूक्ष्म में होते हैं, स्थूल में नहीं। उसका निवेदन पहुंचा, उसकी प्यास पहुंची, उसकी पुकार पहुंची, उसकी श्रद्धा की सुगंध पहुंची। मगर फूल पहुंचे, इस तरह की अवैज्ञानिक बात मैं नहीं कहना चाहता।
लेकिन भक्तों को तो अतिशयोक्ति करने की होड़ होती है। असल में भक्त तो
यह सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं कि बुद्ध और भी बड़े चमत्कारी थे। वे जो पाखंडी आते थे, उनसे बड़े चमत्कारी थे। भक्तों की चेष्टा तो यह रहती है कि वह चमत्कार करने वाले जो पाखंडी थे, वे तो छोटे-मोटे चमत्कारी थे, बुद्ध महाचमत्कारी थे, देखो फूल भी पहुंच गए! और छोड़ो बुद्ध की, बुद्ध की श्राविका का चमत्कार देखो! बुद्ध तो दूर, बुद्ध की भक्त सुभद्दा का चमत्कार देखो!
तो कथा में चमत्कार को ही जिताने-हराने की चेष्टा है। वह बात मुझे कभी जंचती नहीं। वह बात मैंने अलग कर दी।
और इस दुनिया को भी न जंचेगी। दुनिया बहुत आगे आ गयी है, बचकानी बातें
अब बहुत अर्थ नहीं रखती हैं। हमें शास्त्रों में से बहुत कुछ काटकर फेंक देना है। जो-जो अवैज्ञानिक मालूम पड़े, काटकर फेंक देना है। हां, काव्य को बचा लो, लेकिन विज्ञान के विपरीत नहीं जाना चाहिए काव्य। काव्य विज्ञान के ऊपर जाए, चलेगा, विपरीत न जाए। विज्ञान विरोधी न हो, विज्ञान सहयोगी हो। तो काव्य को मैं बचा लेता हूं सदा, अविज्ञान को काट देता हूं। फूल गए,
तो यह बात विज्ञान के विपरीत हो जाएगी। लेकिन सुगंध गयी, यह काव्य है। इतनी छुट्टी हम कविता को दें। क्योंकि इतनी कविता भी मर जाए तो जीवन में

सब रहस्य मर जाता है। सुगंध गयी इसका केवल मतलब ही इतना है, स्थूल कुछ भी न गया, सूक्ष्म गया। यह प्रतीक है। इसलिए मैंने फूल वहीं गिरा दिए। बुद्ध मुझसे प्रसन्न होंगे, बौद्ध मुझसे नाराज होंगे।
तीसरी बात, कथा कहती है कि सुभद्दा का नगर कई योजन दूर था। वह बात भी मैंने बदल दी है, मैंने कहा, कुछ मील दूर था। क्योंकि फिर दूसरे दिन बुद्ध को भी पहुंचाना है न! कथा तो कहती है, बुद्ध आकाशमार्ग से गए। पांच सौ भिक्षुओं को लेकर आकाशमार्ग से उड़े और पहुंच गए क्षणभर में। इस तरह की फिजूल बातों में मुझे जरा भी रस नहीं है। तो कई योजन मैंने काट दिया, थोड़े से दूर, कुछ मील, चले होंगे सुबह दो-चार-पांच मील, पहुंच गए होंगे। चलकर ही गए।
आकाशमार्गों में मेरी बहुत निष्ठा नहीं है। पृथ्वी के मार्ग काफी प्यारे हैं, आकाशमार्ग से जाने की कोई जरूरत भी नहीं है। और पांच सौ भिक्षुओं को लेकर जाना जरा बेहूदा भी लगेगा! और ऐसे लोग उड़ें! आकाश से जाएं-आएं!
लेकिन कथा तो क्षुद्र बुद्धि से निकलती है। वह चमत्कार दिखलाना चाहते हैं। तो कथा यह भी कहती है कि जब बुद्ध पहुंचे पांच सौ भिक्षुओं को लेकर आकाशमार्ग से, तो सुभद्दा का ससुर और पति और सास और सारा परिवार एकदम चरणों में झुक गया। ऐसा चमत्कार तो देखा नहीं था। न केवल यह, उनका पूरा नगर भी तत्क्षण बुद्ध से दीक्षित हुआ।
अगर चमत्कार से दीक्षित हुए तो बुद्ध से दीक्षित हुए ही नहीं। इसलिए कथा का अंत मैंने ऐसा किया है--दूसरे दिन भगवान ने मीलों की यात्रा की। चूलसुभद्दा का निमंत्रण था, यह यात्रा करनी ही पड़ी। रास्ता कई मील का था, थक भी गए होंगे, लेकिन जब प्रेम पुकारे तो चलना ही होता है। भगवान का पहुंचना। कोई चमत्कार तो नहीं घटे, लेकिन भगवान का पहुंचना ही बड़े से बड़ा चमत्कार है। उनकी मौजूदगी, उनकी उपस्थिति बड़ा चमत्कार है। उनकी सरलता, उनकी सहजता, प्रेम के साथ चलने की उनकी क्षमता, उनकी करुणा, उनकी समाधि। बुद्ध की सरलता ने, उनकी समाधि ने सुभद्दा के ससुर को छू लिया।
सच में इसी की तो तलाश में था सुभद्दा का ससुर भी। आदमी चमत्कारी के
भी पास जाता है तो जाता तो इसी तलाश में है कि शायद असली सोना मिल जाए। आदमी झूठ के पास भी जाता है तो सच की ही खोज में जाता है, ऐसी मेरी श्रद्धा है। तुम अगर संसार में भी उलझे हो तो तुम उलझे समाधि के लिए ही हो। तुम सोचते हो, शायद समाधि यहां मिल जाए। शायद सुख यहां मिल जाए, शांति यहां मिल जाए। गलत दिशा में खोज रहे हो जरूर, लेकिन लक्ष्य गलत नहीं है। लक्ष्य तो किसी का भी गलत नहीं है।
यहां हम सभी परमात्मा को खोज रहे हैं, हमने नाम अलग-अलग रख लिए हैं-- किसी ने परमात्मा का नाम रुपया, किसी ने परमात्मा का नाम पद। स्वभावतः, परमात्मा रुपए में नहीं समा सकता, इसलिए रुपया मिल जाता है और एक दिन हम पाते हैं परमात्मा नहीं मिला। इसमें कुछ भूल हमारी खोज की नहीं थी, दिशा की थी।
जाता होगा चमत्कारियों के पास, पाखंडियों के पास, लाता होगा पाखंडियों को घर में इसी आशा में। अनजानी, अचेतन में घूमती हुई यही अभीप्सा रही होगी। और जब सत्य खड़ा हो गया सामने आकर तो मिथ्या से श्रद्धा हट जाए इसमें आश्चर्य क्या है! सत्य को अपने समर्थन के लिए किन्हीं सिद्धियों, किन्हीं रिद्धियों, किन्हीं चमत्कारों की कोई जरूरत नहीं है, सत्य अपने में काफी है, पर्याप्त है। असत्य को चमत्कारों की जरूरत है। असत्य बिना चमत्कारों के खड़ा ही नहीं हो सकता। असत्य लंगड़ा है, उसे चमत्कार की बैसाखियां चाहिए। सत्य के तो अपने ही पैर हैं, उसको किसी का सहारा नहीं चाहिए।
तो मैंने कथा का अंत ऐसे किया है कि बुद्ध की सरलता, उनकी शून्यता, उनकी समाधि की गंध, उनकी करुणा! एक युवती की पुकार पर मीलों तक उनका चलकर आना, पसीने से लथपथ, धूल से भरे रहे होंगे--आकाशमार्ग से तो आए नहीं थे, जमीन से आए थे! नंगे पैर चलते थे बुद्ध--एक युवती की पुकार पर इतनी दूर

चलकर आना, ऐसा उनका अनुग्रह, इस सबने छू लिया होगा ससुर के हृदय को, इससे वह रूपांतरित हुआ था।
सूत्र तो सीधे साफ हैं।
"संत दूर होने पर भी हिमालय की, पर्वत की भांति प्रकाशते हैं।"
आंख हो तो संत कितने ही दूर हों, तो भी दिखायी पड़ते हैं। आंख न हो तो पास भी हों, तो दिखायी नहीं पड़ते। और संत कितने ही दूर हों तो भी हिमालय की तरह प्रकाशते हैं, बस श्रद्धा का द्वार खुला हो।
"और असंत तो पास होने पर भी रात में फेंके बाण की तरह दिखलायी नहीं देते।"
मगर ख्याल रखना, असंतों को असंत दिखलायी देते हैं, संतों को संत दिखलायी देते हैं। जैसे को वैसा दिखलायी देता है। समान समान को आकर्षित करता है।
एक ही आसन रखने वाले बनो, इसलिए बुद्ध ने कहा। शायद पूछा होगा अनाथपिंडक ने, तो भगवान ऐसी श्रद्धा कैसे उपलब्ध हो जैसी सुभद्दा को मिली? कैसे संत हमें भी दूर से ज्योतिर्मय प्रकाश की तरह दिखायी पड़ने लगें, हिमालय की तरह दिखायी पड़ें? हिमालय तो सैकड़ों मील दूर से दिखायी पड़ जाता है। तो पूछा होगा अनाथपिंडक ने, मैं तो आपके पास हूं, लेकिन पास ही लगे रहने का मोह बना रहता है, क्योंकि दूर जाता हूं और आप खो जाते हैं, इस मेरी बेटी सुभद्दा को क्या हुआ? यह घटना मेरे भीतर कैसे घटे?
तो बुद्ध ने कहा--

एकासनं एकसेय्यं एको चरमतंदितो।
एकोदममत्तानं वनंते रमतो सिया।।

"एक ही आसन रखने वाला, एक शय्या रखने वाला और अकेला विचरने वाला बने।" एकांत में रस ले, अकेले होने में रस ले। भीड़-भाड़ में रस को तोड़े, पर में
रस को तोड़े, स्वयं में डूबे। आत्मरमण करे।
"आलस्यरहित हो और अपने को दमन कर अकेला ही वनांत में रमण करे।"
और अहंकार को दबा दे, मिटा दे, नष्ट कर दे, अहंकार को जला दे। अपने को दमन कर--एकोदममत्तानं--वह जो अत्ता है हमारे भीतर, अहंकार है, वह मैं-भाव जो है, उस अत्ता को बिल्कुल ही नष्ट कर दे।
फर्क ख्याल में लेना। अक्सर ऐसा होता है, जो आदमी अकेले में जाता है
वह और अहंकारी हो जाता है, इसलिए बुद्ध ने यह बात कही। एकांतसेवी हो, लेकिन अहंकारसेवी न बन जाए। अकेले में रहे, लेकिन अकेले में रमते-रमते ऐसा न सोचने लगे कि मैं कोई बड़ा महत्वपूर्ण, कुछ विशिष्ट हो गया। संन्यस्त बने, लेकिन मैं संन्यासी हूं, ऐसी अकड़ न पकड़ जाए। ध्यान करे, लेकिन मैं ध्यानी हो गया, ऐसा अहंकार निर्मित न होने दे।
"एक ही आसन रखने वाला।"
न तो शरीर को बहुत हिलाए-डुलाए, एक ही आसन में बैठे। क्यों? क्योंकि
जब तुम्हारा शरीर बहुत हिलता-डुलता है तो तुम्हारा मन भी हिलता-डुलता है। सब जुड़े हैं। एकासन का मतलब होता है, शरीर को भी थिर रखें। शरीर के थिर रहने से मन के थिर रहने में सहायता मिलती है।
तुम जरा करके देखना। जब तुम्हारा शरीर बिल्कुल थिर होकर रह जाएगा, जैसे ज्योति हिलती भी न हो, हवा का कंप भी न आता हो, तो तुम अचानक पाओगे तुम्हारा मन भी शांत होने लगा।
यह सत्य योगियों को सदा से ज्ञात रहा है। इसलिए आसन का बड़ा बहुमूल्य अर्थ है। आसन का अर्थ है, आसानी से बैठ जाए, विश्राम से बैठ जाए और फिर बैठा रहे, एक ही आसन में डूबा रहे, शरीर ऐसा हो जाए जैसे मूर्ति, तो उस अवस्था में धीरे-धीरे मन भी ठहर जाता है। जो शरीर में होता है, मन में होता है; जो मन में होता है, शरीर में होता है। शरीर से शुरू करना आसान होगा।
इसलिए बुद्ध कहते हैं, "एक ही आसन रखने वाला--एकासनं--एक शय्या रखने वाला।"

बुद्ध कहते हैं, रात भी सोए तो एक ही करवट सोए, ज्यादा करवट भी न बदले,
एक ही करवट सोया रहे, ताकि रात भी चित्त न हिले।
"और अकेला विचरने वाला बने।"
और धीरे-धीरे दूसरों में रस ही न ले। धीरे-धीरे दूसरे पर जीवित होना छोड़े। धीरे-धीरे अपने को पर्याप्त समझे।
फिर यह भी ध्यान रहे कि यह एकांत, यह एकासन, यह एक शय्या, यह ध्यान, कहीं यह सब आलस्य का नाम न बन जाए। कहीं ऐसा न हो कि आलसी हो जाए--ऐसा बैठ गए, आलसी हो गए--कि कृत्य खो जाए, जीवन की ऊर्जा खो जाए। तो आलस्य को न आने दे, अन्यथा नींद आ जाएगी, समाधि न आएगी।
"अपने को दमन करे।"
अपने को दमन करने का जो मौलिक सूत्र है, वह है--एकोदममत्तानं--अत्ता के भाव को नष्ट कर दे। और अहंकार को न पलने दे। तो बुद्ध कहते हैं जो सुभद्दा को हुआ, ऐसा ही तुझे भी हो जाएगा। ऐसा ही सभी को हो जाता है। तब संतपुरुष कहीं भी हों, हिमालय की तरह सामने खड़े हो जाते हैं। श्रद्धा की आंखें खुल जाएं, हृदय के द्वार खुल जाएं, तो संतपुरुष कहीं भी हों, उपलब्ध हो जाते हैं। जो देह में हैं वे तो दिखायी पड़ने ही लगते हैं, जो देह में भी नहीं रहे, वे भी दिखायी पड़ने लगते हैं!
जिसके मन में आज भी बुद्ध के प्रति अपार श्रद्धा है, उसके लिए बुद्ध
आज उतने ही प्रत्यक्ष हैं जैसे तब थे। कोई फर्क नहीं पड़ा है। जिन्होंने महावीर को चाहा है और प्रेम किया है--लोभ के कारण नहीं, जन्म के कारण नहीं, जिनकी सच में ही श्रद्धा है--उनके लिए महावीर आज उतने ही सत्य हैं जितने कभी और थे। वैसे क्राइस्ट, वैसे नानक, वैसे कबीर, वैसे जरथुस्त्र, वैसे मोहम्मद। श्रद्धा की आंख हो तो समय और स्थान की सारी दूरियां गिर जाती हैं।
दो ही तो दूरियां हैं--समय की और स्थान की। आज हमसे बुद्ध की दूरी पच्चीस सौ साल की हो गयी, यह समय की दूरी है। उस समय बुद्ध और सुभद्दा में कोई पांच-सात मील की दूरी रही होगी। वह स्थान की दूरी थी।
लेकिन प्रेम के लिए और ध्यान के लिए न कोई स्थान की दूरी है, न कोई समय
की दूरी है। ध्यान और प्रेम की दशा में समय और स्थान दोनों तिरोहित हो जाते हैं। तब हम जीते हैं शाश्वत में, तब हम जीते हैं अनंत में। तब हम जीते हैं उसमें, जो कभी नहीं बदलता; जो सदा है, सदा था, सदा रहेगा। एस धम्मो सनंतनो। उसको जान लेना ही शाश्वत सनातन धर्म को जान लेना है।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 10
संतान्वे प्रवचन

मृत्युबोध के बाद ही महोत्सव संभव

पहला प्रश्नः आपने कहा कि जीवन का सत्य मृत्यु है। फिर मृत्यु का सत्य क्या है?

जीवन विरोधाभासों से बना है। जीवन विरोधाभासों के बीच तनाव और संतुलन है। तनाव भी और संतुलन भी। यहां प्रकाश चाहिए हो तो अंधेरे के बिना न हो सकेगा। यहां जीवन चाहिए हो तो मृत्यु के बिना नहीं हो सकेगा। तो एक अर्थ में अंधेरा प्रकाश का विरोधी भी है और एक अर्थ में सहयोगी भी।
ये दोनों बातें ख्याल में रखना। विरोधी इस अर्थ में कि अंधेरे से ठीक उलटा है। सहयोगी इस अर्थ में कि बिना अंधेरे के प्रकाश हो ही न सकेगा। अंधेरा पृष्ठभूमि भी है प्रकाश की।
और ऐसा ही जीवन-मृत्यु का संबंध है। मृत्यु के बिना जीवन की कोई संभावना नहीं। मृत्यु की भूमि में ही जीवन के फूल खिलते हैं। और मृत्यु में ही टूटते हैं, गिरते हैं, बिखर जाते हैं। जैसे पृथ्वी से ऊगता है पौधा, खिलता है, बड़ा होता है; पृथ्वी के सहारे ही खिलता और बड़ा होता है। और एक दिन वहीं गिरकर पृथ्वी में ही कब्र बन जाती है। ऐसे ही मृत्यु से जीवन निकलता है और मृत्यु में ही लीन हो जाता है। तो एक अर्थ में तो विपरीत है पृथ्वी पौधे के, क्योंकि एक दिन कब्र बनेगी। और एक अर्थ में मां भी है, क्योंकि बिना पृथ्वी के पौधा हो न सकेगा।
इस महत्वपूर्ण बात को प्रतीकात्मक ढंग से जैसा भारत में कहा गया है, वैसा कहीं भी नहीं कहा गया। तुमने देखा होगा, काली की प्रतिमा देखी होगी, काली के चित्र देखे होंगे। तो काली अति सुंदर है, पर काली है। सौंदर्य अपूर्व है, लेकिन अंधेरी रात जैसा, अमावस जैसा। काली मां है, मां का प्रतीक है, समस्त मातृत्व का प्रतीक है। मां का अर्थ होता है--जिससे सब पैदा हुआ। लेकिन काल मृत्यु का भी नाम है। तो काली मृत्यु का भी प्रतीक है, जिसमें सब लीन हो जाएगा। इसलिए मां काली के गले में आदमी के सिरों की माला है, हाथ में आदमी की अभी-अभी काटी नयी खोपड़ी है, टपकता हुआ रक्त है। यह प्रतीक बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें हमने जीवन और मृत्यु को साथ-साथ खड़े करने की कोशिश की है।
स्त्री जीवन का प्रतीक है--जीवन उससे आता है, भूमि है--और मृत्यु का प्रतीक भी। ऐसी हिम्मत दुनिया में कभी किसी दूसरी कौम ने नहीं की कि मां में मृत्यु देखी हो। मां में जन्म तो सभी को दिखायी पड़ा है, लेकिन भारत की खोज ऐसी है कि जहां से जन्म हुआ वहीं तो मृत्यु होगी न! जहां से आए, वहीं लौट जाना होगा। तो मां जन्म भी है, जन्मदात्री भी और मृत्यु भी है। काली भी है, काल भी है। प्रथम जहां से हम शुरू हुए, अंत में वहीं लौट जाएंगे। एक लहर उठी सागर में, फिर सागर में ही गिरेगी और समाप्त होगी।
तो जीवन और मृत्यु विपरीत हैं हमारे देखे, लेकिन अगर परमात्मा की दृष्टि से देखो तो सहयोगी हैं। जैसे दो पंख न हों तो पक्षी न उड़े, और दो पैर न हों तो तुम न चलो, ऐसे जीवन और मृत्यु दो पैर हैं अस्तित्व के।
तुमने पूछा कि "जीवन का सत्य, आप कहते हैं, मृत्यु है। फिर मृत्यु का सत्य क्या है?"
स्वभावतः, मृत्यु का सत्य जीवन है।
अब इस बात की गहराई में उतरो। अगर तुम बहुत जीने की आकांक्षा से भरे हो, तो तुम मृत्यु से डर जाओगे; क्योंकि जीवन का सत्य मृत्यु है। अगर जीवेषणा बहुत गहरी है, तो तुम बहुत घबड़ाओगे मौत से; तुम जीना चाहते हो और मौत आ रही है। और मजा यह है कि मौत जीने के सहारे ही आ रही है। जितना जीओगे, उतनी मौत करीब आ जाएगी। ज्यादा जीओगे, मौत और जल्दी आ जाएगी। न जीओ तो मरने से बच भी सकते हो, लेकिन जीओगे तो कैसे बचोगे? जीओगे तो प्रतिपल जो जीवन में गया, वह सीढ़ियां मौत की ही बन रही हैं।

इसलिए जो आदमी जीवन के लिए जितना आतुर है और जितना जीवेषणा से भरा है, सोचता है जीऊं, खूब जीऊं, वह आदमी उतना ही मौत से कंप रहा है। क्योंकि वह देखता है, मौत आ रही है--जीवन का सत्य मृत्यु है। जीवन मृत्यु के अतिरिक्त और कहीं ले भी तो नहीं जाता। कैसे ही जीओ--अच्छे जीओ, बुरे जीओ; साधु की तरह, असाधु की तरह; सज्जन की तरह, दुर्जन की तरह; गरीब की तरह, अमीर की तरह; कैसे ही जीओ, लेकिन सब जीवन मृत्यु में ले जाता है। किसी दिशा से आओ--दौड़ते आओ कि धीमे आओ; पैदल आओ कि घोड़ों पर सवार आओ; कांटे भरे रास्तों से आओ कि फूल भरे रास्तों से आओ--कुछ भेद नहीं पड़ता, आ सभी मृत्यु में जाते हो। अंतिम मंजिल एक है। सब जीवन, सब जीवन-सरिताएं मृत्यु के सागर में गिर जाती हैं।
तो जितना जीवन की आकांक्षा होगी, स्वभावतः मृत्यु का भय उतना ही होगा। जो लोग तुम देखते हो मौत से डरे हैं, वे वे ही लोग हैं जो जीवन बचाए रखने को बहुत आतुर हैं। मृत्यु से भयभीत होता हुआ आदमी सिर्फ एक ही खबर देता है कि वह जीवन को पकड़ रखना चाहता है। जीवन को पकड़ रखना चाहता है, मौत हाथ में आती है। जितना जोर से जीवन को पकड़ता है उतनी ही मौत हाथ में आती है और उतना ही वह घबड़ा जाता है। जीवन का सत्य मृत्यु है।
फिर मैं तुमसे दूसरी बात कहता हूं--मृत्यु का सत्य जीवन है। जो मरने
को राजी है, जो मरने का स्वागत करने को तैयार है, जो मरने को कहता है-- अभिनंदन, जो मरने को जरा भी घबड़ाया नहीं है, जरा भी भयभीत नहीं है, जरा भी जिसके मन में मृत्यु से कोई दुर्भाव नहीं, जो मृत्यु में ऐसे जाने को तैयार है जैसे कोई मां की गोद में सो जाने को तैयार हो, ऐसे व्यक्ति को महाजीवन का दर्शन हो जाता है। मृत्यु के द्वारा जीवन का अनुभव हो जाता है। मृत्यु का सत्य जीवन है।
इसलिए बुद्धों को जीवन का अनुभव होता है। योगियों को जीवन का अनुभव होता है। भोगियों को सिर्फ मृत्यु का अनुभव होता है।
यह बात ऊपर से देखे उलटी लगती है। क्योंकि भोगी जीवन चाहता था और हाथ लगती है मौत। और योगी जीवन को छोड़ बैठा, उसने जीवन पर सारी वासना छोड़ दी, उसने जीवन का राग छोड़ दिया, उसे जीवन में कुछ रस न रहा, उसे जीवन हाथ लगता है। ऐसा उलटा गणित है। तुम चलोगे जीवन की तरफ, पहुंचोगे मृत्यु में। तुम चल पड़ो मृत्यु में और तुम पहुंच जाओगे महाजीवन में।
इसलिए जीसस का प्रसिद्ध वचन है--जो अपने को बचाएंगे वे नष्ट हो जाएंगे, और जो अपने को नष्ट करने को राजी है, वह बच गया।
इसे ऐसा कहो--जो बचना चाहेंगे, डूब जाएंगे; और जो डूब गया, वह बच गया। इसलिए योगी मौत का स्वागत करता है, सत्कार करता है। योगी प्रतिपल मौत की प्रतीक्षा करता है। योगी मरने को राजी है। योगी मृत्यु का स्वाद पाना चाहता है। योगी कहता है, देखना चाहता हूं मृत्यु क्या है, पहचानना चाहता हूं मृत्यु क्या है। मृत्यु में उतरना चाहता हूं, मृत्यु की अंधेरी गुफाओं में यात्रा करना चाहता हूं। मृत्यु का अभियान करने को उत्सुक है। ऐसा जो मृत्यु की खोज में जाता है, वह अचानक पाता है कि मृत्यु की अंधेरी गुफा में जैसे-जैसे तुम प्रवेश करते हो, वैसे-वैसे जीवन के अत्यंत आलोकमयी जगत में प्रविष्ट हो जाते हो। इस विपरीत सत्य को, इस पोलेरिटी को, इस ध्रुवीयता को जिसने समझ लिया, उसके हाथ में जीवन की बड़ी कुंजी आ गयी। यह विपरीत सत्य बहुत रूपों में प्रगट होता है। धन पकड़ना चाहो और तुम निर्धन रह जाओगे। धन छोड़ो और तुम धनी हो गए। यह भी इसी सत्य का एक रूप है। तुम यशस्वी होना चाहो और अपमान हाथ लगेगा, और तुम सब यश की आकांक्षा छोड़कर निर्जन में बैठ रहो और तुम पाओगे कि यश तुम्हारा रास्ता खोजता हुआ दूर जंगल में भी आने लगा। यह भी उसी सत्य की अभिव्यक्ति है। तुम चाहो जैसा वैसा नहीं होता, उससे उलटा हो जाता है।
इसलिए चाह को समझो, अन्यथा दुखी होते रहोगे। जो चाहोगे, वह तो मिलेगा नहीं, उससे उलटा मिलेगा। स्वभावतः दुख होगा। अगर तुम जीवन चाहते हो, तो मृत्यु के लिए राजी हो जाओ। अगर वास्तविक धन चाहते हो, जो कोई तुमसे न छीन सकेगा, तो निर्धन होने में प्रसन्न हो जाओ। अगर तुम सच में प्रतिष्ठा चाहते हो, तो सम्मान की कोई आकांक्षा न करो। अगर तुम विजय चाहते हो, जिन

होना चाहते हो, जीतना चाहते हो स्वयं को, तो जीत का सारा भाव ही छोड़ दो। सर्वहारा हो जाओ।
इन विपरीत सत्यों के कारण पूर्वीय वक्तव्य पश्चिम की आंखों में बड़े उलटे मालूम होते हैं। बड़े अतर्क्य, विक्षिप्त जैसे मालूम होते हैं। यह भी कोई बात हुई--धन पाना हो, धन छोड़ दो! जीवन पाना हो, जीवन छोड़ दो! यह कौन सा तर्क है? पश्चिम के मनीषी इसे समझ नहीं पाते। वे कहते हैं, रहस्यवादी बातें हैं, पागलों जैसी बातें हैं।
जरा भी पागलों जैसी बातें नहीं हैं, जीवन के परम सत्य पर आधारित बातें हैं। इनसे ज्यादा तर्कयुक्त और क्या होगा? यह सीधा तर्क है। इसे तुम जीवन में परखो और तुम इसे रोज-रोज पाओगे। जितना सम्मान चाहोगे उतने अपमानित होने लगोगे। क्योंकि जितना सम्मान चाहोगे, उतना अहंकार प्रबल होगा, और अहंकार को जरा-जरा सी चोट फिर लगने लगती है, जरा-जरा सी चोट लगने लगती है। उतना ही दुख होने लगता है। तुमने सम्मान की फिक्र छोड़ी, अहंकार का मामला गया, अहंकार का घाव समाप्त हुआ, अब तुम्हें कौन चोट पहुंचा सकता है? लाओत्सू कहता है, मुझे कोई हरा नहीं सकता, क्योंकि मैं जीतना ही नहीं चाहता हूं। लाओत्सू कहता है, मैं जीता ही हुआ हूं, क्योंकि मैंने अपनी हार को स्वीकार कर लिया है। अब मुझे कौन हराएगा?
हमने इस देश में देखा, बुद्ध को देखा, महावीर को देखा। सब छोड़कर महावीर नग्न हो गए, लेकिन उन जैसा समृद्ध व्यक्ति पहले कभी देखा नहीं गया था। उस नग्नता में परम समृद्धि थी।
स्वामी राम अमरीका गए, वह अपने को बादशाह कहते थे। उनके पास कुछ भी न था, दो लंगोटियां थीं। किसी ने पूछा कि दो लंगोटियां हैं आपके पास, किस प्रकार के आप बादशाह हैं? कौन सी दौलत है आपके पास? कौन सा राज्य? स्वामी राम ने कहा, थोड़ी कमी है मेरे राज्य में, ये दो लंगोटियां; ये और छूट जाएं तो मेरा राज्य पूरा हो जाए। इनकी वजह से मेरी सार्वभौमिकता में थोड़ी कमी है। ये दो लंगोटियां मेरी सीमा बनी हैं। मैं बादशाह हूं इसलिए नहीं कि मेरे पास कुछ है, मैं बादशाह इसलिए हूं कि मुझे किसी भी चीज की जरूरत नहीं है।
फर्क समझना, बादशाह के अर्थ ही बदल गए। मुझे किसी चीज की जरूरत नहीं
है तो बादशाहत। उसी को किसी चीज की जरूरत नहीं होती, जिसके पास सब है। जिसको जरूरत है, वह तो दरिद्र है। और तुम तब चकित हो जाओगे कि अक्सर ऐसा होता है कि भिखारियों से भी ज्यादा दरिद्र तुम्हारे समृद्ध होते हैं, क्योंकि भिखारी की जरूरतें तो थोड़ी हैं, समृद्ध की जरूरतें बहुत ज्यादा हैं। भिखारी की जरूरतें तो जरा में पूरी हो जाएं, समृद्ध की जरूरतें तो कभी पूरी न होंगी।
सूफी फकीर फरीद अकबर के पास गया था। फरीद को उसके गांव के लोगों ने कहा था कि अकबर से जरा प्रार्थना करो कि एक मदरसा गांव में खोल दे। तुम्हें इतना मानता है, टालेगा नहीं। तो फरीद गया। सुबह-सुबह जल्दी गया। अकबर नमाज पढ़ता था। फरीद आया तो उसे रुकावट नहीं डाली गयी, उसे अकबर का जो पूजागृह था उसमें ले जाया गया। अकबर हाथ उठाए आकाश की तरफ कह रहा था--हे परमात्मा, हे परवरदिगार, हे करुणावान, हे रहमान, हे रहीम, मुझ पर कृपा कर, मेरे राज्य को बड़ा कर! फरीद ने तो सुना और लौट पड़ा।
बादशाह ने नमाज पूरी की, लौटकर देखा तो फरीद को जाते देखा--पीठ दिखायी पड़ी--दौड़ा, रोका फरीद को कि कैसे आए, कैसे चले! फरीद ने कहा कि बड़ी आशा से आया था। गांव के लोगों ने मुझसे कहा कि तुमसे कहूं कि एक मदरसा खुलवा दो। फिर इधर तुम्हें मैंने भीख मांगते देखा, मैंने सोचा कि कहां बिचारे गरीब अकबर से कहें, इसकी हालत वैसे ही खस्ता है, खराब है! यह वैसे खुद ही मांग रहा है, अब इससे एक और मदरसा खुलवाना, इसकी और गरीबी बढ़ जाएगी! आए थे सम्राट के पास, देखकर कि तुम दरिद्र हो, लौटे जाते हैं। अकबर ने कहा कि नहीं-नहीं, मदरसा खुलवाने से कुछ अड़चन न होगी। एक नहीं दस खुलवा दूं, बिल्कुल फिकर न करो। फरीद ने कहा, अब तो बात ही खतम हो गयी; तुम जिससे मांगते थे, उसी से मांग लेंगे। अब बीच में और एक बिचवैया! तुम भगवान से मांगो, हम तुमसे

मांगें, इसमें क्या सार है! जब तुम मांग ही रहे हो, तो तुमसे मांगना ठीक नहीं। अशोभन होगा, अशिष्ट होगा; नहीं, मैं न मांग सकूंगा।
यह ठीक किया फरीद ने। इसमें बड़ी अंतर्दृष्टि है। सम्राट भी मांग रहे हैं। भिखमंगे की तो शायद पूर्ति भी हो जाए--दो रोटी मांगता है, कि एक वस्त्र मांगता है, मिल जाएगा। और न भी मिला, तो थोड़ी सी उसकी मांग थी, थोड़ी सी तकलीफ भी होगी; मांग के ही अनुपात में तकलीफ होती है। लेकिन सम्राट का क्या होगा! उसकी मांग तो ऐसी है जो कभी पूरी हो नहीं सकती। न पूरी हुई तो दुख होगा--और महादुख होगा, क्योंकि मांग बड़ी है--और अगर पूरी हुई तो भी सुख होने वाला नहीं, क्योंकि पूरी हो ही नहीं सकती, इधर राज्य बढ़ा कि उधर मांग बढ़ जाएगी।
आदमी के पेट की सीमा है, दो रोटी से भर जाएगी, कि चार रोटी से भर जाएगी, लेकिन आदमी के मन की तो कोई सीमा नहीं है। कितना ही धन हो तो भी मन भरता नहीं। मन भरता ही नहीं। जो नहीं भरता, उसी का नाम मन है।
फिर कौन दरिद्र है?
जीवन में यह विरोधाभास जगह-जगह प्रगट होता है कि हमने कभी-कभी नग्न लोग देखे जो समृद्ध थे, और हमने बड़े सम्राट देखे जो दरिद्र थे। जिनके पास सब था और कुछ भी न था, ऐसे लोग देखे। और जिनके पास कुछ भी न था और सब था, ऐसे लोग देखे। यह उसी मूल ध्रुवीयता का एक हिस्सा है।
तो तुम पूछते हो--जीवन का सत्य मैंने कहा मृत्यु, फिर मृत्यु का सत्य क्या है?
मृत्यु का सत्य जीवन।

दूसरा प्रश्न भी संबंधित हैः क्या सारी पूर्वी मनीषा मृत्युबोध, डेथ कांशसनेस पर ही केंद्रित है? निरंतर मृत्युबोध से जीवन को उत्सवमय कैसे बनाया जा सकेगा?

वही मूल भेद तुम्हारी समझ में नहीं आ रहा है। तुम सोचते हो, मृत्यु की याद करेंगे तो जीवन का उत्सव तो फीका हो जाएगा। तुम सोचते हो, मृत्यु की याद करेंगे तो फिर कैसे हंसेंगे? मृत्यु द्वार पर खड़ी होगी तो फिर हम कैसे नाचेंगे? कैसे गीत गाएंगे? फिर तो वीणा टूट जाएगी। फिर तो पैर रुक जाएंगे, फिर तो घूंघर बजेंगे नहीं। तुम सोचते हो, मौत की प्रतीति होगी तो फिर उत्सव कैसे होगा?
और मैं दोनों बातें कहता हूं कि मौत की प्रतीति गहरी करो और उत्सव में कमी मत आने देना, तो तुम्हें अड़चन होती है।
तुम कहते हो, अगर उत्सव चलाए रखना है तो मौत है ही नहीं, ऐसा मानना जरूरी है। मौत होती ही नहीं, ऐसा मानना जरूरी है। अगर होती भी होगी तो दूसरों की होती है, कम से कम मेरी नहीं होती, ऐसा मानना जरूरी है। और अगर मेरी भी होगी, तो होगी कभी, अभी थोड़े ही हो रही है, ऐसा मानना जरूरी है। मौत को पहले तो टालो कि मेरी होती ही नहीं। और एक अर्थ में बात सही भी है, तुमने अपने को मरते तो कभी देखा नहीं, सदा दूसरों को मरते देखते हो--कभी कोई मरा, कभी कोई मरा, तुम तो कभी मरे नहीं। कभी इसको ले गए मरघट, कभी उसको ले गए मरघट, तुम स्वयं को तो कभी मरघट ले गए नहीं। तुम तो सदा लौट-लौट आते हो, दूसरों को विदा कर आते हो। तो स्वाभाविक तर्क होगा कि दूसरे मरते हैं, मैं तो मरता नहीं। यह भी टालने का एक ढंग है।
मगर ज्यादा देर न टाल सकोगे। मन भीतर कहता है कि दूसरे भी तो ऐसा ही सोचते थे जैसा मैं सोचता हूं, जैसे मैं उनको पहुंचा आया, ऐसे दूसरे मुझे पहुंचा आएंगे। लोग तैयार ही बैठे हैं। इधर तुम मरे नहीं कि वे अर्थी बनाने लगते हैं। जैसे तुम बनाए हो दूसरों की अर्थी, दूसरे भी तो तुम्हारी बनाएंगे! तो यह बात ज्यादा देर टाली नहीं जा सकती।
तो फिर एक ख्याल कि कोई आज थोड़े ही मौत हो रही है! अभी क्यों दिल गमगीन करो! अभी क्यों उदास! जब होगी तब देखेंगे। आज तो कभी नहीं होती मौत, कल होगी, परसों होगी, वर्षों बाद होगी, सत्तर वर्ष बाद होगी, होगी तब होगी! टालते हैं हम। टालकर हम सोचते हैं कि अब हम जरा नाच लें, थोड़ा गीत गुनगुना

लें, थोड़ा प्रेम कर लें, थोड़ी मैत्री बना लें; थोड़ा राग-रंग हो, रस बहे। मौत को दरवाजों के बाहर करके, सब तरफ से दरवाजे बंद करके हम नाचते हैं।
तो तुम्हारा प्रश्न ठीक है कि अगर मृत्यु का बोध होगा--सब दरवाजे खोल दें, और अनुभव में आने दें कि मैं भी मरूंगा जैसे और मरते हैं, सच में दूसरों की मौत मेरी ही मौत की खबर लाती है, हर अर्थी गुजरती है और हर अर्थी मेरी ही अर्थी के बंधने का इंतजाम करती है, जब भी कोई मरता है तो मनुष्य मरता है, मैं भी मनुष्य हूं, हर मृत्यु में मेरी मृत्यु का इशारा छिपा है, सब दरवाजे खोल दें; और कभी भी मरूं, मरना तो होगा, और वह कभी भी कभी भी घट सकता है, आज भी घट सकता है, एक क्षण बाद घट सकता है, अभी हूं और दूसरी सांस न आए; सब दरवाजे खोल दें मौत के तो तुम कहते हो, फिर तो हम, एकदम पक्षाघात लग जाएगा, पैर ठिठुर जाएंगे, हाथ अकड़ जाएंगे, फिर क्या नाचेंगे? फिर कैसे उत्सव होगा?
और मैं कहता हूं, दोनों बातें साथ होंगी। साथ ही हो सकती हैं। मेरे हिसाब में तो अगर तुमने मौत को द्वार-दरवाजों के बाहर बंद कर दिया है, तो मौत दस्तक मारती रहेगी। तुम नाचो, मगर मौत की दस्तक सुनायी पड़ती रहेगी। मौत चीखती-पुकारती रहेगी, क्योंकि तुम एक झूठ कर रहे हो। तुम्हारा नाच झूठ है, तुम्हें भी पता है। जिन पैरों से तुम नाच रहे हो, उन पैरों में मौत समा रही है; जिस कंठ से तुम गा रहे हो, वह कंठ मरने की तैयारी कर रहा है; जिस हृदय से तुम श्वास ले रहे हो, उसकी श्वास हर क्षण कम होती जा रही है। तुम मौत को झुठलाकर उत्सव का ढोंग कर सकते हो, उत्सव वास्तविक नहीं हो सकता। वास्तविक तो वे ही नाचे हैं, जिन्होंने जीवन में कोई झूठ खड़ा नहीं किया। सत्य के साथ ही, सत्य के संग ही असली नृत्य है। सत्संग में ही असली नृत्य है। झूठ के साथ कैसा नृत्य! समझा लिया मन को, बुझा लिया, किसी तरह नाचने लगे, तो किसी तरह का नाचना होगा, जबर्दस्ती होगी, सहज उमंग न होगी, सहज प्रवाह न होगा। और तुमने ही तो झुठलाया है, तो तुम अपने ही झूठ को भूलोगे कैसे, वह तो याद रहेगा ही! मरना तो है ही, मरना तो होगा ही।
और जिस चीज को हम दबाते हैं, वह और उभर-उभरकर सामने आती है। जिसे हम छिपाते हैं, वह हमारे रास्ते में पड़ने लगती है। इस जगत में कोई भी झूठ स्थिर नहीं बनाया जा सकता है। कोई भी झूठ सत्य का धोखा नहीं दे सकता। थोड़ी- बहुत देर तुम अपने को धोखा दे लो, कितनी देर धोखा दोगे! अपने को ही कैसे धोखा दोगे! तुम जानते हो कि धोखा दे रहे हो।
हर बार मरते आदमी को देखकर तुम्हें समझ में आता है कि अपनी भी घड़ी आती
है, क्यू छोटा होता जाता है, उसी में तो हम खड़े हैं, एक आदमी और मर गया, आगे से सरक गया, क्यू थोड़ा और आगे बढ़ गया, हमारी मौत और थोड़ी करीब आ गयी। कैसे झुठलाओगे? दांत गिरने लगे, बाल सफेद होने लगे, अब पहले जैसे दौड़ नहीं सकते, अब सीढ़ियां चढ़ते हो तो हांफ चढ़ने लगी, कैसे झुठलाओगे? मौत हर जगह से खबर दे रही है, दस्तक मार रही है। अब पुराने दिन जैसी बात न रही, जरा कुछ खा लेते हो तो अड़चन हो जाती है, जरा ज्यादा खा लेते हो तो अड़चन हो जाती है, जरा ज्यादा हंस लेते हो तो थक जाते हो; रोने की तो बात छोड़ो, हंसी में भी थकान आने लगी। मौत करीब आ रही है, मौत सब तरफ से खबर भेज रही है--सावधान! कैसे नाचोगे? कितनी देर नाचोगे? नाच में से ही मौत उभरने लगेगी। नाच में ही मौत खड़ी हो जाएगी।
नहीं, झूठ के साथ, असत्य के साथ कोई नृत्य नहीं है। मैं तुमसे कहता हूं, मृत्यु का तो बोध चाहिए। क्योंकि जैसा मैंने अभी-अभी कहा, मृत्यु का सत्य जीवन है; अगर तुम्हें मृत्यु का ठीक-ठीक बोध हो जाए, तुम मृत्यु को पहचान लो, मृत्यु का साक्षात्कार हो जाए--जो कि हो सकता है; ध्यान के सारे प्रयोग मृत्यु के प्रयोग हैं। इसलिए तो मैं कहता हूं कि मैं तुम्हें मृत्यु सिखाता हूं। एक बार तुम मृत्यु को ठीक से सीख लो, मृत्यु की भाषा समझने लगो, तुम अपने को मरता हुआ एक बार देख लो... ।
रमण महर्षि के जीवन में ऐसी घटना घटी। वही घटना क्रांति की घटना हो गयी। उससे ही उनके भीतर महर्षि का जन्म हुआ। अठारह, सत्रह-अठारह साल के थे, घर छोड़कर भाग गए थे सत्य की खोज में, कई दिन के भूखे थे, प्यासे थे, एक मंदिर में जाकर ठहरे थे। पैरों में फफोले पड़ गए थे चलते-चलते। कई दिन की भूख, कई

दिन की प्यास, थकान, उस मंदिर में पड़े-पड़े रात ऐसा लगा कि मौत आ रही है। लेट गए--आ रही तो आ रही! सत्य का खोजी क्या करे? जो आ रहा, उसे देखे। जो आ रहा, उसे पहचाने। जो आ रहा, उसमें आंखें गड़ाए, उसका दर्शन करे। लेट गए। न भागे, न चिल्लाए; न चीखा, न पुकारा। मरने लगे। जब मौत आ रही है तो आ रही है! जो परमात्मा भेज रहा है, वही उसका प्रसाद है, वह उसकी भेंट है। जैसे जीवन उसने दिया, वैसे ही मौत दे रहा है, अंगीकार कर लिया... ।
इसको बुद्ध ने तथाताभाव कहा है। जो हो, उसे वैसा ही स्वीकार कर लेना। उसमें ना-नुच न करना। ऐसा हो, वैसा हो, ऐसी अपनी आकांक्षा न डालना। जैसा हो, वैसा का वैसा।
कबीर ने कहा है--जस का तस, जैसा का तैसा, वैसा ही स्वीकार कर लेना। क्योंकि जब तक तुम अस्वीकार करते हो, तब तक तुम जीवन से लड़ रहे हो, तब तक तुम परमात्मा से संघर्ष कर रहे हो। तब तक किसी न किसी भांति तुम अपनी आकांक्षा आरोपित करना चाहते हो। तब तक तुम सत्य के खोजी नहीं हो। तब तक तुम्हारा अहंकार प्रगाढ़ है। जो है, जैसा है, उसे वैसा ही स्वीकार कर लेने में अहंकार समाप्त हो जाता है। अहंकार के खड़े होने की जगह नहीं रह जाती। संघर्ष गया, अहंकार गया।
रमण लेट गए। राजी हो गए, मौत आती है तो मौत आती है! अपने बस क्या है! जिहि विधि राखे राम तिहि विधि रहिए। अब मौत आ गयी तो मौत आ गयी। अब इसी विधि राम ले जाना चाहते हैं तो ठीक, यह उनकी मर्जी। वे चलने को तैयार हो गए। इसको लाओत्सू ने कहा है--नदी की धार में बहना, नदी की धार के खिलाफ लड़ना नहीं।
अहंकार धारे के खिलाफ लड़ता है। अहंकार कहता है, ऊपर की तरफ जाऊंगा। गंगोत्री की तरफ यात्रा करता है अहंकार। गंगा जा रही है गंगासागर, अहंकार जाता है गंगोत्री की तरफ, इसलिए संघर्ष हो जाता है, इसलिए गंगा से टक्कर हो जाती है। यह जो विराट गंगा है अस्तित्व की, इसके साथ, धारे के साथ बहने का नाम ही समर्पण है।
बहने लगे धारे के साथ, देखने लगे क्या हो रहा है, पैर सुस्त हो गए, शून्य हो गए, मर गए; हाथ सुस्त हो गए, शून्य हो गए, मर गए। और रमण जागे हुए भीतर देख रहे हैं--और तो कुछ करने को नहीं है--एक दीया जल रहा है ध्यान का, देख रहे हैं कि यह हो रहा है, यह हो रहा है, यह हो रहा है, सारा शरीर शववत हो गया। देख रहे हैं। एक क्षण को तो ऐसा लगा कि श्वास भी गयी। देख रहे हैं। और उसी क्षण क्रांति घटी। शरीर मृत हो गया, मन के विचार धीरे-धीरे शांत हो गए। क्योंकि सब विचार संघर्ष के विचार हैं, जब तक तुम ऊपर की तरफ तैरना चाह रहे हो तब तक विचार हैं; जितना ऊपर की तरफ तैरना चाहोगे उतने ही विचार चिंतापूर्ण हो जाते हैं। जब बहने ही लगे धार के साथ, कैसा विचार! कैसी चिंता! चिंता भी छूट गयी। शरीर मृत की तरह पड़ा रह गया, श्वास रुक गयी, ठहर गयी, शांत हो गयी। एक क्षण जैसे मृत्यु घट गयी। और उसी क्षण जीवन भी घट गया, क्योंकि मृत्यु का सत्य जीवन है। जैसे सब जीवन मृत्यु में ले जाता है, वैसे सब मृत्यु और बड़े जीवन में ले जाती है, बस तुम जागे होओ, तो काम हो जाए।
रमण जागे थे, देखते रहे, चकित हो गए--शरीर तो मर गया, मैं नहीं मरा; मन
तो मर गया, मैं नहीं मरा; सब तो मर गया, मैं तो हूं, चैतन्य तो है, चैतन्य तो और भी प्रगाढ़ रूप से है जैसा कभी न था। ऊपर-ऊपर का जाला कट गया, ऊपर-ऊपर की व्यर्थ की धूल हट गयी, भीतर की मणि और भी चमकने लगी, और भी ज्योतिर्मय हो गयी। मिट्टी मरती है, मृण्मय मरता है, चिन्मय की कैसी मौत! देह जाती और आती, तुम न आते, न जाते। एस धम्मो सनंतनो। तुम तो शाश्वत हो। तुम परमात्म-स्वरूप हो।
उस घड़ी रमण को दिखायी पड़ा कि उपनिषद ठीक कहते हैं--अहं ब्रह्मास्मि।
तब तक सुनी थी बात, पढ़ी भी थी, पर अनुभव में न आयी थी, उस दिन अनुभव में आ गयी, उस दिन साक्षात्कार हुआ। उठकर बैठ गए। उसी दिन क्रांति घट गयी। फिर और कुछ नहीं किया। बात हो गयी, मुलाकात हो गयी, मिलन हो गया, अमृत का अनुभव हो गया।

फिर जब वर्षों बाद, कई वर्षों बाद दुबारा मौत आयी--रमण को कैंसर हुआ और मित्र बहुत चिंतित होने लगे, भक्त बहुत चिंतित होने लगे--तो रमण बार-बार आंख खोलते और वह कहते, तुम नाहक परेशान हो रहे हो, जिसके लिए तुम परेशान हो रहे हो, वह तो कई साल पहले मर चुका। और जिसके लिए तुम सोचते हो, आदर करते हो, श्रद्धा करते हो, उसकी कोई मृत्यु नहीं, तुम नाहक परेशान हो रहे हो। जो मर सकता था, मर चुका बहुत दिन पहले, उसके मरने पर ही तो मेरा जन्म हुआ; और अब जो मैं हूं, इसकी कोई मृत्यु नहीं।
रामकृष्ण मरते थे। शारदा उनकी पत्नी रोने लगी तो रामकृष्ण ने आंखें खोलीं और कहा कि चुप, किसलिए रोती है? मैं न कहीं गया, न कहीं आया; मैं जहां हूं वहीं रहूंगा। तो शारदा ने पूछा, तुम्हारी देह के चले जाने के बाद मेरी चूड़ियों का क्या करना? ठीक बात पूछी। विधवा हो जाएगी तो चूड़ियां तो फोड़नी पड़ेंगी। रामकृष्ण ने कहा कि मैं मरूंगा ही नहीं तो चूड़ियां फोड़ेगी कैसे! तू सधवा है और सधवा रहेगी।
सिर्फ भारत में एक ही विधवा हुई जिसने चूड़ियां नहीं फोड़ीं--शारदा ने। फोड़ने का कोई कारण ही न रहा। रामकृष्ण सबके लिए मर गए, शारदा के लिए नहीं मरे। शारदा का भाव ऐसा था रामकृष्ण के प्रति, कि रामकृष्ण की प्रतीति उस भाव में उसकी भी प्रतीति हो गयी। उसे भी दिख गया कि बात तो सच है, देह जाती है--देह से तो लेना-देना भी क्या था--देह के भीतर जो ज्योतिर्मय विराजमान था वह तो रहेगा, वह कैसे जाएगा!
मृत्यु का सत्य जीवन है। ध्यान में किसी दिन मृत्यु घट जाती है। जिस दिन ध्यान में मृत्यु घट जाती है, उस दिन ध्यान का नाम समाधि। इसीलिए समाधि शब्द हम दोनों के लिए उपयोग करते हैं--जब कोई मर जाता है तो कहते हैं समाधि ले ली, संत की कब्र को हम समाधि कहते हैं; और ध्यान की परम अवस्था को भी समाधि कहते हैं। क्यों? क्योंकि दोनों में मृत्यु घटती है। ध्यान की परम अवस्था में तुम्हें दिखायी पड़ जाता है, मरणधर्मा क्या है और अ-मरणधर्मा क्या है। मृत और अमृत अलग-अलग हो जाते हैं। दूध और पानी अलग-अलग हो जाते हैं।
इस दूध और पानी को अलग-अलग कर लेने वालों को हमने परमहंस कहा है। क्योंकि परमहंस का अर्थ होता है, वह जो दूध और पानी अलग-अलग कर ले। हंस के साथ कवियों ने यह भाव जोड़ दिया है कि हंस की यह क्षमता होती है कि दूध-पानी मिलाकर रख दो, तो वह दूध पी लेगा और पानी छोड़ देगा। ऐसे ही मिले हैं देह और चैतन्य; मिट्टी और आकाश का ऐसा ही मिलन हुआ है। तुम बने हो मिट्टी और आकाश के मेल से। जिस दिन तुम्हारे भीतर परमहंस-भाव पैदा होगा, ध्यान की उत्कृष्टता होगी, ध्यान की प्रखर धार काट देगी दोनों को अलग-अलग--मिट्टी इस तरफ पड़ी रह जाएगी, अमृत उस तरफ हो जाएगा--उस दिन तुम जानोगे कि मृत्यु का सत्य जीवन है।
मृत्यु को जानकर ही असली उत्सव शुरू होगा फिर। फिर तुम नाचो। फिर नाचने के अतिरिक्त बचा ही क्या? फिर और करोगे क्या? मरना तो है नहीं। और जब मृत्यु ही न रही, तो फिर कैसा दुख! कैसा विषाद! कैसी चिंता! फिर नृत्य में एक अभिनव गुण आ जाता है। फिर नृत्य तुम्हारा नहीं होता, परमात्मा का हो जाता है। फिर तुम नहीं नाचते, परमात्मा तुम्हारे भीतर नाचता है।
इसलिए मैं कहता हूं--मृत्युबोध में और उत्सव में विरोध नहीं है, मृत्युबोध के बाद ही महोत्सव शुरू होता है।

तीसरा प्रश्नः आप कहते हैं कि संन्यासी को भागना नहीं, जागना है। पर संसार में रहते यह जागना हो कैसे सकता है!

और कहां जागोगे? संसार ही है, यहीं सोए हो, यहीं जागना होगा। इस बात को समझ लो--जहां सोओगे, वहीं जागोगे न! सोए तो पूना में और जागो दिल्ली में, ऐसा थोड़े ही होने वाला है। सोए पूना में तो पूना में ही जागोगे। जहां सोए, वहीं जागोगे। इसे तुम जीवन के गणित की एक बहुत बहुमूल्य कड़ी मानो, यह एक परम मूल्यवान सिद्धांत है--जहां सोए हो, वहीं जागोगे।

हां, सोए-सोए सपने तुम कहीं के भी देखते रहो, मगर जागना तो वहीं होगा जहां सोए हो। पूना में सोए, रात तुम सोचो संसार भर की, सपने देखो कलकत्ते में होने के, कि मद्रास में, कि दिल्ली में, जहां तुम्हारा मन हो, कि चांद-तारों पर, कोई रुकावट नहीं है; न कोई टिकट लगती, न कोई समय लगता, न कहीं आने- जाने में कोई बाधा खड़ी होती, तुम जो चाहो सोचो, सपने में तुम कहीं भी हो सकते हो, लेकिन जब सुबह जागोगे तब पूना में होओगे। जहां सोए थे, वहीं जागना होगा। संसार में सोए हो, तो संसार में ही जागना होगा।
इसलिए मैं कहता हूं, भागो मत। फिर भागकर जाओगे कहां, यह सब तरफ संसार है। इस छोटी सी बात को समझो। तुम अपने घर से छोड़कर भाग गए, तो क्या होगा? किसी आश्रम में बैठ जाओगे। तो आश्रम संसार का उतना ही हिस्सा है जितना तुम्हारा घर हिस्सा था। दुकान छोड़ दी, बाजार छोड़ दिया, मंदिर में बैठ जाओगे। मंदिर वे ही लोग बनाते हैं जो दुकानें चला रहे हैं। मंदिर बाजार से बनता है। बाजार तो बिना मंदिर के हो सकता है, मंदिर बिना बाजार के नहीं हो सकता।
इसे ख्याल में ले लेना। मंदिर बाजार पर निर्भर है, बाजार मंदिर पर निर्भर नहीं है। मंदिर रहे न रहे, बाजार हो सकता है। आखिर रूस में बाजार हैं, मंदिर चला गया। चीन में बाजार हैं, मंदिर चला गया। लेकिन तुमने कहीं ऐसा देखा कि मंदिर हो और बाजार न हो?
मंदिर बचे और बाजार न हो तो मंदिर खंडहर हो जाता है। मंदिर के प्राण
तो बाजार में हैं। मंदिर में जो दीया जलता है, उसकी रोशनी बाजार से आती है। मंदिर में जो पुजारी प्रार्थना करता है, उसके प्राण भी बाजार से आते हैं। मंदिर सब तरफ से बाजार से जुड़ा है। भागोगे कहां? जाओगे कहां? इस पृथ्वी पर कहीं भी जाओ, संसार है। चांद-तारों पर भी चले जाओ, तो भी संसार है। संसार ही है। जो है, उसका नाम संसार है। इसलिए भागना तो हो भी नहीं सकता।
फिर, कठिनाइयां भीतर हैं, बाहर तो नहीं हैं। बाहर होतीं तो बड़ा आसान था--भाग गए। अभी कृष्ण मुहम्मद यहां बैठे हैं। वह नौकरी छोड़-छोड़कर भागते थे। मैंने कहा, कहां जाते हो? वह कहते थे, पंचगनी जा रहा हूं। पंचगनी में क्या करोगे? पंचगनी भी संसार है। कृष्ण मुहम्मद को बात समझ में आ गयी कि पंचगनी भी जाकर क्या होगा! पूना में क्या खराबी है! यह बात समझने योग्य है। फिर अड़चनें भीतर हैं, बाहर तो नहीं हैं। तब तो बात आसान हो जाती है, कठिनाई बाहर होती तो बड़ी आसान हो जाती। अड़चन पत्नी में होती तो बड़ी आसान हो जाती है बात, पत्नी छोड़कर भाग गए, झंझट खतम हो गयी। अड़चन तो भीतर है। भीतर स्त्री में रस है। तो तुम यहां से भाग जाओगे, पत्नी छोड़ दोगे, कोई और स्त्री में रस पैदा हो जाएगा।
और सच तो यह है, पत्नी में तो अपने आप धीरे-धीरे रस कम हो जाता है। इसलिए पत्नी के पास स्त्री से मुक्त हो जाना जितना आसान है, उतना नयी स्त्री के पास होकर मुक्त होना उतना आसान नहीं होगा। क्योंकि नयी स्त्री में तो फिर से रस जगता है, फिर जवान हुए, फिर वासनाएं उमगीं, फिर पुराने सपने ताजे हुए। पत्नी के साथ तो धीरे-धीरे सब सपने खो गए, धीरे-धीरे सब सपने मर गए, धीरे-धीरे सब आशाएं समाप्त हो गयीं। पत्नी के पास जितनी आसानी से वैराग्य पैदा होता है, और कहीं नहीं होता।
इसे तुम पकड़कर रख लो, गांठ बांध लो। पत्नी न हो तो संसार में विरागी न हों। वैराग्य साधु-संतों से पैदा नहीं होता, पत्नी करवा देती है। पत्नी की तुम कृपा मानो, उसके चरण छुओ, वही तुम्हें परमात्म-मार्ग पर लगाती है। उसी के कारण तुम मंदिर की तरफ जाने लगते हो, साधु-संतों का सत्संग करने लगते हो। पत्नी तुम्हें ऐसा घबड़ा देती है! इसको छोड़कर कहां जा रहे हो? इसको छोड़कर तुम गए कि तुम फिर वही मूढ़ता में पड़ जाओगे।
बच्चे छोड़ दोगे, राग कहां जाएगा? राग कहीं और बन जाएगा। राग किसी और से
बन जाएगा। राग जाना चाहिए। राग के विषय जाने से कुछ भी नहीं होता, राग की वासना जानी चाहिए। और वासना भीतर है। तुम जहां जाओगे, वासना साथ चली जाएगी। वासना तुम हो। वासना तुम्हारे अहंकार का हिस्सा है, तुम्हारे मन का हिस्सा है। वासना के कारण संसार है, संसार के कारण वासना नहीं है। तो कारण को समझो और कारण को काटो।

इसलिए मैं कहता हूं, भागो मत, जागो! जागने से कटता है, भागने से नहीं।
और भगोड़ा कायर है। और कायर कहीं परमात्मा तक पहुंचे हैं! परमात्मा तक सिर्फ दुस्साहसी पहुंचते हैं। ख्याल रखना, साहसी भी नहीं कहता, दुस्साहसी! जुआरी पहुंचते हैं, जो सब दांव पर लगाने की हिम्मत रखते हैं।
भगोड़े, कायर, ये तो कभी नहीं पहुंचते। डरे-डराए लोग, कंपते पैर, ये परमात्मा तक नहीं पहुंचते, यह यात्रा लंबी है, इस यात्रा में ऐसे डरते लोगों का काम नहीं है। वहां हिम्मतवर लोग चाहिए।
तो संसार से भागो मत, हारे हुए संसार से भागो मत, संसार में जागो।
फिर मैं तुमसे कहता हूं, यहां जितनी सुविधा जागने की है और कहीं नहीं। संसार का प्रयोजन ही यही है कि यहां इतनी कठिनाइयां हैं, इतनी अड़चनें हैं, कि तुम्हें जागना ही पड़ेगा। चमत्कार तो यही है कि इतनी कठिनाइयों के बावजूद तुम मजे से सो रहे हो और घुर्रा रहे हो! तुम्हारी नींद में दखल ही नहीं पड़ता। यहां बैंड-बाजे बज रहे हैं और शिवजी की बारात चारों तरफ नाच रही है और तुम अपने सो रहे हो, और मजे से सो रहे हो।
तुम यहां नहीं जाग रहे, तुम हिमालय पर जागोगे! हिमालय पर बड़ा सन्नाटा है, वहां तो तुम खूब गहरी नींद में सो जाओगे। वहां जगाएगा कौन? जगाने के लिए चुनौती चाहिए। जगाने के लिए विपरीतता चाहिए। जगाने के लिए चोट चाहिए। जगाने के लिए कोलाहल, उपद्रव चाहिए। वहां कोई उपद्रव नहीं है।
तो तुम तंद्रा को या निद्रा को अगर ध्यान समझ लो तो बात दूसरी। बैठ गए
एक गुफा में सुस्त, काहिल की तरह, नींद आने लगी बैठे-बैठे--करोगे भी क्या! इस कारण तुम्हारे तथाकथित भगोड़े साधु-संन्यासियों में जीवन की प्रतिभा नहीं दिखायी पड़ती चेहरे पर, आंखों में ज्योति नहीं दिखायी पड़ती। एक सुस्ती, एक आलस्य, एक तंद्रा। मूढ़ता के लक्षण तुम्हें मिलेंगे, बोध के लक्षण नहीं मिलेंगे। तुम्हें कठिनाई से ऐसा मिलेगा साधु जिसमें कि बोध हो--जड़ता मिलेगी--क्योंकि भगोड़े में बोध हो कैसे सकता है? बोध ही हो सकता होता तो भागता क्यों?
यह संसार परमात्मा ने तुम्हें दिया, यह कसौटी है, यह परीक्षा है। इससे गुजरोगे तो निखरोगे। यह आग है, जिसमें से गुजर गए तो स्वर्ण बन जाओगे, शुद्ध कुंदन बन जाओगे, तुम्हारा कूड़ा-करकट जल जाएगा। पत्नी को, पति को, बच्चों को, दुकान को, बाजार को अग्नि समझो, कसौटी समझो; इससे भागना नहीं है।
हां, सोना भी भागकर बच सकता है अग्नि से, लेकिन तब कूड़ा-करकट भरा रह जाएगा। अग्नि से गुजरने में पीड़ा है, यह मुझे मालूम है। लेकिन पीड़ा में ही निखार है। पीड़ा ही धोती है, पोंछती है, मांजती है। पीड़ा के बिना कोई कभी विकसित हुआ है? पीड़ा ही विकास का द्वार बनती है। सब पीड़ा हट जाए, तुम तत्क्षण मुर्दा हो जाओगे। पीड़ा का उपयोग करो। पीड़ा को उपकरण बनाओ। इसलिए मैं कहता हूं, संसार से भागो मत।
"आप कहते हैं, संन्यासी को भागना नहीं, जागना है। यह संसार में रहते कैसे हो सकता है!"
यहीं हो सकता है, और कहीं तो हो ही नहीं सकता। इस छोटी सी बड़ी प्राचीन कथा को सुनो--
सम्राट पुष्पमित्र ने अश्वमेध-यज्ञ किया। यज्ञ की पूर्णाहुति हो चुकी थी, रात को अतिथियों के सत्कार में नृत्योत्सव था। जब यज्ञ के ब्रह्मा महर्षि पतंजलि उसमें उपस्थित हुए, तो उनके शिष्य चैत्र के मन में गुरु के व्यवहार के औचित्य के विषय में शंका-शूल चुभ गया।
पतंजलि, योग-सूत्रों के निर्माता। जिन्होंने योग की परिभाषा ही की हैः चित्तवृत्ति-निरोध। कि चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाए तो आदमी योग को उपलब्ध होता है। स्वभावतः उनका एक शिष्य चैत्र बड़ी शंका में पड़ गया कि गुरुदेव कहां जा रहे हैं? सम्राट ने उत्सव किया है रात, उसमें वेश्याएं नाचने वाली हैं। योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः! और यह पतंजलि अब तक समझाते रहे कि चित्तवृति का निरोध ही योग है, यह भी वहां जा रहे हैं। तो उसे बहुत शंका- शूल चुभ गया।
उस दिन से उसका मन महाभाष्य और योगसूत्रों के अध्ययन में न लगता था।

जब शंका हो जाए तो फिर कैसे लगे? श्रद्धा में ही मन लगता है, शंका में
तो दूरी हो गयी। उस दिन से गुरु से नाता टूट गया। रहा, अब भी रहा गुरु के पास, अब भी उठता था, चरण भी छूता था, आदर भी देता था, मगर भीतर अड़चन हो गयी। अंत में एक दिन जब महर्षि चित्तवृत्ति-निरोध के साधनों पर बोल रहे थे,
तो चैत्र ने यह प्रासंगिक प्रश्न किया--भगवन, क्या नृत्य-गीत और रस-रंग भी चित्तवृत्ति-निरोध में सहायक हैं? पारदर्शी पतंजलि मुस्कुराए और बोले-- चैत्र, वास्तव में तुम्हारा प्रश्न तो यह है कि क्या उस रात मेरा सम्राट के नृत्य-उत्सव में सम्मिलित होना संयम-व्रत के विरुद्ध नहीं था?
वर्ष बीत गए थे उस बात को हुए तो, लेकिन दिखता रहा होगा पतंजलि को कि इसके मन में बात चुभ गयी है, चुभ गयी है, चुभ गयी है, राह देखता, प्रतीक्षा करता, किसी अवसर पर प्रश्न को खड़ा करेगा। अप्रासंगिक भी नहीं होना चाहिए, नहीं तो गुरु सोचेंगे कि यह मैंने संदेह किया।
शायद वर्ष के बीतने के बाद जब फिर कभी पतंजलि बोलते होंगे चित्तवृत्ति- निरोध पर, तो उसने कहा कि महाराज, क्या नृत्य इत्यादि में सम्मिलित होना भी चित्तवृत्ति के निरोध में सहायक होता है? सोचता होगा, वर्ष बीत गए, अब तो महर्षि भूल भी गए होंगे उस बात को। और उनको तो याद भी कैसे होगा, मैंने तो कभी कहा भी नहीं कि शंका-शूल मेरी छाती में चुभा है और मेरी श्रद्धा तुम पर डगमगा गयी है। मैंने तुम्हें वहां देखा है, वेश्याएं नृत्य करती थीं और शराब के प्याले चलते थे--राजदरबार था--वहां आप क्या कर रहे थे! आधी रात तक वहां आपको बैठने की जरूरत क्या थी? ये सब बातें थीं, कहना तो ऐसे ही चाहता था, लेकिन इतनी हिम्मत कभी जुटा न पाया।
लेकिन पारदर्शी पतंजलि मुस्कुराए और बोलेः चैत्र, वास्तव में तुम्हारा असली प्रश्न तो यह है कि क्या उस रात मेरा सम्राट के नृत्य-उत्सव में सम्मिलित होना संयम-व्रत के विरुद्ध नहीं था? संयम के सच्चे अर्थ को तुम समझे नहीं। सुनो, सौम्य! आत्मा का स्वरूप है रस--रसो वै सः--उस रस को परिशुद्ध और अविकृत रखना ही संयम है। विकृति की आशंका से रस-विमुख होना ऐसा ही है जैसे कोई गृहिणी भिखारियों के भय से घर में भोजन पकाना ही बंद कर दे।
बड़ी अनूठी बात कही। भिखारी आते हैं, इस भय से घर में भोजन ही न बनाओ--न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी। मगर यह तो भिखारियों के पीछे खुद भी मरे। भोजन न पका तो खुद भी मरे।
तो पतंजलि ने कहा, रस तो जीवन का स्वभाव है, रसो वै सः, यह तो परमात्मा
का स्वभाव है रस, उत्सव तो परमात्मा का होने का ढंग है, यह तो आत्मा की आंतरिक दशा है--रस। इस रस से विमुख होकर, इस रस को दबाकर, इस रस को विकृत करके कोई व्यक्ति मुक्त नहीं होता। और फिर इस डर से कि कहीं रस पैदा न हो जाए तुम उन-उन स्थानों से भागते रहो जहां-जहां रस पैदा हो सकता है, तो इससे भी कुछ मुक्ति नहीं होती। संयम का ठीक-ठीक अर्थ तो होता है--इस रस को परिशुद्ध करना; इस रस को अविकृत रखना। रस को विकृत करने की परिस्थितियों में ही तो सिद्ध होगा कि रस विकृत होता है, नहीं होता? अविकृत रहता है, नहीं रहता? जहां विकार खड़ा हो, वहां तुम्हारा रस परिशुद्ध भीतर नाचता रहे, विकार और रस में मिश्रण न हो, वहीं तो कसौटी है।
विकृति की आशंका से रस-विमुख होना ऐसा ही होगा जैसे कोई गृहिणी भिखारियों के भय से घर में भोजन पकाना बंद कर दे। अथवा कोई कृषक भेड़-बकरियों के भय से खेती करना ही छोड़ बैठे। यह संयम नहीं, पलायन है। यह आत्मघात का दूसरा रूप है। आत्मा को रस-वर्जित बनाने का प्रयत्न ऐसा ही भ्रमपूर्ण है जैसे जल को तरलता से अथवा अग्नि को ऊष्मा से मुक्त करने की चेष्टा। इस भ्रम में मत फंसो।
यह बड़ी अपूर्व घटना है। और पतंजलि के मुंह से तो और भी अपूर्व है। कृष्ण ने कही होती तो ठीक था, समझ में आ जाती बात, लेकिन पतंजलि यह कहते हैं! जिन्होंने पतंजलि का योगसूत्र ही पढ़ा है, वे तो चौंकेंगे। क्योंकि पतंजलि के योगसूत्र से तो ऐसी भ्रांति पैदा होती लगती है कि पतंजलि दमन के ही पक्ष में हैं।

कोई ज्ञानी दमन के पक्ष में कभी नहीं रहा। अगर तुम्हें लगता हो, रहा,
तो तुम्हारी समझ में कहीं भूल हो गयी है। ज्ञानी मुक्ति के पक्ष में है, दमन के पक्ष में नहीं। फिर कृष्ण हों कि पतंजलि, मुक्त होना है, दमित नहीं। जो दमित हो गया, वह तो बड़े कारागृह में पड़ गया। तुम दबा लो अपनी वासना को, बैठी रहेगी भीतर, सुलगती रहेगी, उमगती रहेगी, धीरे-धीरे भीतर उपद्रव खड़ा करती रहेगी, एक न एक दिन विस्फोट होगा। जब विस्फोट होगा तो तुम विक्षिप्त हो जाओगे। विमुक्त होना तो दूर, विक्षिप्तता हाथ लगेगी।
ज्ञानियों ने यही कहा है--भागो मत, जो भीतर है, उसके प्रति जागो, उसके प्रति ध्यान को उठाओ, साक्षी बनो, देखो कि मेरे भीतर काम है, कि क्रोध है, कि लोभ है। और इस देखने में संसार बड़ा सहयोगी है।
मैंने सुना है, एक आदमी हिमालय चला गया। क्रोधी था बहुत, क्रोध के कारण रोज-रोज झंझटें होती थीं; अंततः उसने सोचा कि संसार में बड़ी झंझट होती है--यह तो नहीं सोचा कि क्रोध में झंझट है--सोचा संसार में बड़ी झंझट है। झगड़ा-झांसा खड़ा हो जाता है। छोड़-छाड़कर जंगल चला गया, पहाड़ पर बैठ गया। तीस साल पहाड़ पर था। स्वभावतः, न किसी ने अपमान किया, न किसी से झगड़ा हुआ, न बस स्टैंड पर खड़ा हुआ टिकट लेने, न सिनेमा घर के सामने भीड़ में धक्का- मुक्की हुई, कोई सवाल ही नहीं था, शांत हो गया।
तीस साल की लंबी साधना के बाद उसे लगा कि अब तो क्रोध बचा ही नहीं, बात खतम हो गयी। तभी संयोग की बात, कुंभ का मेला भरा। और किसी यात्री ने कहा कि महाराज, आप तीस साल से यहीं गुफा में बैठे हैं, अब चलिए भी; अब जनता को थोड़ा उपदेश भी दीजिए। आपको ज्ञान उपलब्ध हो गया। धीरे-धीरे लोग भी आने लगे थे खबर सुनकर कि कोई महात्मा तीस साल से गुफा में रहते हैं। उसको भी लगा कि अब तो कोई कारण भी नहीं डर का, अब तो तीस साल में विजय भी पा ली। लौटा, कुंभ के मेला आया।
अब कुंभ का मेला तो कुंभ का मेला! पागलों की ऐसी भीड़ और कहीं तो मिलेगी नहीं! कुंभ के मेले में तो किसी ने फिकर ही नहीं की इनकी। भीड़ में घुसा, किसी आदमी ने पैर पर पैर रख दिया, धक्का-मुक्की हो गयी। याद ही नहीं रहा तीस साल कैसे सपने की तरह तिरोहित हो गए। पकड़ ली उस आदमी की गर्दन, लगा दिए दो-चार घूंसे! वह जो शिष्य साथ आए थे लेकर, उन्होंने कहा--महाराज, आप यह क्या कर रहे हैं, पुलिस पकड़ लेगी! तब उसे होश आया। तब वह बड़ा हैरान हुआ, हंसा भी, कि यह तो तीस साल बेकार गए। मगर तीस साल एक भी बार ऐसा न हुआ। तीस साल कोई छोटा समय नहीं है--आधा जीवन! और आज अचानक हो गया।
तब उसे बात भी समझ में आ गयी कि पहाड़ पर बैठने से परिस्थिति ही न रही, चुनौती न रही, न किसी ने पैर पर पैर रखा, न किसी ने गाली दी, न किसी ने अपमान किया, तो क्रोध पैदा न हुआ। लेकिन इसका यह अर्थ थोड़े ही है कि क्रोध न रहा! अग्नि और घी दूर-दूर रहे, तो न अग्नि का पता चला, न घी का पता चला। अब अग्नि और घी पास-पास आ गए, तो लपट पैदा हुई, भभक पैदा हुई--एक क्षण में हो गयी। वह जो भीतर छिपा था, प्रगट हो गया।
उसने उस आदमी के, कहते हैं, पैर पड़े जिसको उसने दो घूंसे लगा दिए थे और कहा कि आप मेरे गुरु हैं। जो तीस साल में हिमालय मुझे न बता सका, वह आपने एक क्षण में बता दिया। अब मैं जाता हूं बाजार की तरफ, अब बाजार में ही रहूंगा। तीस साल व्यर्थ गए।
मैं तुमसे भागने को नहीं कहता, मैं तुमसे कहता हूं, यह संसार की सारी विपरीत परिस्थितियों का उपयोग कर लो। निश्चित ही यहां लोग हैं जो क्रोध दिलवा देते हैं। लेकिन इसका मतलब साफ है, इतना ही कि तुम्हारे भीतर अभी क्रोध है, इसलिए क्रोध दिलवा देते हैं। यहां लोग हैं जो तुम्हें लोभ में पड़वा देते हैं। इसलिए कि तुम्हारे भीतर लोभ है। यहां लोग हैं कि जिन्हें देखकर तुम्हारे भीतर में कामवासना जगती है। लेकिन कामवासना भीतर है, उनका कोई कसूर नहीं।
ऐसा ही समझो कि जैसे कोई आदमी किसी कुएं में बाल्टी डालता है, फिर पानी से भरकर बाल्टी निकल आती है। कुआं अगर पानी से रिक्त हो, तो लाख बाल्टी डालो, पानी भरकर नहीं आएगा। कुआं पानी से भरा होना चाहिए, तो ही

बाल्टी में भरेगा। बाल्टी पानी पैदा नहीं कर सकती। बाल्टी कुएं में पानी भरा हो तो बाहर ला सकती है।
जब कोई तुम्हें गाली देता है तो क्रोध थोड़े ही पैदा करता है। उसकी गाली तो बाल्टी का काम करती है, तुम्हारे भीतर भरे क्रोध को बाहर ले आती है। जब एक सुंदर स्त्री तुम्हारे पास से निकलती है तो वह तुम्हारे भीतर काम थोड़े ही पैदा करती है! उसकी मौजूदगी तो बाल्टी बन जाती है, तुम्हारे भीतर भरा हुआ काम भरकर बाहर आ जाता है। अब स्त्री से भाग जाओ तो पानी तो भीतर भरा ही रहेगा, बाल्टियों से भाग गए। संसार छोड़ दो, तो क्रोध की परिस्थिति न आएगी, लोभ की परिस्थिति न आएगी, लेकिन तुम बदले थोड़े ही! बदलाहट इतनी सस्ती होती तो सभी पलायनवादी, सभी एस्केपिस्ट महात्मा हो गए होते। और तुम्हारे सौ महात्माओं में निन्यानबे पलायनवादी हैं। उनसे जरा सावधान रहना। वे खुद भी भाग गए हैं, वे तुमको भी भागने का ही उपदेश देंगे। मैं भागने के जरा भी पक्ष में नहीं हूं, क्योंकि मुझे दिखायी पड़ता है,
इस संसार में रहकर ही विकास होता है। इस संसार में पड़ती रोज की चोट ही तुम्हें जगा दे तो जग जाओ, और कोई उपाय नहीं। निश्चित ही कष्टपूर्ण है यह बात, लेकिन बस यही एक उपाय है, और कोई उपाय ही नहीं। यही एक मार्ग है, और कोई शार्टकट नहीं है। कठिन है, दुस्तर है, पीड़ा होती है, बहुत बार बहुत कठिनाइयां खड़ी होती हैं, मगर वे सभी कठिनाइयां, अगर समझ हो, सहयोगी हो जाती हैं। वे सभी कठिनाइयां सीढ़ियां बन जाती हैं।

चौथा प्रश्नः अहंकार क्या है?

हीनता को छिपाने का उपाय है अहंकार। हीनता की भीतर गांठ है कि मैं कुछ
भी नहीं; तो मैं कुछ होकर दिखा दूं, इसकी चेष्टा है अहंकार।
साधारणतः प्रत्येक को यह हीनता की गं्रथि है। क्यों? क्योंकि बचपन से प्रत्येक को कहा गया है कि कुछ होकर दिखा दो, कुछ करके दिखा दो, कुछ नाम छोड़ जाओ इतिहास में, कुछ काम छोड़ जाओ। प्रत्येक को यह कहा गया है कि तुम जैसे हो ऐसे काफी नहीं हो; तुम जैसे हो ऐसे शुभ नहीं हो, सुंदर नहीं हो; तुम कुछ करो, मूर्तियां बनाओ, कि चित्र बनाओ, कि कविताएं बनाओ, कि राजनीति में दौड़ो, कि दिल्ली पहुंच जाओ, कि धन कमाओ, कुछ करके दिखाओ। तुम्हारे होने में कोई मूल्य नहीं है। तुम्हारा होना निर्मूल्य है। तुम्हारे कृत्य में कुछ मूल्य होगा। तो कुछ करके दिखाओगे तो ही लगेगा कि तुम हो, नहीं तो तुम्हें लगेगा कि तुम कुछ भी नहीं--खाली-खाली।
स्कूल जाओ, वहां भी वही महत्वाकांक्षा का पाठ है। सब तरफ महत्वाकांक्षा सिखायी जा रही है। दौड़ो, तेजी से दौड़ो, क्योंकि दूसरे दौड़ रहे हैं, पीछे मत रह जाना। दौड़ भारी है, संघर्ष गहरा है, गलाघोंट प्रतियोगिता है; चाहे गला ही काटना पड़े दूसरे का तो काट देना, मगर कुछ करके बता देना। इस दौड़ में सारा उपद्रव खड़ा हो रहा है। अहंकार है महत्वाकांक्षा। अहंकार है मैं कुछ नहीं हूं, इसकी पीड़ा को भुलाने का उपाय।
मनस्विद कहते हैं कि जिस दिन व्यक्ति यह समझ लेता है कि मैं अगर कुछ नहीं हूं, तो ठीक, बिल्कुल ठीक, मैं कुछ नहीं हूं; मैं शून्य हूं तो शून्य हूं, और अपने इस शून्य से राजी हो जाता है, उसी दिन अहंकार समाप्त हो जाता है।
इसलिए बुद्ध ने तो बहुत जोर दिया है कि तुम्हारे भीतर शून्य है, उस शून्य से राजी हो जाओ। तुम अपने को शून्यमात्र ही जानो। बुद्ध ने जितनी बड़ी वैज्ञानिक व्यवस्था दी है मनुष्य के अहंकार को गिराने की, किसी और दूसरे ने नहीं दी है। और बुद्ध ने जिस व्यवस्था से यह बात कही है, उतनी तर्कयुक्त व्यवस्था से भी किसी ने नहीं कही है। बुद्ध का प्रस्तावन बहुत बहुमूल्य है। अनेकों ने कहा है अहंकार छोड़ो, लेकिन यह बात अगर इस तरह कही जाए कि अहंकार छोड़ो, तो कुछ लाभ नहीं है। क्योंकि छोड़ोगे कैसे? एक नया अहंकार खड़ा हो जाता है। अहंकार छोड़ने वाले लोग एक नए अहंकार से भर जाते हैं--कि हम विनम्र हैं, कि मुझसे ज्यादा विनम्र और कोई भी नहीं। विनम्रता

का भी अहंकार होता है। साधुता का भी अहंकार होता है। निरअहंकारिता का भी अहंकार होता है। अहंकार बड़ी सूक्ष्म बात है।
इसलिए बुद्ध ने यह नहीं कहा कि अहंकार छोड़ो, बुद्ध ने कहा, अहंकार समझो। यह तुम्हारे भीतर जो शून्य है, उसको झुठलाने की कोशिश से अहंकार पैदा होता है। तुम भीतर के शून्य को स्वीकार कर लो, कहो कि मैं ना-कुछ हूं। यह असलियत है। यह वृक्षों को कोई अहंकार नहीं है, क्योंकि वृक्षों को अपना ना-कुछ होना स्वीकार है। पहाड़ों को कोई अहंकार नहीं है, क्योंकि उनको अपना ना-कुछ होना स्वीकार है। पक्षियों को अहंकार नहीं।
अहंकार मानवीय घटना है। मनुष्य को अहंकार है। अहंकार दूसरे से तुलना है, कि मैं दूसरे से आगे, कि दूसरे से पीछे। जब तुम दूसरे से आगे होते हो तो अहंकार प्रसन्न होता है। जब तुम दूसरे से पीछे होते हो तो दुखी होता है। और सदा ही कोई तुमसे आगे है, कोई तुमसे पीछे है, यह बड़ी झंझट है। हर आदमी लाइन में खड़ा है। जिसको तुम सोचते हो आगे खड़ा है, उससे भी कोई आगे है। यहां हजार तरह की झंझटें हैं।
नेपोलियन विश्वविजेता था, लेकिन उसकी ऊंचाई कम थी--पांच फीट पांच इंच। इससे वह बड़ा पीड़ित था। जब भी किसी लंबे आदमी को देख लेता, उसे बड़ा दुख हो जाता कि मैं कुछ नहीं, यह आदमी लंबा। लेनिन के पैर छोटे थे, ऊपर का शरीर थोड़ा बड़ा था, उसे हमेशा भय लगा रहता कि कोई मेरे पैर न देख ले। पैर उसके इतने छोटे थे कि सामान्य कुर्सी पर बैठता तो जमीन तक नहीं पहुंचते थे। तो वह छिपाकर बैठता था। भाग्यविधाता हो गया रूस का, लेकिन वह अड़चन बनी रही। कोई नंगा भिखारी भी, जिसके पैर स्वस्थ थे, वह भी उसे बेचैन कर जाए। नेपोलियन बेचैन हो जाता था एक नंगे भिखारी को देखकर भी, अगर वह स्वस्थ तगड़ा हुआ और लंबा हुआ। बस वही उसकी अड़चन थी।
हजार उपद्रव हैं। धन हो, तो कुछ और नहीं होगा तुम्हारे पास। कुछ और हो,
तो धन नहीं होगा तुम्हारे पास। धन हो, बुद्धि न होगी तुम्हारे पास; बुद्धि हो, धन न होगा तुम्हारे पास। ऐसा तो कोई आदमी अब तक हुआ नहीं जिसके पास सब हो। सब हो नहीं सकता। यह संभव नहीं है। और अगर ऐसा कोई आदमी होगा तो बाकी लोग उसको तत्काल मार डालेंगे। यह बरदाश्त के बाहर हो जाएगा।
ऐसे ही बरदाश्त के बाहर हो जाते हैं लोग। जिसके पास ज्यादा धन है, उसके प्रति लोग खिलाफ हो जाते हैं। जो पद पर है, उसके खिलाफ हो जाते हैं लोग। जिसके पास कहीं कुछ है, उसके खिलाफ हो जाते हैं लोग। जिसके पास ज्ञान है, उसके खिलाफ हो जाते हैं। जिसके पास आनंद है, उसके खिलाफ हो जाते हैं। किसी के पास कुछ है, उसमें उनको अड़चन होने लगती है। क्योंकि वह आदमी उनके भीतर की कमी का सूचक हो जाता है कि यह तुम्हारे पास नहीं, जो मेरे पास है। कोई तुम्हारे पीछे खड़ा है, कोई तुम्हारे आगे खड़ा है, पीछे वाले को देखकर तुम खुश हो रहे हो, आगे वाले को देखकर दुखी हो रहे हो। अहंकार दुख भी देता है, सुख भी देता है, दोनों साथ-साथ देता है।
अहंकार का तुम पूछते भी हो कि क्या है अहंकार, इससे कैसे छुटकारा पाएं, तब भी तुम इस बात को ठीक से नहीं देखते। अक्सर ऐसा होता है, जो लोग पूछते हैं कि अहंकार से कैसे छुटकारा पाएं, वे उतने ही हिस्से से छुटकारा पाना चाहते हैं जितने हिस्से में अहंकार दुख देता है। जितने हिस्से में सुख देता है, उससे नहीं छूटना चाहते हैं। मगर जब तक तुम उससे भी न छूटोगे जिसमें सुख देता है, तब तक तुम उससे भी न छूट पाओगे जिसमें दुख देता है। अहंकार छोड़ने का एक ही अर्थ होता है कि तुमने अपनी तुलना करनी बंद कर दी। अहंकार छोड़ने का एक ही अर्थ होता है कि तुमने अपने शून्यभाव को अंगीकार किया, और उसी शून्यभाव में तुम अद्वितीय हो गए।
तुम्हारी कोई तुलना हो भी नहीं सकती, तुम जैसा आदमी कभी पृथ्वी पर हुआ
ही नहीं और न फिर कभी होगा। तुम्हारे अंगूठे का निशान तुम्हारे ही अंगूठे का निशान है। सारी दुनिया में इतने लोग हो चुके हैं--अरबों-खरबों--मगर किसी के अंगूठे का निशान तुम्हारे अंगूठे का निशान नहीं है। और तुम्हारे व्यक्तित्व का ढंग भी तुम्हारा ही है। तुम तुलनीय नहीं हो। तौले कि झंझट में पड़े। तौलो मत। तुलना मत करो, कंपेरीजन मत करो। तुम जैसे हो, उसे स्वीकार कर लो। तुम जैसे हो, वैसा होना पर्याप्त है। ऐसा तुम्हें प्रभु ने

बनाया, इसको तुम धन्यभाग मानो। इसके लिए धन्यवादी होओ। और इस शून्य में राजी हो जाओ। तुमसे फिर बहुत होगा, लेकिन वह अहंकार के कारण नहीं होगा, वह तुम्हारी सहज प्रकृति के कारण होगा।
जैसे नदियां सागर की तरफ बहती हैं, ऐसा तुमसे भी बहुत बहेगा--हो सकता
है गीत रचा जाए, मूर्ति बने--होगा ही, क्योंकि जहां ऊर्जा है वहां कुछ घटना घटती रहेगी। लेकिन उस घटना के घटने में न तो चिंता रहेगी, न आपाधापी रहेगी, न दूसरों से प्रतियोगिता रहेगी, न स्पर्धा रहेगी।
अभी तो तुम इस अहंकार के नाम पर सिर्फ अपने भीतर के शून्य को ढांकते हो, घाव को ढांकते हो--जैसे घाव पर कोई फूल रख ले। फिर घाव बड़ा होता जाता है तो और बड़े फूल चाहिए, और बड़े फूल चाहिए। फिर धीरे-धीरे ऐसा हो जाता है कि घाव को छिपाने में ही जिंदगी बीत जाती है। घाव छिपता नहीं और जिंदगी समाप्त हो जाती है। और जिससे तुम घाव को छिपा रहे हो, वही तुम्हारी फांसी बन जाती है। किसी को किसी ढंग से अपना अहंकार भरना है, किसी को किसी और ढंग से, अंततः जीवन उसी अहंकार के भरने की कोशिश में नष्ट हो जाता है।
तुमने यह पुरानी पौराणिक कथा सुनी होगी--
एक योगी था वन में। एक चूहा उसके पास घूमा करता। और योगी शांत बैठता, मौन बैठता, तो चूहा--धीरे-धीरे हिम्मत भी उसकी बढ़ गयी--वह उसकी गोदी में भी आकर बैठ जाता, उसके आसपास चक्कर भी लगाता, उसके पास आकर बैठा भी रहता। योगी अपने ध्यान में होता, अपने आसन में बैठता, चूहा भी उसके पास आकर रमने लगा। धीरे-धीरे योगी को भी चूहे से लगाव हो गया।
एक दिन चूहा बैठा था उसके पास--योगी ध्यान कर रहा था--और एक बिल्ली ने हमला किया। योगी को चूहे पर बड़ी दया आयी, और अभी-अभी उसे कुछ योग की शक्तियां भी मिलनी शुरू हुई थीं, तो उसने अपने योगबल से कहा--मार्जारो भव।
उस चूहे से कहा कि तू बिल्ला हो जा। योगबल था, चूहा तत्क्षण बिल्ला हो गया।
चूहा बन-बिलाव बन गया। बिल्ली तो घबड़ा गयी, भाग गयी। योगी बड़ा खुश हुआ। चूहा भी बड़ा खुश हुआ।
लेकिन यह ज्यादा दिन बात न चली कि एक दिन एक कुत्ते ने हमला कर दिया बिल्ले पर। तो योगी ने उसे चीता बना दिया। लेकिन यह बात फिर भी ज्यादा दिन न चली। चीते पर एक दिन एक सिंह ने हमला कर दिया। तो उसने उस गरीब चूहे को अब सिंह बना दिया। सिंह ने योगी पर हमला कर दिया। तब तो योगी बहुत घबड़ाया। उसने कहा यह तो हद्द हो गयी, यह मेरा ही चूहा और यह भूल ही गया! तो उसने कहा--पुनर्मूषको भव। फिर से चूहा हो जा। चूहा फिर से चूहा हो गया।
इस कहानी में जितनी आसानी से चूहा सिंह से चूहा हो गया, इतनी आसानी से अहंकार का चूहा पुनर्मूषको भव कहने से नहीं होता। पहले हम उसे बड़ा करते हैं। हम फैलाते चले जाते हैं। हम दूसरों के मुकाबले में उसको लड़ाते चले जाते हैं, बिल्ला बनाया, कुत्ते के मुकाबले में चीता बनाया, चीते के मुकाबले में सिंह बनाया--हम बनाते चले गए--एक दिन घड़ी आती है कि वह इतना बड़ा हो जाता है कि उसके बोझ में हम ही दब जाते हैं। हमारी छाती पर पत्थर की तरह पड़ जाता है। फिर हटाना इतना आसान नहीं है जितना इस कहानी में है। फिर तुम लाख चिल्लाते रहो--पुनर्मूषको भव, वह कहेगा--चुप रहो, शांत रहो, बकवास मत करो।
तुमने देखा न, तुम्हारा मन अक्सर--तुम मन के साथ प्रयोग करके देख सकते हो--तुम सोना चाहते हो और मन अपनी बकवास में लगा है। तुम कहते हो, भाई, चुप हो जाओ; वह कहता है, तुम चुप रहो! तुम्हारा मन और तुमसे ही कहता है, तुम चुप रहो! तुम कहते हो, मुझे सोना है। वह कहता है, फिजूल की बातें न करो, अभी हम अपने काम में लगे हैं। तुम्हारा मन और तुमसे ही टें!
अब इतना आसान नहीं। इसको तुमने ही पाला है। इसको तुमने ही बड़ा किया है। इसको तुमने ही सम्हाला है। इसको तुमने ही ऊर्जा दी है। यह तुम्हारी ही ऊर्जा के बल पर आज अकड़ रहा है। लेकिन धीरे-धीरे तुम इससे दबते गए, धीरे- धीरे तुम छोटे होते गए और यह बड़ा होता गया। तुमने जिस शून्य को दबाने के लिए इसे खड़ा किया था, वह तुम हो। शून्य हमारा स्वभाव है, शून्यता हमारा गुणधर्म है। उस शून्य को दबाने के लिए अहंकार खड़ा किया, अब यह अहंकार खड़ा हो गया, अब यह तुम्हें दबा बैठा।

पहले तुम बड़े खुश हुए कि चलो इसके सहारे दूसरों को हमारा शून्य नहीं दिखायी पड़ता, दूसरों के सामने अकड़कर चल लेते हैं, दुनिया में ख्याति फैल रही है, नाम हो रहा है। फिर यह बहुत अकड़ गया, फिर इसने तुम्हें जोर से दबा लिया, अब तुम घबड़ाते हो कि इससे कैसे छूटें! यह तो गर्दन दबाए दे रहा है। लेकिन अब इतना आसान नहीं। एक बार तुमने इसके हाथ में बागडोर दे दी, तो लेने में समय लगेगा। कभी-कभी जीवनभर लग जाता है। कभी-कभी अनेक जीवन लग जाते हैं।
जब जाग जाओ तभी से दो काम शुरू कर दो। एक, कि अब इसे और शक्ति मत दो। दूसरा, कि अपने शून्यभाव का धीरे-धीरे स्मरण करो। इस भाव में रमो कि मैं ना-कुछ हूं। पहले तो बहुत कष्ट होगा--मैं ना-कुछ! यही तो जिंदगीभर मानना नहीं चाहा। दुनिया तो यही कह रही थी कि तुम ना-कुछ हो, लेकिन तुमने इनकार किया। दुनिया तो मानना ही चाहती थी कि तुम ना-कुछ हो, मगर तुम न माने। अब अपने से मानने में बड़ी अड़चन होगी।
इसी को तो संन्यास का सूत्र समझना--मैं ना-कुछ। मैं एक शून्य मात्र। बांस की पोंगरी। अगर मुझसे कुछ होता भी है तो वह परमात्मा का, मेरा क्या? उपकरण मात्र। वह जो चाहे, करा ले, न चाहे, न कराए। चाहे राजा बना दे और चाहे प्यादा बना दे। जो उसकी मर्जी। मर्जी उसकी। खेल उसका। मैं तो एक कठपुतली। धागे उसके हाथ में हैं। जैसा नचाता है, नाच लेता हूं। इसमें मेरी अकड़ क्या? ऐसा भाव तुम्हारे भीतर गहरा होता चला जाए तो धीरे-धीरे तुम पाओगे, नयी ऊर्जा न मिली अहंकार को और पुरानी ऊर्जा धीरे-धीरे शून्य में लीन होने लगी। एक दिन अहंकार गिर जाता है, जैसे ताश के पत्ते गिर जाते हैं। जैसे ताश के पत्तों से बनाया हुआ मकान गिर जाता है। जरा सा ध्यान का झोंका चाहिए और यह मकान गिर जाएगा।

पांचवां प्रश्नः मैं अनुभव करता हूं कि मेरे पास आपके चरणों पर चढ़ाने
के लिए कुछ भी नहीं है, और यह दीनता असह्य है।

पूछा है कीर्ति ने। अभी जो मैं कह रहा था, उसे ख्याल में लो। यह दीनता
भी अहंकार का ही रूप है। तुम यह मत सोचना कि यह दीनता कोई बहुत अच्छी बात है। यह अहंकार की ही छाया है। चढ़ाने की जरूरत क्या है? मेरे चरणों में कुछ चढ़ाने की जरूरत क्या है? मेरे पास रहकर तुम शून्य होना सीख लो, बस पर्याप्त है। सब चढ़ गया। अपना अहंकार ही चढ़ा दो, बस बहुत हो गया।
मगर तुम कहते हो कि "मैं अनुभव करता हूं कि मेरे पास आपके चरणों पर चढ़ाने के लिए कुछ भी नहीं है।"
यह कुछ भी नहीं का बोध ही तो असली बात है। किसके पास कुछ है! किसी के पास कुछ भी नहीं है। तुम समझते हो कोई आदमी सौ रुपये का नोट रख गया तो कुछ रख गया। है क्या सौ रुपये के नोट में! कागज का टुकड़ा है। ऐसे ही पड़ा रह जाएगा। मैं भी चला जाऊंगा, वह भी चले जाएंगे। इसको न मैं ले जा सकता, न वह ले जा सकते, तो चढ़ा क्या गए? और इसमें तुम्हारा क्या था? तुम नहीं आए थे तब भी यह नोट यहां था--यहीं का था, यहीं से उठाकर चढ़ा दिया, चढ़ाया क्या? तुम्हारे पास कुछ नहीं है, यह बात तुम्हें पीड़ा क्यों दे रही है? और यह दीनता तुम कहते हो असह्य है--क्यों? किसको असह्य हो रही है? अहंकार का भाव है। अहंकार कुछ चढ़ाना चाहता है। अहंकार चढ़ाना ही नहीं चाहता, वह दूसरों को भी हराना चाहता है। कहता है--अच्छा, तुमने सौ का नोट चढ़ाया! लो, मैं पांच सौ का चढ़ाता हूं। कर दिया ठिकाने, लगा दिया रस्ते पर तुम्हें, भूल गए अकड़! बड़े चढ़ाने चले थे!
चढ़ाने में भी दौड़ है, चढ़ाने में भी होड़ है। चढ़ाने में भी दूसरे को हराना है और जीतना है। यह तो अहंकार ही हुआ।
यह पागलपन छोड़ो। मेरे पास तो बैठकर तुम इतना समझ जाओ कि तुम्हारे पास कुछ नहीं है, बात हो गयी। फिर दूसरी बात भी तुम्हें समझ में आ जाएगी। पहले यह समझ में आ जाए कि मेरे पास कुछ भी नहीं है, तो फिर दूसरी बात भी समझ में आ जाएगी कि मैं भी कुछ नहीं हूं। यह शून्य आकाश जिस दिन भीतर प्रगट होता है, उस दिन तुम चढ़ गए। उस दिन पहुंच गए, समर्पण हो गया।

इसमें दीनता क्या है? यह तो स्थिति है। किसके पास क्या है? इसको असह्य क्यों कर रहे हो? तुम देखते होओगे कि दूसरे चढ़ाते हैं--कोई धन ले आता, कोई बुद्धि ले आता, कुछ यह ले आता, कुछ वह ले आता। अब कीर्ति सोचता होगा, मैं क्या लाऊं? कहां से लाऊं? मेरे पास कुछ भी नहीं है।
तुम कुछ भी नहीं हो, इसी भाव में रम जाओ, बस पर्याप्त हो गया। तुम उनसे आगे निकल जाओगे जो धन चढ़ा गए। तुम उनसे आगे निकल जाओगे जो कुछ चढ़ा गए। क्योंकि आगे जाने का अर्थ एक ही होता है कि तुम अपने भीतर चले जाओ--और आगे जाने का कोई अर्थ नहीं होता।
इसमें परेशान होने की जरा भी जरूरत नहीं है। हमारा अहंकार बड़ा सूक्ष्म है। यह बड़ी-बड़ी तरकीबें खोजता है, बड़ी सूक्ष्म तरकीबें खोजता है। अब ऊपर से देखने पर ऐसा ही लगेगा कि यह तो बड़ी अच्छी बात पूछी कीर्ति ने, इसमें कुछ बुराई क्या है?
इसमें बुराई है। इसमें गहरी बुराई की जड़ है। यह दीनता तुम्हारे अहंकार को ही अखर रही है। इतना ही देखो कि मेरे पास कुछ नहीं है, अब करूं क्या! बात खतम हो गयी। किसके पास कुछ है! फिर चढ़ाने की कोई जरूरत भी कहां है! कोई प्रयोजन भी नहीं है। लेकिन, आमतौर से कुछ भी हो, किसी न किसी दरवाजे से अहंकार फिर प्रविष्ट हो जाता है; पीछे के दरवाजे से आ जाता है।
मैंने सुना है--एक सूफी कहानी--एक सम्राट विश्वविजेता हो गया। तब उसे खबर मिलने लगी कि उसके बचपन का एक साथी बड़ा फकीर हो गया है। दिगंबर फकीर हो गया है। नग्न रहने लगा है। उस फकीर की ख्याति सम्राट तक आने लगी। सम्राट ने निमंत्रण भेजा कि आप कभी आएं, राजधानी आएं; पुराने मित्र हैं, बचपन में हम साथ थे, एक साथ एक स्कूल में पढ़े थे, एक फट्टी पर बैठे थे; बड़ी कृपा होगी आप आएं।
फकीर आया। फकीर तो पैदल चलता था, नग्न था, महीनों लगे। जब फकीर ठीक राजधानी के बाहर आया तो कुछ यात्री जो राजधानी के बाहर जा रहे थे, उन्होंने फकीर से कहा कि तुम्हें पता है, वह सम्राट अपनी अकड़ तुम्हें दिखाना चाहता है। इसीलिए तुम्हें बुलाया है। फकीर ने कहा, कैसी अकड़! क्या अकड़ दिखाएगा? तो उन्होंने कहा, वह दिखला रहा है अकड़, पूरी राजधानी सजायी गयी है, रास्तों पर मखमली कालीन बिछाए गए हैं, सारे नगर में दीए जलाए गए हैं, सुगंध छिड़की गयी है, फूलों से पाट दिए हैं रास्ते, सारा नगर संगीत से गुंजायमान हो रहा है। वह तुम्हें दिखाना चाहता है कि देख, तू क्या है, एक नंगा फकीर! और देख, मैं क्या हूं! फकीर ने कहा, तो हम भी दिखा देंगे!
वे यात्री तो चले गए। फिर सांझ जब फकीर पहुंचा और राजा, सम्राट द्वार
तक लेने आया उसे नगर के--अपने पूरे दरबार के साथ आया था। उसने जरूर राजधानी खूब सजायी थी, उसने तो सोचा भी नहीं था कि यह बात इस अर्थ में ली जाएगी। उसने तो यही सोचा था कि फकीर आता है, बचपन का साथी, उसका जितना अच्छा स्वागत हो सके! शायद छिपी कहीं बहुत गहरे में यह वासना भी रही होगी--दिखाऊं उसे--मगर यह बहुत चेतन नहीं थी। इसका साफ-साफ होश नहीं था। गहरे में जरूर रही होगी। हमारी गहराइयों का हमीं को पता नहीं होता। जब फकीर आया तो फकीर नंगा तो था ही, उसके घुटने तक पैर भी कीचड़ से भरे थे।
सम्राट थोड़ा हैरान हुआ, क्योंकि वर्षा तो हुई नहीं। वर्षा के लिए तो लोग तड़फ रहे हैं। रास्ते सूखे पड़े हैं, वृक्ष सूखे जा रहे हैं, किसान घबड़ा रहे हैं। वर्षा होनी चाहिए और हो नहीं रही है, समय निकला जा रहा है। इतनी कीचड़ कहां मिल गयी कि घुटने तक कीचड़ से पैर भरे हैं!
लेकिन सम्राट ने वहां द्वार पर तो कुछ न कहना उचित समझा। महल तक ले आया। और वह फकीर उन बहुमूल्य कालीनों पर--लाखों रुपयों के कालीन थे--उन पर वह कीचड़ उछालता हुआ चला। जब राजमहल में प्रविष्ट हो गए और दोनों अकेले रह गए तो सम्राट ने पूछा कि मार्ग में जरूर कष्ट हुआ होगा, इतनी कीचड़ आपके पैर में लग गयी। कहां तकलीफ पड़ी? क्या अड़चन आयी?
तो उसने कहा, अड़चन? अड़चन कोई भी नहीं। तुम अगर अपनी दौलत दिखाना चाहते
हो तो हम भी अपनी फकीरी दिखाना चाहते हैं। हम फकीर हैं। हम लात मारते हैं तुम्हारे बहुमूल्य कालीनों पर। सम्राट हंसा और उसने कहा, मैं तो सोचता था

तुम बदल गए होओगे, लेकिन तुम वही के वही, आओ गले मिलें। हम जब अलग हुए थे स्कूल से, तब से और अब में कोई फर्क नहीं पड़ा है। हम एक ही साथ, हम एक जैसे। अहंकार के रास्ते बड़े सूक्ष्म हैं। फकीरी भी दिखलाने लगता है। इससे थोड़े सावधान होना जरूरी है। और जब अहंकार परोक्ष रास्ते लेता है तो ज्यादा कठिन हो जाता है जागना। सीधे-सीधे रास्ते तो बहुत ठीक हैं। एक आदमी ने बड़ा महल बना लिया, साफ दिखायी पड़ता है कि वह दिखाना चाहता है नगर को कि मैं कौन हूं। एक आदमी बड़ी कार खरीद लाया, वह दिखाना चाहता है। लेकिन एक आदमी ने महल त्याग कर दिया और सड़क पर नग्न खड़ा हो गया; कौन जाने वह भी दिखाना चाहता हो! अब रास्ता बड़ा सूक्ष्म है। अब तो वह खुद ही अपने भीतर अचेतन में उतरे तो शायद पकड़ पाए कि उसके भीतर आकांक्षा क्या है? क्या वह दिखाना चाहता है लोगों को कि देखो, दुनिया में हुए त्यागी मगर मेरे जैसा कभी हुआ!
जैनों और बौद्धों ने महावीर और बुद्ध की त्याग की बड़ी कथाएं लिखी हैं, खूब बढ़ा-चढ़ाकर लिखी हैं। वह बढ़ा-चढ़ाकर लिखना बताता है कि जिन्होंने कथाएं लिखी हैं, उनके मन में महावीर का मूल्य नहीं था, धन का ही मूल्य था। बुद्ध का मूल्य नहीं था, धन का मूल्य था। महावीर के भक्त लिखते हैं कि महावीर के पास इतने हजार हाथी, इतने हजार घोड़े, ऐसा-ऐसा सामान था; इतने रत्न, इतने हीरे, इतने जवाहरात, वह गिनाते ही चले जाते हैं, वह संख्या बढ़ती ही जाती है--जितना शास्त्रों में जाओगे वह संख्या बढ़ती ही चली जाती है।
इतना हो नहीं सकता। इतने घोड़े, इतने हाथी महावीर जिस छोटे से राज्य में पैदा हुए, वे उसमें खड़े भी नहीं हो सकते थे। और अगर इतने हाथी-घोड़े खड़े हो जाते तो आदमियों की जगह न बचती खड़े होने की। और इतना छोटा राज्य था महावीर के पिता का--एक छोटी तहसील समझो। महावीर के पिता कोई महा सम्राट नहीं थे। इतना धन हो नहीं सकता था। इसका कोई उपाय नहीं है। अगर महावीर पैदा न हुए होते तो महावीर के पिता का नाम किसी को कभी पता भी नहीं चलता। और वही हालत बुद्ध की भी थी। अगर बुद्ध पैदा न होते तो बुद्ध के बाप का नाम कभी किसी को पता न चलता। उनके पास कुछ ज्यादा था भी नहीं। छोटे से राज्य थे। बुद्ध के समय भारत में दो हजार राज्य थे। अगर बुद्ध का राज्य पूरे भारत पर होता, तो भी इतने हाथी-घोड़े नहीं हो सकते थे जितने गिनाए हैं। पूरे भारत में इतने हाथी-घोड़े नहीं थे। और दो हजार राज्य थे! छोटा-मोटा राज्य था।
लेकिन भक्तों ने इतने बढ़ा-चढ़ाकर क्यों लिखा? बढ़ा-चढ़ाकर इसलिए लिखा कि अगर इतना न हो तो फिर छोड़ा ही क्या? तो त्याग छोटा हो जाता है। त्याग को बड़ा बताने के लिए पहले भोग बड़ा करके बताना पड़ा कि इतना-इतना था, सब छोड़ दिया, क्या गजब का त्याग था! मगर ध्यान रखना, त्याग भी नापा जा रहा है भोग से। त्याग भी नापा जा रहा है धन से। आदमी का मन बहुत रुग्ण है। यही तो कारण है कि जैनों के सब तीर्थंकर राजाओं के बेटे हैं। बुद्ध राजा के बेटे, हिंदुओं के सब अवतार राजा के बेटे। यह भी जरा अजीब सी बात है। हिंदुस्तान में कभी भी कोई गरीब का बेटा, कोई मध्यवर्गीय बेटा, कोई साधारणजन का, जो राजपुत्र नहीं था, तीर्थंकर नहीं हो सका। क्या कारण रहा होगा? क्या अड़चन रही होगी?
बात साफ है। त्यागी तो महावीर जैसे और भी बहुत हुए हैं, लेकिन उनका त्याग जनता नहीं मानेगी। है ही नहीं तुम्हारे पास तो छोड़ा क्या? त्यागी तो बहुत हुए बुद्ध जैसे, लेकिन जनता उनको मानेगी नहीं। वह कितने ही सब छोड़कर नग्न खड़े हो गए हों, लेकिन लोग पूछेंगे, था क्या? पहले था क्या? पहले की तो बताओ। बैंक बैलेंस क्या था? और तुम कहो कि बैंक बैलेंस था ही नहीं, बैंक में अपना खाता ही नहीं था, तो वह कहेंगे, छोड़ा ही नहीं कुछ, तो त्याग कैसे बड़ा हो सकता है! त्याग का बड़ा होना पहले तो इसी से तय होता है कि बैंक बैलेंस कितना था?
तो सिर्फ राजाओं के बेटे ही तीर्थंकर और अवतार हमें मालूम पड़े। बाकी
को हमने स्वीकार नहीं किया। अब कबीर हैं, दादू हैं, रैदास हैं, इनकी कौन फिकर करे! कुछ था ही नहीं, छोड़ने को कुछ था ही नहीं तो क्या छोड़ा।

अहंकार के रास्ते सूक्ष्म हैं। फिर इसमें भी अहंकार काम करता है। जब जैन देखते हैं कि बौद्धों ने लिख दिए इतने घोड़े थे, तो उससे ज्यादा घोड़े बढ़ाकर अपने शास्त्र में लिख देते हैं। जब बौद्ध देखते हैं कि जैनियों ने ज्यादा घोड़े बता दिए, वे ज्यादा घोड़े दिखा देते हैं। क्योंकि इसमें भी अहंकार जुड़ जाता है कि मेरा गुरु और उसके पास घोड़े कम! यह हो ही नहीं सकता। मेरा गुरु!
मैं एक नगर में था। वहां तीन साधुओं में झगड़ा चल रहा था। एक साधु लिखते थे अपने को--एक सौ आठ श्री। एक सौ आठ श्री का मतलब होता है--एक सौ आठ बार श्री, तब नाम लेना चाहिए। श्री, श्री, श्री, श्री, ऐसा एक सौ आठ बार, फिर, अब उतना कहने में दिक्कत होगी इसलिए लिखते हैं--एक सौ आठ। दूसरे लिखने लगे--एक हजार आठ। अब लिखने में कोई अड़चन तो है ही नहीं। तीसरे बहुत चिंतित थे, वह मुझे मिलने आए थे। वह कहने लगे कि यह एक लिखता है एक सौ आठ, एक लिखता है एक हजार आठ, अब एक लाख आठ कभी किसी ने लिखा नहीं है, तो वह जरा शास्त्रीय नहीं है, तो वह पूछने लगे कि मैं क्या लिखूं?
मैंने कहा कि तुम ऐसा करो कि--अनंत श्री। क्योंकि एक लाख लिखो, कोई एक करोड़ कर दे, इसमें रोक कौन सकता है! तुम अनंत श्री! जैसा छोटे बच्चे कहते हैं न कि तुमसे एक ज्यादा। तुम जो कहो, उससे एक ज्यादा। मामला खतम हो गया। तुम संख्या में पड़ो ही मत, नहीं तो कभी हार खाओगे, मात खाओगे। वह बोले कि बात बिल्कुल जंचती है। तब से वह अनंत श्री हो गए।
आदमी के अहंकार बड़े सूक्ष्म हैं। अहंकार के परोक्ष रूप हैं, प्रत्यक्ष रूप हैं। प्रत्यक्ष रूप तो बहुत कठिन नहीं हैं, दिखायी पड़ते हैं, परोक्ष रूप ज्यादा कठिन हैं। उनके प्रति सावधान होना।
जब तुम कहते हो मेरा देश सबसे महान, तब तुम असल में यह कहते हो कि होना
ही चाहिए, क्योंकि मैं इस देश में पैदा हुआ। नहीं तो ऐसा हो कैसे सकता है कि मेरा देश और महान न हो! तुम कह तो यही रहे कि मैं महान, लेकिन परोक्षरूप से कह रहे, सीधा नहीं कह रहे। कोई कहता है हिंदू-धर्म सबसे महान, कोई कहता है जैन-धर्म सबसे महान। क्यों? क्योंकि जैन-धर्म महान हो तो ही तुम महान, हिंदू-धर्म महान हो तो तुम महान। कोई कहता है कुरान सबसे ऊंची किताब, कोई कहता है वेद सबसे ऊंची किताब--जो तुम्हारी किताब है वह ऊंची होनी चाहिए। और यह पागलपन सारी दुनिया में है। चीनी समझते हैं कि उनसे ज्यादा महान कोई देश नहीं है। और वैसे ही जापानी भी समझते हैं। और वैसे ही जर्मन भी समझते हैं। दुनिया में ऐसी कोई कौम नहीं है जो अपने को महान न समझती हो। कोई देश ऐसा नहीं जो अपने को महान न समझता हो। क्योंकि दुनिया में आदमी नहीं जिनको अहंकार न हो। मगर तुम बहाने खोजते हो। और बहाने ऐसे खोजते हो कि सीधे-सीधे दिखायी भी नहीं पड़ते।
अब जब कोई कहता है भारत देश सबसे महान देश, तो किसी को दिखायी भी नहीं पड़ता कि वह अहंकार की घोषणा कर रहा है। जब वह कहता है झंडा ऊंचा रहे हमारा, तो तुम्हें लगता है कि इसमें कोई ऐसी गलत बात कह ही नहीं रहा, झंडा ऊंचा रहे हमारा। झंडा तुम्हारा भी है वह, इसलिए तुम्हें अड़चन नहीं होती। चीनी को देखकर अड़चन होती है। तुम्हारा झंडा ऊंचा! तब झगड़ा खड़ा होता है। लेकिन चीनी दूर है, उससे हमारी सीधी मुलाकात साफ-साफ सामने-सामने होती भी नहीं। यहां तो जो हमारा झंडा है, वह हम सबका है, इसलिए हम मजे से कहते रहते हैं। जैन मंदिर में चलती रहती है बात कि जैन-धर्म सबसे महान धर्म; कोई अड़चन नहीं। हिंदू मंदिर में चलती रहती है बात, हिंदू-धर्म सबसे महान। मस्जिद में चर्चा चलती रहती है कि इस्लाम से महान कोई धर्म है ही नहीं। ये चर्चाएं सीमाओं में चलती रहती हैं और वहां जितने लोग मौजूद हैं वे सब सिर हिलाते हैं, क्योंकि वे सब मुसलमान हैं, सब हिंदू हैं, सब जैन हैं। लेकिन जरा तुम इस सत्य को तो देखने की कोशिश करो--यही सभी लोग कह रहे हैं। अगर गधे-घोड़े भी बोलते होते तो वे भी यही कहते, वे भी यही कहते कि हमसे महान कोई भी नहीं।
मैंने एक बात सुनी है कि जब डार्विन ने सिद्धांत प्रतिपादित किया कि आदमी बंदरों से विकसित हुआ है, बंदरों का ही विकास है, तो आदमियों में भी विवाद चला, क्योंकि आदमियों को यह बात जंची नहीं, अखरी, कि हम बंदर से

विकसित हुए हैं! इससे उनको चोट लगी। वे पहले से यही सोचते रहे थे कि भगवान ने बनाया और यह क्या मामला हुआ, एकदम भगवान... वल्दियत बदल गयी! भगवान की जगह बंदर, एकदम वल्दियत बदल गयी! कहां भगवान और कहां बंदर! आदमियों में खूब विवाद चला, लोग बड़े नाराज हुए। कोई स्वीकार करने को राजी नहीं था।
लेकिन मैंने सुना है, बंदरों में भी बहुत विवाद चला। और बंदर भी बहुत नाराज थे कि कौन कहता है कि आदमी हमारा विकास है! हमारा पतन है। हम रहते वृक्षों पर, ये पतित हो गए और समझ रहे हैं विकास हो गया! और अगर गौर से देखो तो उनकी बात में भी अर्थ तो है ही। एक बंदर से तुम्हारी टक्कर हो जाए तो समझ में आ जाए कि तुम विकसित हो कि बंदर। न छलांग लगा सकते वैसी, न एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर झूल सकते वैसे; न वैसी लोच, न वैसी ऊर्जा, न वैसी शक्ति, काहे के विकसित! किसी तरह चश्मा लगाए और नकली दांत लगाए चले जा रहे हैं, और कह रहे हैं विकसित हो गए! और बंदर हंसते ही होंगे कि यह मामला क्या है? इनका विकास कैसे हो गया!
जहां भी अहंकार है, उस अहंकार को भरने की हम सब व्यवस्थाएं करते हैं।
तो हम कहते हैं, आदमी सबसे श्रेष्ठ प्राणी। अब विवाद तो कभी हुआ ही नहीं किसी दूसरी जाति के प्राणियों से, सिंहों से तो पूछा नहीं... ।
मैंने सुना है--ईसप की कहानी है--एक सिंह जंगल में घूमता है, पूछता है
एक बंदर से कि क्यों भाई, जंगल का राजा कौन? बंदर कहता है, महाराज, आप हैं, इसमें पूछने की क्या बात है। पूछता एक चीते से, जंगल का राजा कौन? चीता कहता है, यह भी कोई पूछने की बात है। बच्चा-बच्चा जानता है कि आप हैं। फिर उसकी अकड़ बढ़ती जाती है। फिर वह जाता है एक हाथी के पास, पूछता है, जंगल का राजा कौन है? हाथी उसे सूंड़ में बांधकर और कोई पच्चीस फीट दूर फेंक देता है। गिरता है जमीन पर, धूल झाड़कर उठता है और कहता है, भाई, अगर तुम्हें ठीक मालूम नहीं तो ऐसा क्यों नहीं कहते! साफ कह दो कि उत्तर मालूम नहीं है।
अब उत्तर और क्या होता है!
हम तब तक नहीं जाग सकते अहंकार से, जब तक हमें अचेतन सूक्ष्म गतिविधियों का बोध न होने लगे। ध्यान की प्रक्रियाएं पहले तुम्हें चेतन में जो अहंकार है उसके प्रति सजग करती हैं। स्थूल अहंकार--धन का, पद का। फिर धीरे-धीरे तुम्हें बताना शुरू करती हैं कि और भी सूक्ष्म अहंकार हैं-- धर्म के, राष्ट्र के। फिर तुम्हें और सूक्ष्म अहंकारों का पता चलता है-- त्याग का, ज्ञान का। ऐसे पर्त-पर्त अहंकार काटना पड़ता है। प्याज की तरह एक के भीतर दूसरी पर्त है। और दूसरी पर्त पहले से ज्यादा गहरी है, क्योंकि वह ज्यादा केंद्र के निकट है।
और अंत में जब सारी पर्तें कट जाती हैं और प्याज में कुछ भी नहीं बचता, सिर्फ शून्य रह जाता है, तब तुम जानना कि तुम उस जगह पहुंचे जहां आत्मा का वास है। जहां अहंकार पूरा कट जाता है, वहीं तुम हो। जहां अहंकार नहीं, वहीं परमात्मा है।

आखिरी प्रश्नः मैं संसार छोड़ने को तैयार हूं, लेकिन क्या आप आश्वासन देते हैं कि मैं इस तरह निश्चय ही सुख पा लूंगा? पक्का हो जाए तो मैं आज ही सब छोड़ने को राजी हूं।

पहली तो बात, मैंने कभी भूलकर भी, नींद में भी किसी से नहीं कहा, सपने में भी नहीं किसी से कहा कि संसार छोड़ना, और तुम मुझसे पूछ रहे हो कि मैं संसार छोड़ने को राजी हूं! मैं रोज-रोज कहे जाता हूं, छोड़ना मत, भागना मत, समझना।
मगर छोड़ना आसान मालूम पड़ता है, समझना कठिन, इसलिए मैं तुम्हारे प्रश्न को समझता हूं। तुम यह कह रहे हो कि समझने की झंझट में कहां पड़ें, अगर छोड़ने से काम हल होता हो तो हम अभी छोड़ देते हैं। और अक्सर तो ऐसा होता है कि तुम छोड़ने को तभी राजी होते हो जब संसार ही तुम्हें छोड़ चुका होता है। वैसे बुढ़ापे में लोग अक्सर राजी हो जाते हैं कि चलो, छोड़ देते हैं। रामकृष्ण के पास एक आदमी आता था, वह बड़े उत्सव मनाता था--धार्मिक उत्सव। और हर उत्सव में भेड़ें कटतीं, बकरियां कटतीं, और बड़ा भोज देता था।

फिर अचानक उसने उत्सव मनाने बंद कर दिए। तो रामकृष्ण ने उससे पूछा कि क्या हो गया भाई, तुम बड़े धार्मिक आदमी थे, बड़े उत्सव मनाते थे, क्या हो गया? अब धार्मिक नहीं रहे? आस्था टूट गयी? उन्होंने कहा, नहीं महाराज, आस्था भी वैसे ही है, धार्मिक भी वैसे ही हूं, लेकिन अब दांत ही न रहे। अब, अब क्या फायदा! उस दिन असली बात जाहिर हुई, दांतों ने छोड़ दिया है, तो अब वह कहते हैं कि इस मांसाहार में क्या रखा है? यह अच्छी बात भी नहीं।
जब संसार तुम्हें छोड़ने के करीब होने लगता है, बुढ़ापा आने लगता है, पैर डगमगाने लगते हैं, संसार तुम्हें छोड़ने लगा, तो अब तुम सोचते हो कि चलो अब कम से कम यही मजा ले लो इसे छोड़ने का, छोड़ दें।
फिर संसार को छोड़ने की बात ही उठती इसीलिए है कि संसार में सुख नहीं पाया। अब तुम सोचते हो, शायद संसार को छा.ेडकर सुख मिल जाए--वही तुम मुझसे पूछ रहे हो। न केवल पूछ रहे हो, तुम गारंटी चाहते हो। तुम कहते हो, आश्वासन देने को तैयार हैं--कि अगर न मिला तो तुम मुझे अदालत में ले जाओगे--कि सुख निश्चित मिलेगा, पक्का मिलेगा अगर मैं संसार छोड़ दूं? तुम सुख के पीछे अब भी उतने ही दीवाने हो। और सुख की आकांक्षा का नाम संसार है। तुम संसार छोड़ोगे कैसे?
सुख की आकांक्षा छूटती है, तो संसार छूटता है। जिस दिन तुम्हें यह दिखायी पड़ता है कि सुख बाहर है ही नहीं, सुख बाहर होता ही नहीं; न संसार पकड़ने से मिलता है, न संसार छोड़ने से मिलता है, क्योंकि पकड़ना भी बाहर, छोड़ना भी बाहर, संसार बाहर। जिस दिन तुम जानते हो कि सुख तो स्वयं में रमने की बात है, इसका संसार को पकड़ने-छोड़ने से कोई संबंध नहीं है, तो क्रांति घटती है।
और यह आश्वासन नहीं दिए जा सकते हैं। इसकी कोई गारंटी नहीं हो सकती है। यह तुम पर निर्भर है, मुझ पर निर्भर नहीं है। तुम अगर समझो तो अभी सुख मिल जाए, और तुम अगर न समझो तो कभी भी न मिलेगा। और नासमझी तुम्हारी बहुत मजबूत दिखायी पड़ती है। पक्की।
तुम कहते हो, "संसार छोड़ने को तैयार हूं, लेकिन क्या आप आश्वासन देते हैं कि मैं इस तरह सुख निश्चय ही पा लूंगा?"
आश्वासन कौन देगा? आश्वासन बाहर से आएगा और बाहर की इतने दिन तक चेष्टा कर ली, अब बाहर से छूटो। अब तो भीतर आश्वासन खोजो; अब तो आंख बंद करो और भीतर डुबकी लो। अप्प दीपो भव, बुद्ध ने कहा, अपने दीए बनो। तुम मुझसे मांग रहे हो आश्वासन। जैसे कि मेरे हाथ में है सुख देना। मेरे हाथ में होता तो मैं तुम्हें दे ही देता। जो मेरे हाथ में है, वह मैं तुम्हें दे ही रहा हूं। उसमें जरा भी कंजूसी नहीं है। लेकिन न बुद्ध के हाथ में है तुम्हें सुख देना, न महावीर के हाथ में है। किसी के हाथ में नहीं है। सुख लेना तुम्हारे हाथ में है। और तुम्हारी जब तक दृष्टि गलत है, तब तक सुख न मिलेगा।
संसार मत छोड़ो, दृष्टि छोड़ो। दृष्टि बदले तो सृष्टि बदल जाती है। सारा खेल दृष्टि का है। मगर दृष्टि बदलने को तुम राजी नहीं। तुम संसार छोड़ने को राजी हो, मगर यही आंखें लेकर तुम जहां भी जाओगे वहीं संसार बन जाएगा।
कथा है प्यारी, महाराष्ट्र में संत हुए रामदास। वह राम की कथा कहते थे, भक्त सुनने आते थे। अब रामदास जैसा व्यक्ति कथा कहे तो कथा में हजार-हजार फूल लग गए होंगे! कथा तो वही है, लेकिन कहने वाले पर निर्भर करती है। कथा की खबर ऐसी फैलने लगी कि सुनते हैं, हनुमान को भी खबर लगी कि रामदास कथा कहते हैं और बड़ा मजा आ रहा है। तो हनुमान भी सुनने आने लगे। बैठ जाते अपना कंबल-वंबल ओढ़कर बीच में और सुनते और बड़ा मजा लेते कि बात तो बड़ी गजब की है।
कभी-कभी ऐसा होता है कि तुम हिमालय देख आए, मगर जब कोई कवि हिमालय देखकर आए और हिमालय का वर्णन करने लगे, तब तुम्हें पता चलता है कि अरे हां, गजब का सौंदर्य था! कोई कवि चाहिए, कोई सौंदर्य का पारखी चाहिए। तुम देख आए हिमालय, मगर तुम अपनी आंख से देख आए न! तुम्हारी आंख में जितना सौंदर्य था उतना देख आए। फिर लौटकर घर आ गए, फिर रवींद्रनाथ आएं हिमालय से और हिमालय

का वर्णन करने लगें और हजार-हजार धाराओं में कविता बहने लगे, तब तुम कहोगे कि हां, बात तो मैं जो कहना चाहता था, आपने कह दी!
तो बिचारे हनुमान सीधे-साधे हैं। उनको बहुत जंचने लगी, बड़ा सिर हिलाते थे। बड़े मस्त हो जाते थे कि बात तो मैंने देखी थी आंख से, मगर यह रामदास कह रहा है और इतने ढंग से कह रहा है, और ऐसी बात रुचती है! मगर एक जगह अड़चन हो गयी। एक जगह अड़चन हो गयी, रामदास वर्णन करते हैं कि हनुमान गए अशोक वाटिका में सीता को लेने, और उन्होंने चारों तरफ देखे कि सफेद फूल लगे हैं, पूरी अशोक वाटिका में शुभ्र फूल लगे हैं। हनुमान भूल गए--हनुमान ही ठहरे-- खड़े हो गए कि महाराज, और सब ठीक है, मगर यह आप बदल लो, फूल लाल थे, सफेद नहीं थे। रामदास ने कहा, कौन होते हो जी बीच में बोलने वाले, बैठे जाओ! फूल सफेद थे। तब तो हनुमान को और गुस्सा आ गया, उन्होंने कंबल फेंक दिया, उनकी पूंछ निकल आयी बाहर। उन्होंने कहा, तुम समझते क्या हो, मैं खुद हनुमान हूं, मुझको कहते हो बैठ जाओ जी! और मुझसे कहते हो चिल्लाकर कि फूल सफेद थे। मैं खुद वहां गया था, और तुम हजारों साल बाद कहानी कह रहे हो--न तुम गए, न तुमने देखा!
हनुमान ने सोचा था अब तो रामदास मान जाएंगे। लेकिन रामदास ने कहा, कोई
भी होओ तुम, हनुमान ही सही, तुम रामचंद्रजी को ले आओ तो मैं मानने वाला नहीं, फूल सफेद थे, और सफेद रहेंगे--मेरी कथा में सफेद रहेंगे।
इस तरह के हिम्मतवर लोग भी तो होते हैं। ये बड़े प्यारे लोग हैं। ये कहते हैं कि तुम राम को ले आओ तो उनकी फिकर मानने वाला नहीं हूं, कह दिया सफेद, सफेद। मैं था या नहीं, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मैं जानता हूं फूल सफेद थे।
बात तो बिगड़ गयी। हनुमान बहुत उछल-कूद मचाने लगे। उन्होंने कहा, चलना पड़ेगा रामचंद्रजी के पास, अब वही निर्णय करें।
तो कथा कहती है कि रामचंद्रजी के पास ले जाया गया, रामदास गए--हनुमान
ले गए उनको उड़ाकर--राम के सामने निवेदन किया गया। राम ने हनुमान से कहा कि तुझे बीच में नहीं बोलना चाहिए। तू शांत रहा कर। एक तो ऐसी जगह तुम गए किसलिए? गए भी तो अपना कंबल ओढ़े बैठे रहते, चुपचाप सुन लेते तुम्हें सुनना था तो। रामदास ठीक कहते हैं, फूल सफेद थे। हनुमान ने कहा, यह तो हद हो गयी, अन्याय हुआ जा रहा है; मैं खुद गया... ।
राम ने कहा, तुम गए थे, वह मुझे मालूम है, लेकिन तुम इतने क्रोध से भरे थे, तुम्हारी आंखों में खून था, तुम्हें लाल दिखायी दिए होंगे, फूल सफेद ही थे। तुम्हारी आंख में क्रोध था, खून से भरी थीं आंखें, तुम दीवानी हालत में थे। यह रामदास बैठकर शांति से अपनी कहानी कह रहा है, इसको कोई दीवानगी थोड़े ही है! इसको कुछ लेना-देना थोड़े ही है! तुम पागल हुए जा रहे थे--सीता कैद हो गयी थी, तुम जिसे प्रेम करते हो वह राम दिक्कत में पड़ा था, सारी बात अस्तव्यस्त थी; हार होगी कि जीत कुछ पक्का नहीं था, तुम उस अड़चन में थे-- तुम्हें कहां ठिकाना कि फूल सफेद थे कि लाल थे। रामदास ठीक कहता है। तुम इससे क्षमा मांग लो।
आंख की बात है। संसार की बात नहीं है। तुम्हारी आंख में कामवासना का रंग है तो सब तरफ कामवासना है। तुम्हारी आंख में राम बस गए, सब तरफ राम। फूल वैसे ही हो जाते हैं जैसे तुम्हारी आंख का रंग है।
तुमसे मैं संसार छोड़ने को नहीं कहता, संसार में परमात्मा को देखने को कहता हूं। और मैं तुम्हें कोई आश्वासन नहीं दे सकता, क्योंकि आश्वासन की मांग में ही भूल छिपी है। तुम फिर भी यह सोच रहे हो कि सुख किसी और के हाथ में है। सुख तुम्हारी मालकियत है। सुख तुम्हारा स्वभाव है। सुख तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है। तुम इसे खो रहे हो, यह तुम्हारी मर्जी। तुम इसे जरा ही भीतर की तरफ मोड़ो और पा लोगे। संसार से मत भागो, स्वयं में जागो।
ये छोटी सी तीन कहानियां तुमसे कहता हूं।
पहली--
अपने जिज्ञासु पुत्र कछ के निरंतर पूछने पर बृहस्पति ने कहा--वत्स, त्याग ही परम कल्याण का साधन है। तू त्याग का अवलंबन ले। किंतु सर्वस्व त्याग देने पर भी जब कछ को परमानंद का अनुभव न हुआ, तो वह फिर बृहस्पति के

पास पहुंचा। देवगुरु कछ के सारे विभ्रम को समझ गए, सस्मित बोले--तात, त्याग का अर्थ वस्तु का त्याग नहीं, उस वस्तु-संबंधी ममत्व एवं अहंकार का त्याग है। जब तक जीवन है, वस्तु की अपेक्षा तो अनिवार्य है। अतः वस्तु त्याज्य नहीं है, त्याज्य है वस्तु की भोगवासना, उसकी संग्रह-लिप्सा। तुम वस्तुएं छोड़ने के पीछे मत पड़ो, तुम तो वस्तुएं संग्रह करने का भाव भर जाने दो। धन को छोड़ने की जरूरत नहीं है, धन धन है, ऐसी दृष्टि छोड़ देने की जरूरत है। और तुम अगर संन्यास भी इसलिए लेना चाहते हो कि सुख मिले, तो तुम संन्यास ले ही नहीं रहे। फिर तुम्हारा संन्यास भी संसार का ही विस्तार है।
यह दूसरी कहानी--
पुराणों में कथा है देवशर्मा नाम के एक ब्राह्मण थे, और उसकी पत्नी थी सुधर्मी। देवशर्मा पुत्रविहीन थे। उन्होंने बहुत तपश्चर्या की, बहुत योग साधा, बहुत ध्यान किया, फलस्वरूप देवता उन पर प्रसन्न हुए; और जब देवता प्रगट हुआ तो देवशर्मा ने पुत्र मांगा। पुत्र पैदा हुआ, वरदान फला। लेकिन पुत्र अंधा था। मां-बाप बहुत दुखी हुए। बुढ़ापे में मिला भी बेटा तो अंधा। जीवनभर इसी बेटे के लिए प्रार्थनाएं कीं, पूजाएं कीं, तप किया, योग किया, जो भी कर सकते थे किया; तीर्थ गए, सब किया और मिला अंधा! पर अब तो कोई उपाय न था।
इस अंधे बेटे को बड़ा किया, गुरुकुल भेजा। कुछ थोड़ा-बहुत पढ़-लिखकर बेटा वापस लौटा। जब अंधा बेटा गुरुकुल से वापस आया, तो उसने अपने पिता से पूछा कि क्या आप अभी अंधे हैं? क्योंकि अंधे पिता के बिना अंधा पुत्र कैसे हो सकता है? देवशर्मा तो बहुत हैरान हुआ। उसने कहा कि नहीं बेटे, मैं अंधा नहीं हूं, न तेरी मां अंधी है; हम आंख वाले हैं, मगर किसी कर्म का फल होगा कि हमें अंधा बेटा मिला। लेकिन बेटे ने कहा, नहीं, आप अंधे हैं और मेरी मां भी अंधी है। बाप ने पूछा, तेरा मतलब क्या? तो बेटे ने कहा, मेरा मतलब यह है कि जीवनभर कठिन तपश्चर्या करके मांगा भी तो पुत्र मांगा। अंधे हो। जीवनभर तपश्चर्या करके जब देवता प्रगट हुआ तो मांगा भी तो पुत्र मांगा, तुम अंधे हो। इसलिए तो मैं अंधा हुआ।
तुम संन्यास से भी सुख ही मांगते हो--वही सुख जो संसार से मांगते थक गए
हो और नहीं मिला। संन्यास से शांति मांगो, सुख नहीं। शांति मिलती है, शांति की छाया की तरह सुख चला आता है। तुमने जगत में सुख मांगा अब तक, सुख की छाया की तरह अशांति मिलती है।
इस सूत्र को ख्याल रखना, यह फिर एक विरोधाभास। सुख मांगो, अशांति मिलती है; शांति मांगो, सुख मिलता है।
तीसरी कहानी--
सम्राट तैमूर लंगड़ा था। इसलिए इतिहास में तैमूर लंग के नाम से प्रसिद्ध है। एक बार एक अंधा गवैया उसके दरबार में उपस्थित हुआ, तैमूर लंग उसका गान सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसका नाम पूछा। दौलत, गवैए ने उत्तर दिया। दौलत! तैमूर लंग ने कहा, दौलत भी क्या अंधी होती है! सम्राट ने उसके अंधेपन पर चोट की। वह अंधा हंसने लगा और उसने कहा, यदि अंधी न होती तो क्या लंगड़े के घर आती?
मन तुम्हारा संसार में मांगते-मांगते थका नहीं, अभी मांग जारी रखोगे? अभी भिखारी ही बने रहोगे? अब भिखमंगापन छोड़ो! संन्यास तो बिना किसी आकांक्षा से फलित हो तो ही फलित होता है। संन्यास तो संसार की व्यर्थता को देखकर उमगे तो ही उमगता है। संन्यास के साथ किसी वासना का कोई संबंध नहीं। तुम यह कहो कि इसलिए संन्यास लेते हैं तो संन्यास चूक गए। तो यह संन्यास अंधा और लंगड़ा, इस संन्यास का कोई मूल्य नहीं।
तुम कहते हो कि संसार में सब करके देख लिया, इस करने में कुछ भी न पाया,
अब अपने भीतर विराजते हैं। दौड़-दौड़कर देख लिया, अब विश्राम करते हैं। अब विराम करते हैं। इस विराम में अब कोई मांग नहीं है, क्योंकि मांग में तो दौड़ होती है, फिर दौड़ना पड़ेगा। इस विराम में कोई वासना नहीं है, सिर्फ वासना से मुक्ति है। और तब अचानक सुख की वर्षा हो जाती है। महासुख की। उस महासुख को हमने आनंद कहा है। इसीलिए आनंद कहा है कि सुख के विपरीत तो दुख होता है, आनंद के विपरीत कुछ भी नहीं होता। जहां सुख है, वहां दुख की

संभावना है। आज सुख है, कल दुख हो जाएगा। लेकिन जहां आनंद है, वहां शाश्वत आनंद है। एस धम्मो सनंतनो।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 10
अंठान्वे प्रवचन

सत्यमेव जयते

अभूतवादी निरयं उपेति यो चापि
कत्वा "न करोमीति" चाह।
उभोति ते पोच्च समा भवंति
निहीनकम्मा मनुजा परत्थ।। 257।।

कुसो यथा दुग्गहीतो हत्थमेवानुकंतति।
सामांं दुप्परामट्ठं निरमाय उपकड्ढति।। 258।।

कयिरा च कयिराथेनं दल्हमेनं परक्कमे।
सिथिलो हि परिब्बाजो भिय्यो आकिरते रजं।। 259।।

नगरं यथा पच्चंतं गुत्तं संतरबाहिरं।
एवं गोपेथ अत्तानं खणो वे मा उपच्चगा।
खणातीता हि सोचंति निरयम्हि समप्पिता।। 260।।

अलज्जिता ये लज्जंति लज्जिता ये न लज्जरे।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छंति दुग्गतिं।। 261।।

अभये च भयदस्सिनो भये च अभयदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छंति दुग्गतिं।। 262।।

सूत्र-संदर्भ। कथा ऐसी है--

भगवान का प्रभाव प्रतिदिन बढ़ता जाता था। और जो वस्तुतः धर्मानुरागी
थे वे अतीव रूप से आनंदित थे। उनके हृदय-कुसुम भी भगवान की किरणों में खुले जाते थे। उनके मन-पाखी भगवान के साथ अनंत की उड़ान के लिए तत्पर हो रहे थे। लेकिन ऐसे लोग तो दुर्भाग्य से थोड़े ही थे। बहुत तो ऐसे थे, जिनके प्राणों में भगवान की उपस्थिति भाले सी चुभ रही थी। भगवान का बढ़ता प्रभाव उन्हें क्रोध के जहर से भर रहा था। भगवान के वचन उन्हें विध्वंसक मालूम होते थे। उन्हें लगता था कि यह गौतम तो धर्म के नाश पर उतारू है।
और उनकी बात में थोड़ी सचाई भी थी।
क्योंकि गौतम बुद्ध की शिक्षाएं, जिसे वे मतांध धर्म समझते थे, उससे निश्चय ही विरोध में थीं। गौतम किसी और ही धर्म की बात कर रहे थे। गौतम शुद्ध धर्म की बात कर रहे थे। गौतम परंपरावादी नहीं थे। न संप्रदायवादी थे, न शास्त्रों के पूजक थे, न रूढ़ियों-अंधविश्वासों के। गौतम का धर्म अतीत पर निर्भर ही नहीं था। गौतम का धर्म उधार नहीं था, स्वानुभव पर आधारित था। गौतम अपने शास्त्र स्वयं थे। गौतम का धर्म स्थिति-स्थापक नहीं था, आमूल क्रांतिकारी था। धर्म हो ही केवल क्रांतिकारी सकता है। गौतम की निष्ठा समाज में नहीं, व्यक्ति में थी। और गौतम की आधारशिला मनुष्य था, आकाश का कोई परमात्मा या देवी-देवता नहीं। गौतम ने मनुष्य की और मनुष्य के द्वारा चैतन्य की परम प्रतिष्ठा की थी।
इस सबसे रूढ़िवादी, दकियानूस, धर्म के नाम पर भांति-भांति के शोषण में संलग्न, प्रकार-प्रकार के पंडित-पुरोहितों और तथाकथित धर्मगुरुओं में किसी भी भांति गौतम को बदनाम करने की होड़ लगी थी। उन्होंने एक सुंदरी परिव्राजिका को विशाल धनराशि का लोभ देकर राजी कर लिया कि वह बुद्ध की अकीर्ति फैलाए। वह सुंदरी उनके साथ शड्यंत्र में संलग्न हो गयी। वह नित्य संध्या जेतवन की ओर जाती थी और परिव्राजिकाओं के समूह में रहकर प्रातः नगर में प्रवेश करती थी। और जब श्रावस्ती-वासी पूछते, कहां से आ रही है? तब वह कहती थी, रातभर श्रमण गौतम को रति में रमण कराकर जेतवन से आ रही हूं।

ऐसे भगवान की बदनामी फैलने लगी। लेकिन भगवान चुप रहे सो चुप रहे। भिक्षु आ-आकर सब उनसे कहते, लेकिन वे हंसते और चुप रहते। धीरे-धीरे यह एक ही बात सारे नगर की चर्चा का विषय बन गयी। लोग रस ले-लेकर और बात को बढ़ा- बढ़ाकर फैलाने लगे। और भगवान के पास आने वालों की संख्या रोज-रोज कम होने लगी। हजारों आते थे, फिर सैकड़ों रह गए, और फिर अंगुलियों पर गिने जा सकें इतने ही लोग बचे। और भगवान हंसते और कहते--देखो, सुंदरी परिव्राजिका का अपूर्व कार्य, कचरा-कचरा जल गया, सोना-सोना बचा।
भगवान की शांति को अचल देख उन तथाकथित धर्मगुरुओं ने गुंडों को रुपये देकर सुंदरी को मरवा डाला और फूलों के एक ढेर में जेतवन में ही छिपा दी उसकी लाश। भगवान की शांति से सुंदरी अपने कुकृत्य पर धीरे-धीरे पछताने लगी थी। भगवान ने उसे एक शब्द भी नहीं कहा था और न ही उसके आने-जाने पर कोई रोक ही लगायी थी। उसकी अंतरात्मा ही उसे काटने लगी थी। इस कारण उसकी हत्या आवश्यक हो गयी थी। उसके द्वारा सत्य की घोषणा का डर पैदा हो गया था। फिर यह हत्या शड्यंत्र को और भी गहरा बनाने का उपाय भी थी।
सुंदरी की हत्या के बाद उन धर्मगुरुओं ने नगर में खबर फैला दी कि मालूम होता है कि गौतम ने अपने पाप के भय से सुंदरी को मरवा डाला है। उन्होंने राजा से भी जाकर कहा कि महाराज, हम सुंदरी परिव्राजिका को नहीं देख रहे, दाल में कुछ काला है। वह श्रमण गौतम के पास जेतवन में ही रातें गुजारा करती थी।
राजा ने जेतवन में सुंदरी की तलाश के लिए सिपाही भेजे, वहां पायी गयी उसकी लाश। धर्मगुरु ने राजा से कहा--महाराज, देखिए यह महापाप। अपने पाप को छिपाने के लिए गौतम इस महापाप को करने से भी न चूका। और वे धर्मगुरु नगर की गली-गली में घूमकर गौतम की निंदा में संलग्न हो गए। भगवान के भिक्षुओं का भिक्षाटन भी कठिन हो गया। भगवान के पास तो अब केवल दुस्साहसी ही जा सकते थे।
और भगवान ने इस सब पर क्या टिप्पणी की!
भगवान ने कहा--भिक्षुओ, असत्य असत्य है, तुम चिंता न करो। सत्य स्वयं अपनी रक्षा करने में समर्थ है। फिर सत्य के स्वयं को प्रगट करने के अपने ही मार्ग हैं, अनूठे मार्ग हैं। तुम बस शांति रखो, धैर्य रखो। ध्यान करो और सब सहो। यह सहना साधना है। श्रद्धा न खोओ, श्रद्धा को इस अग्नि से भी गुजरने दो। यह अपूर्व अवसर है, ऐसे अवसरों पर ही तो कसौटी होती है। श्रद्धा और निखरकर प्रगट होगी। सत्य सदा ही जीतता है।
और फिर ऐसा ही हुआ। सप्ताह के पूरे होते-होते ही जिन गुंडों ने सुंदरी
को मारा था वे मधुशाला में शराब की मस्ती में सब कुछ कह गए। सत्य ने ऐसे अपने को प्रगट कर ही दिया। तथाकथित धर्मगुरु अति निंदित हुए और भगवान की कीर्ति और हजार गुना हो गयी। लेकिन स्मरण रहे कि भगवान कुछ न बोले सो कुछ न बोले। सत्य को स्वयं ही बोलने दिया। अंत में उन्होंने अपने भिक्षुओं से इतना ही कहा कि असत्य से सदा सावधान रहना। उसके साथ न कभी जीत हुई है, न कभी हो सकती है। एस धम्मो सनंतनो।
और तब उन्होंने ये गाथाएं कहीं।
गाथाओं में प्रवेश के पहले इस कथा के संबंध में कुछ बातें--
पहली तो बात, यह कथा गौतम बुद्ध के साथ घटी, न घटी, इसका बहुत मूल्य नहीं है। क्योंकि यह ऐसी कथा है कि सदा से सभी बुद्धों के साथ घटती रही है। यह कथा अनूठी है। इस कथा में मनुष्य के मन का सारा रोग छिपा है।
जब भी भगवत्ता कहीं प्रगट होती है, तो अड़चन शुरू होती है। अड़चन का पहला तो कारण यही है कि धर्म के नाम पर जो परंपराएं जड़ हो जाती हैं, धर्म के नाम पर जो धारणाएं लोगों के चित्त में दृढ़ हो जाती हैं, वे ही धारणाएं धर्म की विरोधी हैं। जब भी नया धर्म पैदा होगा, तब धर्म की असली टक्कर अधर्म से नहीं होती--अधर्म की तो कोई सामर्थ्य ही नहीं कि धर्म से टक्कर ले--धर्म से टक्कर होती है झूठे धर्म की, मरे धर्म की। जीवित धर्म से टक्कर होती है मृत धर्म की। संघर्ष धर्म और अधर्म में नहीं है, संघर्ष सदा से धर्म और धर्म के नाम पर चलते हुए तथाकथित धर्म में है।

बुद्धों का विरोध नास्तिकों ने नहीं किया, बुद्धों का विरोध तथाकथित आस्तिकों ने किया है। बुद्धों का विरोध उन्होंने नहीं किया जो ईश्वर को नहीं मानते, बुद्धों का विरोध उन्होंने किया है जो झूठे ईश्वर को मानते हैं। बुद्धों का विरोध उन्होंने किया है जिनको ईश्वर का स्वयं तो कोई अनुभव नहीं है, ईश्वर की धारणा से जिनका आग्रह है। बुद्धों का विरोध उन्होंने किया है जो धर्म के नाम पर किसी तरह का शोषण करने में संलग्न हैं--पंडित, पुरोहित, धर्मगुरु। बुद्धों का विरोध धर्म के नाम पर चल रहे पाखंड से आता है।
यह बात बहुत सोच लेने जैसी है।
धर्म का विरोध धर्म से ही होता है। जैसे असली सिक्के का विरोध कंकड़-पत्थर थोड़े ही कर सकते हैं, सिर्फ नकली सिक्का करता है। असली सिक्के से टक्कर गैर-सिक्कों की नहीं है, नकली सिक्कों की है। नकली सिक्का डरता है असली सिक्के से। असली सिक्का बाजार में आ जाए तो नकली सिक्के का चलना मुश्किल हो जाए। असली सिक्का लोगों को पता चल जाए तो कौन पूछेगा नकली सिक्के को? असली सिक्का जाहिर न हो पाए, नहीं तो नकली की नकल जाहिर हो जाएगी। सत्य से डर नकली को है। सत्य से डर अभिनेता को है, वह जो अभिनय कर रहा है, वह जो पाखंड कर रहा है।
तो चाहे बुद्ध हों, चाहे कृष्ण हों, चाहे क्राइस्ट हों, जब भी कोई व्यक्ति भगवत्ता को उपलब्ध हुआ है, तो यह आश्चर्यजनक घटना घटती है कि सारे मंदिर, सारे मस्जिद, सारे गुरुद्वारे उसके विरोध में हो जाते हैं। ये मंदिर, ये मस्जिद, ये गुरुद्वारे आपस में कितने ही लड़ते हों, लेकिन जब कोई बुद्ध पैदा होता है तो उससे लड़ने के लिए सब साथ हो जाते हैं।
बहुत से संप्रदाय थे भारत में, जब बुद्ध का जन्म हुआ। और उन सभी संप्रदायों का आपस में बड़ा विरोध था। लेकिन बुद्ध के आविर्भाव के साथ ही जैसे उन सबका विरोध बुद्ध से हो गया, उनकी आपस की दुश्मनियां कम हो गयीं। अब उन सबको खतरा एक ही से था। किसी भी भांति बुद्ध का सत्य लोगों की समझ में न आए। क्योंकि बुद्ध के सत्य के समझ में आने का अर्थ था कि उनकी दुकान गयी, उनकी दुकान उठी। बुद्ध के सत्य का समझ में आ जाना तो उनके जीवन-मरण का सवाल हो गया। उनका सारा व्यवसाय टूट जाएगा।
तो यह कथा नयी नहीं है। यह गौतम बुद्ध के साथ तो घटी ही है, लेकिन समस्त बुद्धों के साथ घटी है। इसलिए इस कथा को मैं अनूठी कथा कहता हूं। यह ऐतिहासिक नहीं है, यह पौराणिक है। यह पहले भी घटती रही है, आज भी घटती है और कल भी घटेगी। ऐसा सौभाग्य का दिन अब तक नहीं आया जब हम सत्य का स्वागत करने को सहज तैयार हों। ऐसा सौभाग्य का दिन कभी आएगा, इसकी आशा भी दुराशा है। और जाल में कई जटिलताएं हैं। जैसे बुद्ध के साथ यह टक्कर हुई, धर्मगुरु लड़े। फिर बुद्ध ने जो कहा, उस बात को सुनकर नए धर्मगुरुओं का जाल खड़ा हो गया। अब अगर आज फिर कोई बुद्ध पैदा हो तो यह मत सोचना कि बुद्ध के अनुयायी उसका साथ देंगे, नहीं, वे भी लड़ने को उसके साथ उतने ही तत्पर होंगे। अतीत बुद्धों के अनुयायी नए बुद्धों से लड़ते रहते हैं। क्योंकि जैसे ही बुद्ध का जाना होता है, जैसे ही बुद्ध की विदा होती है इस जगत से कि पंडित-पुरोहितों का गिरोह बुद्ध के वचनों को भी घेर लेता है। वहां भी मंदिर बनेगा, वहां भी शास्त्र रचा जाएगा, वहां भी पद-प्रतिष्ठाएं खड़ी होंगी, वहां भी राजनीति चलेगी। जब दुबारा फिर कभी बुद्ध का आगमन हो, तो यह जो जाल खड़ा हो जाएगा, यह बुद्ध से लड़ेगा। स्वयं बुद्ध भी लौटकर आएं, तो भी उन्हें अपने ही भक्तों से लड़ना पड़ेगा। यह दुर्भाग्यपूर्ण है।
हम असत्य के इतने पुराने पूजक हैं कि हम एक असत्य को छोड़ते हैं कि हम दूसरे को पकड़ लेते हैं। इधर छूटा नहीं कि उधर हमने पकड़ा नहीं। असत्य को पकड़ने की हमारी आदत इतनी जड़ है कि अगर हम कभी एक असत्य को छोड़ते भी हैं तो तत्क्षण हम दूसरे को पकड़ लेते हैं। या अगर कभी भूल-चूक से सत्य भी हमारे हाथ में आ जाए, तो हमारे हाथ में आने के कारण असत्य हो जाता है। हमारे पात्र इतने जहरीले हो गए हैं कि अमृत भी अगर हमारे पात्र में भरता है तो जहरीला हो जाता है। हमारे हाथों में चमत्कार हो गया है! असली सिक्के आकर हमारे हाथों में झूठे हो जाते हैं।

वेद तो झूठा था ही बुद्ध के समय में लोगों के हाथों में--नहीं कि वेद झूठा है, लोगों ने झूठा कर लिया था--बुद्ध ने तो फिर सत्य दिया, लेकिन लोगों के हाथ में जाकर झूठा हो गया। बुद्ध का विरोध किया उपनिषद के ऋषियों को मानने वालों ने। शंकराचार्य का विरोध किया बुद्ध को मानने वालों ने। आज कोई खड़ा हो, शंकराचार्य उसके विरोध को तत्पर हैं।
इस बात की व्यवस्था को समझ लेना। अतीत विरोध करता है वर्तमान का, मृत विरोध करता है जीवंत का। सड़ा-गला विरोध करता है नए खिले फूल का। और जिनके मन अतीत से मुक्त नहीं हैं, वे कभी बुद्धों को समझ नहीं पाते। किसका मन अतीत से मुक्त है! बहुत मुश्किल से! उंगलियों पर गिने जा सकें ऐसे लोग हैं जिनकी इतनी हिम्मत है, जो अपने अतीत को टालकर एक तरफ रख दें, सूरज की जो नयी किरण निकली हो उसके स्वागत के लिए राजी हो जाएं। सूरज की इस नयी किरण पर अपनी आस्थाएं, अपनी धारणाएं न रोपें, अपने पक्षपात न रोपें। इस सूरज की किरण के पक्ष में अपने सारे पक्षपात गिरा दें, नग्न हो जाएं, निर्वस्त्र होकर इसे स्वीकार कर लें। वे ही थोड़े से लोग रूपांतरित हो पाते हैं।
तो यह कथा नयी नहीं।
दूसरे कारण से भी यह कथा बड़ी प्राचीन है। जब भी बुद्धों को बदनाम करना हो, तो किसी न किसी रूप में दो ही उपाय काम में लाए जाते हैं--या तो बदनाम करो कि उनका धन से कुछ संबंध है, या बदनाम करो कि काम से उनका कुछ संबंध है। कामिनी और कांचन, दो ही उपाय। बड़ी पुरानी बात हो गयी, बड़ी सड़ी-गली बात हो गयी। बस ये दो ही उपाय हैं। धन से विरोध करो, कहो कि यह आदमी धन के प्रति मोह से भरा है, या काम से विरोध करो।
क्यों? मनुष्य के मन के संबंध में इससे खबर मिलती है। मनुष्य का मन दो बातों से घिरा है--कामिनी और कांचन। मनुष्य दो ही चीजों में उत्सुक है, दो ही में उसका रस है। और ये दो ही बातें हैं जिनके प्रति मनुष्य ने सदा अपने को दबाया है और दमित किया है। फिर धन के संबंध में दमन बहुत ज्यादा नहीं है, लेकिन काम के संबंध में दमन बहुत ज्यादा है।
इसलिए काम के संबंध में अगर प्रचार कर दो कि बुद्ध का कोई, किसी तरह का
भी काम-संबंध है, तो बुद्ध की प्रतिष्ठा को नुकसान पहुंचाने से तुम चूक न पाओगे, तुम सफल हो जाओगे। क्योंकि लोगों का हृदय कुंठा से भरा है, काम के प्रति इतने दमन से भरा है कि वे मानते हैं यह कि ऐसा होना ही चाहिए। यह सच होगा ही, यह झूठ हो नहीं सकता, क्योंकि वे अपने को जानते हैं, अपने भीतर जलते हुए काम के प्रवाह को जानते हैं, अपने भीतर ज्वालामुखी छिपा है इसको जानते हैं।
वे सोचते हैं, जो मेरे भीतर छिपा है वह बुद्ध के भीतर कैसे न होगा? सब ऊपर की बातें हैं, भेद सब ऊपर के हैं, भीतर तो बुद्ध भी ऐसे ही आदमी हैं जैसा मैं आदमी हूं। और जब मेरे भीतर कामवासना ऐसी जलती है, लपटें लेती है, तो बुद्ध के भीतर भी लेती होगी।
तो जैसे ही खबर मिल जाए उन्हें कि बुद्ध का भी किसी स्त्री से कोई संबंध है, तो फिर इसमें वे विचार नहीं करते, फिर इसकी खोजबीन नहीं करते, इसको तो वे तत्क्षण मान लेते हैं। इसे तो वे स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि यह तो उनके भीतर की ही बात थी। यह उन्होंने अफवाह मानी, ऐसा नहीं, वे सिर्फ अफवाह की प्रतीक्षा करते थे, राह देखते थे कि आती ही होगी खबर--देर अबेर की बात है। कोई न कोई तो पता लगा ही लेगा। एक को धोखा दोगे, दूसरे को धोखा दोगे, कितने लोगों को धोखा दोगे? और कितने दिन तक धोखा दोगे? कहीं न कहीं से तो पता चल ही जाएगा। अब चल गया पता! बैठे ही थे, तत्पर बैठे थे, नजर गड़ाए बैठे थे, पलक-पांवड़े बिछाए बैठे थे कि अफवाह आती ही होगी।
तो जैसे ही अफवाह आती है, उनके हृदय बड़े प्रसन्न हो जाते हैं। वे अपनी पीठ ठोंकने लगते हैं। वे कहते हैं, मैं तो पहले से ही कहता था, मैं तो पहले से ही जानता था कि यही होगा, आखिर पाया गया। फिर वे खोजने नहीं जाते, फिर वे पता लगाने नहीं जाते।
तुम अपने मन को भी देखना। तुम अपने मन के संबंध में भी एक ख्याल रखना। अगर किसी के संबंध में कोई तुम्हें खबर दे कि फलां आदमी भगवत्ता को उपलब्ध हो गया, तो तुम मानते नहीं। तुम कहते हो, अजी, कहीं ऐसी बातें होती हैं!

कहानियों में लिखी हैं, पुराणों में लिखी हैं, होतीं थोड़ी। कौन भगवान को उपलब्ध होता, और कलियुग में तो कम से कम होता ही नहीं! होते थे, पहले होते रहे होंगे, हमें उसका कुछ पता नहीं, आज तो कोई नहीं हो सकता--इस कलियुग में, इस पंचम-काल में, जहां भ्रष्टता ऐसी फैली है, कौन होने वाला है!
ऐसा ही वे सदा कहते थे। बुद्ध के समय में भी वे यही कहते थे--कि अब कहां! होते थे सतयुग में, अब कहां! कृष्ण के समय में भी यही कहते थे--कि होते थे पहले, अब कहां!
यह पहले कब था? ऐसा कोई काल नहीं हुआ जब लोगों ने यही न कहा हो। कहते थे--पहले होते थे, अब कहां! यह पहले होते थे, यह टालने का उपाय है। अब नहीं हो सकते, यह अपनी रक्षा की व्यवस्था है।
कोई कहे कि फलां व्यक्ति संतत्व को उपलब्ध हो गया, तुम्हें हजार संदेह उठते हैं। और कोई आकर कहे कि फलां संत भ्रष्ट हो गया--अब यह तुम्हारा तर्क देखना मन में--संत तो तुमने कभी उसे न माना था, लेकिन भ्रष्ट तुम मान लेते हो। पहली तो बात, अगर संत नहीं था तो भ्रष्ट कैसे हुआ! तुम तभी उसको संत मानते हो जब भ्रष्ट होना पक्का हो जाता है। तब तुम कहते हो, देखो, वह संत भ्रष्ट हो गया।
इस मजे को देखना। भ्रष्ट होने के पहले तुमने उसे कभी संत माना ही नहीं था, लेकिन जैसे ही पक्का चल गया तुम्हें पता--और पक्का ही चलता है जब पता चलता है, तुम उसमें कोई कच्चापन लेते ही नहीं--कि भ्रष्ट हो गया, जिस दिन भ्रष्ट हो गया, तुम कहते हो कि देखो, वह संत भ्रष्ट हो गया; अरे, महात्मा कैसे पतित हो गए! इस आदमी को तुमने महात्मा इसके पहले कहा ही नहीं था, अब तुम कहते हो जब तुम्हें भ्रष्ट होने का पक्का हो जाता है।
तुम किसी को महात्मा तभी कहते हो, जब तुम उसे पहले गिरा लेते हो। उसके पहले महात्मा नहीं कहते। अब महात्मा कह सकते हो, अब कोई डर नहीं है, अब तो धूल में पड़ा है, तुमसे भी बुरी हालत में हो गया है, अब तुम्हें कोई इससे भय नहीं है। तुमसे भी पिछड़ गया। कम से कम तुम इतने बुरे तो नहीं हो। अपनी पत्नी के साथ रहते हो, अपने बच्चों के साथ रहते हो, तुम कम से कम अपनी सीमा और मर्यादा में रहते हो। यह आदमी तुमसे बुरा हो गया। लेकिन अब इसको अगर पूरा-पूरा बुरा सिद्ध करना है तो संत मानना जरूरी है, नहीं तो गिरेगा कैसे! अगर पहले से बुरा था, तो पतन तो हुआ नहीं। अब तुम कहते हो कि हां, यह आदमी पहले संत था, अब भ्रष्ट हो गया है।
और जब भी भ्रष्ट होने की बात तुम्हारे ख्याल में आती है, तब किसी न किसी तरह कामवासना से जुड़ी होती है। कामवासना से ही क्यों तुम्हारे भ्रष्ट होने का भाव जुड़ा है? जब भी तुम कहते हो, फलां आदमी अनैतिक है, तो तुम्हारे मन में एक ही सवाल उठता है कि अनैतिक, मतलब किसी न किसी तरह काम के जगत में भ्रष्ट। झूठ बोले, इसका ख्याल नहीं आता, कि आदमी अनैतिक है तो झूठ बोलता होगा। वचन का पालन न करता होगा, इसका ख्याल नहीं आता। बेईमान होगा, इसका ख्याल नहीं आता। तस्करी करता होगा, इसका ख्याल नहीं आता। डाका डालता होगा, इसका ख्याल नहीं आता। हत्या करता होगा, इसका भी ख्याल नहीं आता। जैसे ही किसी ने कहा, फलां आदमी अनैतिक है, इम्मारल है, तुम समझ गए कि किसी स्त्री के साथ गलत संबंध है।
तुम्हारी सारी नैतिकता कामवासना पर केंद्रित हो गयी है। और तुम्हारी सारी अनैतिकता का एक ही अर्थ होता है कि कोई व्यक्ति किसी तरह के असामाजिक, गैरकानूनी काम-संबंधों में संलग्न है।
इतनी क्षुद्र नैतिकता! इतनी सीमित नैतिकता! तुम्हारी नैतिकता अति कामुक है। और इसका कारण है। क्योंकि सदियों-सदियों से तुम्हारे मन में जो वासना दबायी गयी है, वही सबसे महत्वपूर्ण हो गयी है। जिसे दबाओगे वही महत्वपूर्ण हो जाता है। जिसे बार-बार दबाओगे, वह बार-बार उभरना चाहेगा। जिसे दबाओगे, वह बदला लेना चाहेगा। जिसे तुम दबाओगे, झुठलाओगे, वह नए-नए रूपों में उठेगा। जिसे तुम अपने भीतर दबाओगे, उसको तुम दूसरे के ऊपर प्रतिस्थापित करने लगोगे।
इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को ख्याल में लेना।

तुम दूसरे में वही देखने लगोगे जो तुमने अपने में दबाया है। तुमने अगर धन की वासना दबायी है, तो तुम्हें दूसरों में धन की वासना खूब प्रगाढ़ होकर दिखायी पड़ने लगेगी। कहीं तो देखोगे न उसे जो तुमने दबा लिया है। उसको कहीं तो रखोगे। अपने भीतर तो रख नहीं सकते, उसे किसी और के ऊपर रखोगे। तुमने अगर कामवासना दबायी है, तो तुम कामवासना किसी और के ऊपर रखोगे। मैंने सुना है, सूफी फकीर हुआ बायजीद। एक और फकीर उसके पास रात मेहमान हुआ। वह फकीर बड़ी निंदा करने लगा स्त्रियों की कि स्त्रियां ही नर्क का द्वार हैं--जैसे कि तुम्हारे साधु-संत सदा से कहते हैं, स्त्री नर्क का द्वार है। एक दफा बायजीद ने सुना, दूसरी दफा बायजीद ने सुना। तीसरी दफा बायजीद ने कहा, मेरे भाई, तुम इस द्वार में इतने उत्सुक क्यों हो? तुम्हें नर्क जाना है? तुम जब से आए हो, परमात्मा की बात ही नहीं की! तुम्हारी नजरें इस द्वार पर क्यों अटकी हैं? और यहां कोई स्त्री है भी नहीं, यहां मैं बैठा और तुम बैठे। यहां द्वार कहां है? तुम्हें यह द्वार दिखायी क्यों पड़ता है? तुम स्त्री से इतने भयभीत क्यों हो? जरूर तुमने स्त्री को खूब दबा लिया है भीतर, वह स्त्री बदला ले रही है।
जिन-जिन संतों ने तुम्हारे शास्त्रों में लिखा है कि स्त्री नर्क का द्वार है, उनसे सावधान रहना। ये व्यक्ति न तो स्त्री को समझ पाए, न स्वयं को समझ पाए। और ये शास्त्र चूंकि पुरुषों ने लिखे हैं इसलिए नर्क का द्वार है, अगर स्त्रियां लिखतीं तो? तो पुरुष नर्क का द्वार होना चाहिए। क्योंकि स्त्रियां अपने ही द्वार से तो नर्क नहीं जा सकेंगी! कौन द्वार अपने में से ही नर्क जा सकता है? द्वार तो सदा दूसरा चाहिए। स्त्रियां भी नर्क जाती हैं या नहीं?
एक महात्मा एक समय मेरे पास मेहमान थे। वह कहने लगे, स्त्रियां नर्क
का द्वार हैं। तो मैंने कहा कि तुम सोचते हो इसका मतलब हुआ कि सब स्त्रियां स्वर्ग पहुंची होंगी। नर्क तो जा ही नहीं सकतीं। पुरुष स्वर्ग का द्वार है और स्त्रियां नर्क का द्वार हैं, तो यह तो बड़ा महंगा मामला हो गया। सब पुरुष नर्क में पड़े होंगे, सब स्त्रियां स्वर्ग में होंगी। स्त्रियां किस द्वार से नर्क जाती हैं? मैंने उनसे कहा, यह मुझे कहो महात्मा कि स्त्रियां किस द्वार से नर्क जाती हैं? वह जरा बेचैन हुए, उन्होंने कहा, यह तो कहीं शास्त्र में लिखा नहीं कि स्त्रियां किस द्वार से नर्क... स्त्रियों का विचार ही कौन करे!
स्त्रियों को गालियां दी गयी हैं। गालियां स्त्रियों को नहीं दी गयी हैं, गालियां दी गयी हैं अपनी ही दबी वासना के प्रति क्रोध है, क्योंकि वह वासना धक्के मारती है। फिर इस वासना को दूसरे पर आरोपित करना जरूरी है। तो थोड़ा हल्कापन आता है। जिसको मनोवैज्ञानिक प्रोजेक्शन कहते हैं। जो तुमने अपने भीतर दबा लिया, उसे तुम दूसरे में देखने लगते हो। चोर को सभी लोग चोर दिखायी पड़ने लगते हैं। जेबकट अगर किसी महात्मा के भी पास जाए तो अपनी जेब सम्हालकर रखता है। क्या भरोसा! और महात्माओं का क्या भरोसा! कलियुग चल रहा है, कहां के महात्मा! जेब न काट लें!
तुम्हारे भीतर जो दबा है, वह तुम तैयार हो किसी पर्दे पर फैला दो, तुम्हें राहत मिल जाए। कामवासना सबसे ज्यादा दबायी गयी बात है। इस दुनिया में उसी दिन बुद्धों को इस तरह की बदनामी से बचने का अवसर आएगा जिस दिन लोगों की कामवासना दबी न रहेगी; स्वस्थ होगी, सहज होगी, स्वीकृत होगी। तुमने कभी देखा, कोई यह तो दोष नहीं लगाता बुद्ध पर कि रात सोते हुए पाए गए। क्यों नहीं लगाता? क्योंकि निद्रा को हम स्वीकार करते हैं। कोई बुद्ध पर यह दोष तो नहीं लगाता कि स्नान करते पाए गए। क्योंकि स्नान को हम स्वीकार करते हैं। लेकिन अगर तुम अस्वीकार कर दो स्नान को, तो दोष पकड़ में आ जाएगा।
जैन हैं, दिगंबर जैन हैं, वे मानते हैं कि मुनि को स्नान नहीं करना चाहिए। मुनि क्यों स्नान करे! यह तो संसारी जन स्नान करते हैं। यह तो शरीर को सुंदर-स्वच्छ बनाने की जिनकी आकांक्षा है, वे स्नान करते हैं। यह तो शरीर के पीछे जो दीवाने हैं, वे स्नान करते हैं। स्नान तो शरीर का प्रसाधन

है। जैन-मुनि क्यों स्नान करे! उसे तो शरीर से कोई मोह नहीं है। इसलिए दिगंबर जैन-मुनि स्नान नहीं करता।
लेकिन दिगंबर जैन-मुनियों के प्रति इस तरह की अफवाहें चलती हैं कि फलां दिगंबर मुनि एकांत में तौलिया पानी में भिगोकर शरीर साफ कर लेता है। यह पाप हो गया। तुमने कभी सोचा नहीं होगा कि तुम दिन में दो दफा स्नान करते हो, महापाप कर रहे हो। और कोई अगर तुम्हारी बदनामी करे तो उसे यह करनी पड़ेगी कि यह सज्जन स्नान नहीं करते। स्नान करते हैं, इसमें क्या बदनामी है! लेकिन जैन-मुनि, दिगंबर जैन-मुनि की बदनामी हो जाती है।
श्वेतांबर जैन-मुनि दातून नहीं करता--नहीं करना चाहिए। तो श्वेतांबर जैन-मुनि या साध्वियों के संबंध में बदनामी चलती है कि फलानी के वस्त्रों में टूथपेस्ट छुपा हुआ पाया गया।
अब यह भी कोई पाप है! मैं तुमसे यह कह रहा हूं कि पाप बनता इस बात से है, जिस चीज को तुम दबाना चाहोगे वही पाप बन जाएगी। अगर किसी साध्वी के मुंह से बास न आए तो श्रावकों को शक हो जाता है कि कुछ गड़बड़ है, दाल में काला है। मुंह से बास नहीं आ रही है! इसका मतलब दातून की है, या मुंह साफ किया है। यह तो नहीं करना चाहिए साधु को। मुंह साफ इत्यादि तो वे लोग करते हैं जिनका शरीर में रस है। यह शरीर तो सड़ा-गला है ही, इसको साफ-सुथरा क्या करना है! यह तो मर ही जाएगा, मिट्टी में मिट्टी गिर जाएगी, इसको क्या दातून करनी! जिस चीज के भी प्रति तुमने दमन किया, उसका परिणाम अंततः यह होगा कि उस चीज को तोड़ने की बात पाप मालूम होने लगेगी।
दुनिया में जब तक कामवासना सहज स्वीकार न होगी, तब तक बुद्धों के प्रति इस तरह की कहानियां पैदा होती रहेंगी। ये कहानियां बुद्धों के कारण पैदा नहीं होतीं, ये लोगों के चित्त में कामवासना का जो अस्वीकार है, जो विरोध है, उसके कारण पैदा होती हैं। ये कहानियां बुद्धों के संबंध में नहीं हैं, ये कहानियां तुम्हारे संबंध में हैं। तुम यह मान ही नहीं सकते कि कोई व्यक्ति कामवासना के पार हो सकता है। कैसे तुम मानो! तुम तो हो नहीं पाते। और तुम कभी हो न पाओगे जब तक लड़ोगे। जिस दिन तुम लड़ना बंद करोगे और कामवासना को सहज भाव से स्वीकार कर लोगे, तुम भी पार होने लगोगे। क्योंकि कामवासना बड़ी अनूठे ढंग की वासना है।
इसको ख्याल में लेना।
भोजन की वासना है, भोजन के बिना तुम जी नहीं सकते, भोजन के बिना तुम मरने लगोगे। तो चाहे हम कितना ही बुद्धों से आशा रखें कि वे भोजन न करें, फिर भी वे भोजन तो करेंगे। चलो दो बार न करेंगे तो एक बार करेंगे। बहुत सुस्वादु न करेंगे तो बेस्वाद करेंगे। खीर-मलाई नहीं उपयोग करेंगे, रूखा- सूखा खाएंगे, लेकिन कुछ तो खाएंगे ही। क्योंकि भोजन के बिना तो एक क्षण जी न सकेंगे। पानी तो पीएंगे। चलो रात न पीएंगे, दिन ही पीएंगे। मगर पानी पीना तो पड़ेगा। श्वास तो लेंगे। अनिवार्य है।
कामवासना इस तरह की अनिवार्य वासना नहीं है। कामवासना पर तुम्हारा जीवन निर्भर नहीं है। कामवासना के बिना तुम मर न जाओगे। कामवासना के बिना तुम्हारे बच्चे पैदा न होंगे, यह सच है। कामवासना के बिना तुम नहीं मर जाओगे, बच्चे पैदा नहीं होंगे। लेकिन अगर भोजन न किया, पानी न पीया, श्वास न ली, तो तुम मर जाओगे।
तो कामवासना जीवन के लिए, तुम्हारे जीवन के लिए अपरिहार्य नहीं है। छोड़ी जा सकती है। इससे मुक्त हुआ जा सकता है। लेकिन मुक्त केवल वे ही लोग हो सकते हैं, जिन्होंने इसे पहले स्वीकार किया हो, और इसे स्वीकार करके समझा हो, और इस पर ध्यान किया हो, और इसकी पूरी आंतरिक-व्यवस्था समझी हो-- उठती क्यों है?
तुमने ख्याल किया कब-कब तुम्हारा मन कामवासना से भरता है? तुम चकित होओगे यह बात जानकर कि जब तुम ज्यादा चिंतित होते हो तब ज्यादा कामवासना से भरता है। जब तुम निश्चिंत होते हो, प्रफुल्लित होते हो, तो नहीं भरता।
जब तुम शांत होते हो, आनंदित होते हो, तो नहीं भरता। तब तुम भूल जाते हो।
लेकिन जब तुम अशांत होते हो, बेचैन होते हो, तब कामवासना से भर जाता है।
अक्सर यह होता है।

पश्चिम के मनस्विद कहते हैं कि अक्सर पति-पत्नी इस राज को समझ लेते हैं। इसलिए संभोग करने के पहले लड़ाई-झगड़ा कर लेते हैं, क्रोधित हो जाते हैं, एक-दूसरे को गाली दे लेते हैं, झंझट खड़ी कर लेते हैं, फिर इसके बाद कामवासना में उतरना आसान हो जाता है।
यह बड़ी अजीब सी बात है। पति-पत्नी अक्सर लड़ते हैं। उनके लड़ने से ही बेचैनी और परेशानी पैदा होती है। परेशानी और बेचैनी में कामुकता पैदा होती है। शांत, चैन में भरा हुआ चित्त हो तो कामवासना पैदा नहीं होती। कामवासना तुम्हारे भीतर एक तरह का ज्वर है; और कामवासना से राहत मिलती है। राहत तभी मिलती है जब ज्वर खड़ा हो। तो कामवासना तुम्हारे शरीर को क्षीण करती है, शक्ति क्षीण हो जाती है तो ज्वर क्षीण हो जाता है। भीतर का उबाल कम हो जाता है, तुम शांति से सो जाते हो।
कामवासना जाती है कामवासना के दमन से नहीं, ध्यान के माध्यम से उमगी शांति के द्वारा। जब कोई व्यक्ति ठीक विराम में जीने लगता है, जिसके जीवन में कोई तनाव नहीं है, कोई चिंता नहीं है, कोई बेचैनी नहीं है, जिसका जीवन हल्के फूल जैसा है, जिसके पैर जमीन पर नहीं पड़ते, जो हवा में उड़ा-उड़ा है और जो प्रतिपल रस में डूबा है--रसो वै सः--जैसे कल पतंजलि ने अपने शिष्य चैत्र से कहा कि जो सदा रसलीन है, वह कामवासना में नहीं उतरेगा। क्योंकि कामवासना में वह उतरकर पाएगा कि सिर्फ शक्ति क्षीण होती है और उसका रस खोता है।
कामवासना से जितना आनंद मिलता है, जब तुम उससे ज्यादा आनंद की अवस्था में जीने लगोगे तो कामवासना समाप्त हो जाएगी। जब तक कामवासना में जो रस मिलता है, वह तुमसे ऊपर है और तुम उससे नीचे जी रहे हो, तब तक तो रस बना रहेगा।
बात को ख्याल में लेना, तुम्हारे लिए काम की है। इन कथाओं के सहारे मैं कुछ तुमसे कहना चाह रहा हूं। बुद्ध में मेरी उतनी उत्सुकता नहीं है, जितनी तुममें मेरी उत्सुकता है। क्योंकि तुमसे मैं बात कर रहा हूं। बुद्ध तो बहाना हैं।
जब तक तुम्हारा चित्त कामवासना से ज्यादा रस न पाने लगे, तब तक तुम कामवासना से न छूट सकोगे। और जो लोग कामवासना से लड़ते हैं, उनकी हालत और बदतर हो जाती है। उनका चित्त और भी बेचैन हो जाता है, वे और भी नीचे गिर जाते हैं। इसलिए उनके चित्त में सदा कामवासना के ही विचार तैरते रहते हैं। मनुष्य-जाति ने काम का इतना दमन किया है, इसीलिए काम से मुक्त नहीं हो पाती। और इसीलिए अफवाहें काम से ही संबंधित होती हैं।
फिर अब बुद्ध के प्रति धन की बात तो कही नहीं जा सकती थी, क्योंकि धन
तो उनके पास बहुत था, छोड़कर आ गए थे। वह तो उनकी बदनामी का कारण नहीं बनाया जा सकता था। एक ही बात बचती थी कि कामवासना को उनकी बदनामी का कारण बनाया जाए। बुद्ध से, बुद्ध के सत्य से सीधी टक्कर भी नहीं ली जा सकती थी। क्योंकि सत्य इतना प्रगाढ़ था, इतना स्पष्ट था, सूर्य की तरह ऊगा था। इन धर्मगुरुओं की हैसियत भी न थी कि इस सत्य के सामने आंखें उठाकर खड़े हो जाएं। इस सत्य के सामने तो आ भी नहीं सकते थे। पीछे छुपकर पीठ में छुरा मार सकते थे। अंधेरे में छुरा मार सकते थे। और इससे ज्यादा सुगम कोई उपाय नहीं है। कामवासना से दमित लोगों के जगत में इतनी ही बात काफी है लोगों में फैला देनी कि कोई सुंदरी स्त्री बुद्ध के पास रात जाती है और बुद्ध को रति- रमण कराती है। बस इतना काफी था।
यह सुंदरी परिव्राजिका इस गांव के बहुत लोगों को लुभाती रही होगी। एक
तो सुंदर थी, फिर भिक्षुणी थी, बुद्ध की शिष्या थी। गांव में भिक्षा मांगते हुए इस भिक्षुणी को देखकर न मालूम कितनों का मन डांवाडोल हुआ होगा।
इस बात को भी ख्याल में लेना। साधारण स्त्री से भी ज्यादा साध्वी लुभाती है; क्योंकि साधारण स्त्री को पाना बहुत कठिन नहीं, साध्वी को पाना बहुत कठिन है। और जिसको पाना कठिन है, उसमें उतना ही रस आता है। जितना दुर्गम हो जाए पाना, उतना ही रस आता है। जिसे पाना सरल है, उसमें रस खो जाता है। उसमें क्या रस! उसमें अहंकार को कोई चुनौती नहीं होती।

यह सुंदरी साध्वी घूमती होगी गांव में, भिक्षा मांगती होगी। इसकी सुंदर देह देखकर, इसका सुंदर रूप देखकर अनेकों का मन डांवाडोल हुआ होगा। फिर अचानक खबर गांव में आयी कि यह सुंदरी तो बुद्ध के साथ शारीरिक-संबंध रखती है, तो अनेकों ने मान लिया होगा। जिन-जिन ने इससे शारीरिक-संबंध बनाने की कामना की होगी, सपना देखा होगा, उन सबने मान लिया होगा कि बात बिल्कुल ठीक है, हम भी डोले थे। अपने मन में सोचा होगा--हमें भी प्रभावित किया था। और उन्होंने बदला भी लिया होगा। अब यह अच्छा मौका था, बुद्ध से बदला लिया जा सकता है।
बुद्ध से हम बदला क्यों लेना चाहते हैं?
बुद्ध के कारण हमें बहुत चोट लगती है। अंधों के बीच जैसा आंख वाला अंधों को चोट पहुंचाता है, क्योंकि उसके कारण वे अंधे मालूम होते हैं। बीमारों के बीच जैसे स्वस्थ बीमारों को चोट पहुंचाता है, क्योंकि उसके कारण तुलना में उनको बीमारी दिखायी पड़ती है। जहां घना अंधेरा है और सब लोग अंधेरे में टटोल रहे हैं, वहां एक व्यक्ति जिसका भीतर का दीया जल रहा है, हमारे भीतर बड़ा क्रोध जगाता है। यह हमारा अपमान है। दीया हममें नहीं जल रहा है, किसी और में जल रहा है, यह हमारे लिए ईर्ष्या का कारण बन जाता है। तो ऐसा ही नहीं है कि हमने जीसस को अकारण सूली दे दी। हमें देनी पड़ी। बर्दाश्त के बाहर हो गए। एक सीमा थी सहने की। फिर यह आदमी घूम-घूमकर हमें पीड़ा देने लगा। जब भी हम इसे देखते, हमें अड़चन होने लगी। यह हमें नकारने लगा। इसके सामने मौजूद, खड़े होने पर हम दीन-हीन मालूम होने लगे। हमें लगने लगा कि हम तुच्छ, ना-कुछ। जीवन ऐसा होना चाहिए। और हमारा जीवन कीड़े-मकोड़े सा सरकता हुआ! जीवन ऐसा होना चाहिए। यह आदमी हमें बहुत तड़फाने लगा। यह आदमी हमें बहुत ज्यादा चोटें करने लगा। यह हमें शांति से सोने न दे। इसे सूली देना जरूरी हो गयी।
सुकरात को हमने जहर दिया, क्योंकि सुकरात घूम-घूमकर लोगों को जगाने लगा। सोए लोग जागना नहीं चाहते। सोए लोग सिर्फ सो ही थोड़े रहे हैं, बड़े-बड़े मधुर सपने देख रहे हैं। जब इन्हें तुम जगाओ तो इनके सपने टूटते हैं। और इन्होंने सपनों के अतिरिक्त और कुछ जाना नहीं है। सपने ही इनके जीवन का सत्य हैं।
तो तुम इन्हें जब जगाते हो तो इनको लगता है, तुम हमारे दुश्मन हो। तुम हमारे सपने तोड़े दे रहे हो। हम इतने मजे में लीन थे--महल बना रहे थे, सुंदर रानियां थीं, पुत्र थे, बड़ा राज्य था--तुम हमें घसीटकर कहां ला रहे हो इस जागने में। इस जागने में कुछ भी नहीं है, हम भिखमंगे हैं, यह झोपड़ी है, यह कुरूप सी पत्नी है, यह उपद्रवी लड़का है। हम अपनी नींद में मजे से पड़े थे, हम सपना मीठा देख रहे थे, तुम हमें जगाओ मत।
हम बुद्धों से नाराज रहे हैं। हमने उस नाराजगी का उनसे अनेक तरह से बदला लिया है। हमारा प्रतिशोध बहुत गहरा है। और उपाय क्या हैं हमारे प्रतिशोध के? हमारे उपाय यही हैं कि जैसे हम हैं वैसा ही हम उन्हें भी सिद्ध कर दें। इतना सिद्ध हो जाए कि जैसे हम हैं वैसे ही वे हैं, बात खतम हो गयी। फिर कोई अड़चन न रही।
भगवान का प्रभाव प्रतिदिन बढ़ता जाता था।
इस प्रभाव को बढ़ाने के लिए कुछ करना नहीं होता। इस प्रभाव को बढ़ाने की कोई आकांक्षा भी नहीं होती जिसके भीतर भगवत्ता का जन्म हुआ हो। यह प्रभाव अपने से बढ़ता है। जैसे सूरज ऊगता है और रोशनी फैलती है। और फूल खिलता है और सुगंध बिखरती है। ऐसा यह प्रभाव है। इस प्रभाव को करने की कोई चेष्टा नहीं है। कोई प्रभावित हो, ऐसा बुद्धपुरुष चेष्टा नहीं करते। उनकी सहज उपस्थिति, उनका जागरण, उनका चैतन्य अनेकों को खींचने लगता है। वे चुंबक हो जाते हैं। लोग ऐसे खिंचे चले आते हैं जैसे लोहे के टुकड़े खिंचे चले आते हैं। उनकी मौजूदगी सम्मोहक हो जाती है। जिन्होंने उनका स्वाद लिया, फिर उन्हें भूल नहीं पाते, फिर और स्वाद लेने का मन होने लगता है।
भगवान का प्रभाव प्रतिदिन बढ़ता जाता था। जो धर्मानुरागी थे, वे खूब आनंदित थे।

जो धर्मानुरागी थे वे इसलिए आनंदित थे कि भगवान की मौजूदगी में उन्हें प्रमाण मिल गया कि धर्म सत्य है। कि वेद जो कहते हैं, कि उपनिषद जो कहते हैं, वे सिर्फ कथन मात्र नहीं हैं, वे वक्तव्य मात्र नहीं हैं, यहां जीता धर्म प्रगट हो गया था। जो वस्तुतः धर्मानुरागी थे वे तो बड़े आनंदित थे, वे तो नाच रहे थे, वे तो मगन थे। वे कहते थे, हम धन्यभागी हैं! सुना था शास्त्रों में, अब आंख से देखा। सुनते आए थे, अब अनुभव किया।
बड़ा फर्क है। सूरज के संबंध में सुना हो और फिर सूरज को ऊगते देखना, बड़ा फर्क है। हिमालय की तस्वीरें देखी हों और फिर जाकर हिमालय देखना, बड़ा फर्क है। तस्वीर में न तो वह ताजगी है, न वह शीतलता है; तस्वीर में न हवाएं हैं, न रोशनी है; तस्वीर में कहां वे ऊंचाइयां जो हिमालय की हैं! कहां वे गहराइयां जो हिमालय की हैं! तस्वीर में कहां वे पक्षी जो हिमालय पर गीत गाते, कहां वे फूल जो खिलते और सुगंध से भर देते हैं घाटियों को! तस्वीर तो तस्वीर है! जो तस्वीरों में देखा था, वह सामने आंख के आ गया।
वेद तो तस्वीर है, उपनिषद तो तस्वीर है, हजारों साल बाद कोई व्यक्ति बुद्ध होता। तो जो धर्मानुरागी थे, उनको ऐसा नहीं लगा कि बुद्ध वेद के विपरीत हैं। उन्हें तो ऐसा लगा, बुद्ध वेद के साक्षी हैं। अब तक वेद बिना साक्षी के था, बुद्ध में साक्षी मिल गया। अब तक जो बात केवल तर्क थी, अब अनुभव बनने का उपाय हो गया। यह सामने खड़ा है व्यक्ति! और जो इसके भीतर हो सकता है, वह हमारे भीतर भी हो सकता है।
उनके हृदय-कुसुम भी भगवान की किरणों में खुले जाते थे। उनके मन-पाखी भगवान के साथ अनंत की उड़ान के लिए तत्पर हो रहे थे।
जो धर्मानुरागी है, वह तो बुद्धपुरुषों की मौजूदगी से आह्लादित हो जाता है। इसकी ही तो प्रतीक्षा थी जन्मों-जन्मों से कि कोई हो जो प्रमाण हो। बौद्धिक प्रमाण नहीं चाहिए धर्मानुरागी को, जीवंत, अस्तित्वगत प्रमाण चाहिए। कोई हो, जिसकी हवा में भगवत्ता हो। जिसके कारण हमें अनुभव में आए कि भगवान है। जिसकी मौजूदगी में हमें प्रमाण मिलने लगे कि भगवान है। जिसकी मौजूदगी हमें बताए कि संसार पदार्थ पर समाप्त नहीं हो जाता है, यहां छिपे हुए रहस्य भी हैं। यहां बड़े गहरे रहस्य दबे पड़े हैं। खोज के लिए उपाय है। जिसकी मौजूदगी हमारे लिए अभियान की पुकार बने। जो हमें चुनौती दे कि आओ, मेरे साथ चलो! और जैसे पंख मेरे हैं ऐसे तुम्हारे भी हैं। तुम कभी उड़े नहीं, इसलिए पंखों की तुम्हें याद नहीं। तुम पंख लेकर ही पैदा हुए हो। फड़फड़ाओ, तुम भी उड़ सकोगे। जो मुझे मिला है, वह तुम्हारी भी संपदा है। लेकिन ऐसे लोग तो दुर्भाग्य से थोड़े ही थे।
उस दिन भी थोड़े थे, उसके पहले भी थोड़े थे, अब भी थोड़े हैं। दुर्भाग्य
है यह कि इतने धार्मिक लोग हैं, मगर धर्मानुरागी नहीं। मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, गिरजा जाते हुए कितने लोग हैं, लेकिन धर्म के प्रेमी कहां! यह तो सब थोथा व्यवहार है, यह तो लोकोपचार है। यह तो समाज की व्यवस्था है कि लोग चर्च चले जाते रविवार को, कि गुरुद्वारा चले जाते, कि जपुजी पढ़ लेते, कि गीता पढ़ लेते, कि नमोकार मंत्र का जाप कर लेते, कि माला फेर लेते। लेकिन हृदय से न माला फेरी, न जपुजी किया; हृदय से न कभी मंदिर गए, न हृदय से कभी परमात्मा को पुकारा। हृदय से पुकारा होता तो मिल ही गया होता। नहीं मिला है, यह काफी प्रमाण है कि ऐसे ही खिलवाड़ करते रहे। ऐसे ही, उपचार की तरह, करना चाहिए, कर्तव्य की भांति करते रहे। यह तुम्हारे जीवन की शैली नहीं है। तुम इस पर दांव पर कुछ भी लगाने को राजी नहीं हो। तुम चाहते हो मुफ्त भगवान ऐसे मिलता हो, माला इत्यादि फेरने से मिल जाए तो ठीक, न मिले तो ठीक। कभी-कभी तो शायद डरते भी हो कि कहीं ज्यादा माला न फेर दूं, कहीं मिल
ही न जाए! क्योंकि मिल जाए तो अड़चन खड़ी होगी। मिल जाए भगवान तो फिर क्या करोगे? मिल जाए भगवान तो फिर ऐसे ही तो न हो सकोगे जैसे हो। फिर उसके रंग में रंगना होगा। फिर अ ब स से एक दूसरी ही भाषा सीखनी होगी। जीवन का एक और ही ढांचा रचना होगा, एक और ही मंदिर बनाना होगा। उतनी अड़चन कोई लेना नहीं चाहता। माला भी हम जप लेते हैं, पाठ भी हम पढ़ लेते हैं, पूजा भी हम कर लेते हैं और भरोसा रखते हैं कि इससे कहीं कुछ होने वाला थोड़े ही है।

बहुत थोड़े से लोग हैं जो सच में ही सत्य की तलाश पर हैं। और जो तलाश पर हैं, उन्हें मिलता है। जो तलाशा जाता है, मिलता ही है। इस जगत में तुम जो चाहोगे, मिलेगा। अगर न मिले तो एक ही बात समझना कि तुमने चाहा ही न था। चाहत गहरी हो, तो परिणाम होते ही हैं। प्यास गहरी हो, तो प्यास ही प्राप्ति बन जाती है।
बहुत तो ऐसे थे जिनके प्राणों में भगवान की उपस्थिति भाले सी चुभ रही थी।
उनका व्यवसाय खतरे में था, उनकी व्यवस्था खतरे में थी, उनका पांडित्य, उनका पौरोहित्य खतरे में था। भगवान की मौजूदगी में वे अज्ञानी मालूम होने लगे थे। भगवान मौजूद नहीं थे तो वे ज्ञानी थे, लोग उनके पास आते थे, लोग उनसे पूछते थे, सलाह-मशविरा लेते थे। भगवान की मौजूदगी में पंडित फीका होने लगा।
जब भी कोई व्यक्ति बुद्धत्व को उपलब्ध होता है तो सबसे ज्यादा चोट पंडित को पहुंचती है। क्योंकि बुद्धत्व है असली ज्ञान और पांडित्य है झूठा ज्ञान--नकली, उधार, बासा, क.ूडा-करकट, उच्छिष्ट, इकट्ठा किया हुआ। तो जैसे ही कोई बुद्धत्व को उपलब्ध व्यक्ति मौजूद हो जाता है, वैसे ही पंडित सबसे ज्यादा अड़चन में पड़ता है; सबसे बड़ी कठिनाई उसकी खड़ी हो जाती है। जीसस को जिन लोगों ने सूली दी, वे यहूदियों के पंडित-पुरोहित थे। बुद्ध के खिलाफ जिन लोगों ने हजारों तरह के शड्यंत्र रचे, वे सब पंडित और पुरोहित थे। धर्म का दुश्मन इस पृथ्वी पर पंडित और पुरोहित से ज्यादा और कोई भी नहीं है। मंदिरों में भगवान की पूजा नहीं हो रही है, क्योंकि पंडित-पुरोहित के हाथ में पूजा है और पंडित-पुरोहित सदा से शैतान के हाथ में है। वह कभी भगवान का साथी रहा नहीं। वह सदा से भगवान का दुश्मन है। वह भगवान के नाम का उपयोग करता है, शोषण करता है, वह अच्छा धंधा है।
इन लोगों को लगता था कि गौतम धर्म के नाश पर उतारू है। और एक बात, इसमें थोड़ी सचाई भी थी।
जिसको वे धर्म कहते थे, निश्चित ही गौतम उस धर्म के विनाश के लिए उतारू थे। क्योंकि वह धर्म था ही नहीं। धर्म को तो रोज-रोज नया-नया पैदा होना पड़ता है। पुराना होते ही सड़ जाता है, मर जाता है। धर्म को तो ऐसे ही रोज-रोज पैदा होना पड़ता है जैसे तुम श्वास लेते हो। जो श्वास गयी, गयी। नयी चाहिए। यही अर्थ है एस धम्मो सनंतनो का। प्रतिपल धर्म को जीना पड़ता है। प्रतिपल उतरना पड़ता है। प्रतिपल ताजा-ताजा ही। ताजा-ताजा ही भोग लो तो भोगा। बासा-बासा इकट्ठा किया तो तुम्हारे हाथ राख लगेगी, अंगारा तो बुझ चुका। अंगारा तो वर्तमान में होता है। बुद्ध थे अंगारे की तरह, राख की तरह जो पंडित थे उन्हें बड़ी अड़चन हुई होगी।
बुद्ध परंपरावादी नहीं थे, शास्त्रों के पूजक नहीं थे, रूढ़ियों- अंधविश्वासों के पूजक नहीं थे।
हों भी क्यों? जिसको जीवन का सत्य स्वयं दिखायी पड़ गया हो, वह क्यों चले दूसरों की बंधी-बंधायी लकीरों पर! जिसके पास अपनी आंख हो, वह क्यों पूछे दूसरों से रास्ता! और जिसके पास आंख हो, वह क्यों टटोले लकड़ी लेकर हाथ में! लकीरों पर तो वे चलते हैं जिनके पास अपनी आंख नहीं। पूछते तो वे हैं जो स्वयं जानते नहीं। जिसका अपने भीतर का दीया जल गया हो--अब उससे दूसरे पूछें!
तो बुद्ध न वेद से पूछ रहे थे, न उपनिषद से पूछ रहे थे, बुद्ध किसी से पूछ ही नहीं रहे थे। बुद्ध के पास तो अब देने को तैयार था। यद्यपि जो लोग जरा भी समझ रखते थे उनको तत्क्षण दिखायी पड़ेगा कि बुद्ध वही दे रहे हैं जो वेदों ने दिया है। अन्यथा हो भी कैसे सकता है!
शायद भाषा बदल गयी हो--भाषा बदल जाती है--प्रतीक बदल गए हों। वेद के ऋषि संस्कृत में बोले थे, बुद्ध पाली में बोल रहे थे। वेद के ऋषियों ने किसी और तरह के दार्शनिक ढांचे का उपयोग किया था, बुद्ध किसी और तरह के ढांचे का उपयोग कर रहे थे। अंगुलियां अलग-अलग थीं, इशारा एक ही तरफ था। लेकिन पंडित-पुरोहित को लगा कि यह तो धर्म का विनाश हो जाएगा।
गौतम का धर्म स्थिति-स्थापक नहीं है। गौतम क्रांति के पक्षपाती हैं।

गौतम परिवर्तन के पक्षपाती हैं। वह कहते हैं, तुम्हारे भीतर ज्योति जलनी चाहिए, महापरिवर्तन होना चाहिए, तुम ऐसा कुछ भी न करो जिससे तुम्हारी ज्योति बुझी रहे। तुम ऐसा सब करो जिससे तुम्हारी ज्योति जल जाए। सब प्रयत्न करो, ताकि तुम जीवंत हो जाओ। स्वयं की आंख चाहिए, स्वयं के कान चाहिए, स्वयं का धड़कता हुआ हृदय चाहिए, अपने पैर चाहिए और अपने ही बल पर पहुंचने की हिम्मत चाहिए।
गौतम ने आधारशिला रखी थी मनुष्य के ऊपर।
और धर्म ईश्वर पर आधारशिला रखते हैं। कोई देवी-देवताओं पर आधारशिला रखता है। गौतम ने आधारशिला रखी थी मनुष्य पर। गौतम ने आधारशिला रखी थी तुम पर।
चंडीदास का प्रसिद्ध वचन है--साबार ऊपर मानुस सत्य ताहार ऊपर नाहीं। मनुष्य का सत्य सबसे ऊपर है, उसके ऊपर और कोई सत्य नहीं।
यह वचन निश्चित ही बुद्ध से प्रभावित है। बुद्ध ने यह पहली दफा कहाः साबार ऊपर मानुस सत्य। सबसे ऊपर मनुष्य का सत्य है। मनुष्य को परम प्रतिष्ठा दी। और कहाः मनुष्य को कहीं झुकने की जरूरत नहीं है, जगने की जरूरत है। मनुष्य को किसी को मानने की जरूरत नहीं है, बस अपने को ही जानने की जरूरत है।
जो मनुष्य अपने को जान लेता है, वही भगवत्ता को उपलब्ध हो जाता है। बुद्ध ने भगवान की बड़ी नयी व्याख्या की। बुद्ध ने नहीं कहा कि भगवान वह है जो दुनिया बनाता है। दुनिया तो बुद्ध ने कहा किसी ने न बनायी, न कोई बनाने वाला है। बुद्ध ने भगवान को नया अर्थ दिया। बुद्ध ने कहा, भगवान का अर्थ है भाग्यशाली। वह भाग्यशाली जिसने स्वयं को जान लिया, वही भगवान है। मनुष्य ही जागकर भगवान हो जाता है। आत्मा ही जाग्रत होकर, दीप्तमय होकर परमात्मा हो जाती है। तुम्हारे भीतर बीज छिपा है परमात्मा का--बीज है आत्मा--अभी तुम सोए हो इसलिए बीज टूटता नहीं, जाग जाओ तो बीज टूट जाए। जागने का सूत्र दिया ध्यान।
इसलिए बुद्ध ने प्रार्थना की बात ही नहीं की। बुद्ध ने पूजा की बात ही नहीं की। बुद्ध ने तो सिर्फ एक सीधा सा सूत्र दिया ध्यान। ध्यान का अर्थ है--नींद को तोड़ो, सपने को तोड़ो और जागो। जैसे-जैसे जागने लगोगे, वैसे-वैसे परमात्म-भाव तुम्हारा पैदा होने लगेगा। जिस दिन तुम पूरे जाग गए, उस दिन तुम परमात्मा हो गए। मनुष्य को ऐसी महिमा किसी ने भी न दी थी।
साबार ऊपर मानुस सत्य ताहार ऊपर नाहीं।
इस सबसे स्वभावतः दकियानूस, रूढ़िवादी, धर्म के नाम पर भांति-भांति का शोषण करने वाले लोग बहुत पीड़ित हो गए थे। उन्हें कुछ सूझता भी न था, कैसे इस गौतम से विवाद करें। विवाद वे करने में समर्थ भी नहीं थे। गौतम कोई पंडित होते तो विवाद आसान हो जाता। गौतम के सामने आकर उन पंडितों के विवाद और तर्क बड़े छोटे और ओछे मालूम होने लगते थे। उनमें कोई बल न था। वे तर्क नपुंसक थे। तो पीछे से ही छुरा मारा जा सकता था। उपाय उन्होंने यह खोजा-- एक सुंदरी परिव्राजिका को विशाल धनराशि का लोभ देकर राजी कर लिया कि बुद्ध की अकीर्ति फैलाए।
अब यह सुंदरी परिव्राजिका बुद्ध की शिष्या थी। शिष्य होकर भी कोई इतना दूर हो सकता है, इसे याद रखना। शिष्य होकर भी कोई अपने गुरु को बेच सकता है, इसे याद रखना। क्राइस्ट को भी जिसने बेचा--जुदास--वह क्राइस्ट का शिष्य था। बारह शिष्यों में एक। और बेचा बड़े सस्ते में--तीस रुपये में। तीस चांदी के टुकड़ों में।
इस सुंदरी परिव्राजिका को लोभ दिया होगा धन का, पद का, प्रतिष्ठा का, लोभ में आ गयी होगी। जो लोभ में आ जाए, वह संसारी है; चाहे वह संन्यासी ही क्यों न हो गया हो। परिव्राजिका थी, संन्यास ले लिया था, लेकिन संन्यास भी लोभ के कारण ही लिया होगा। फिर लोभ के कारण ही डोल गयी।
वह शड्यंत्र में संलग्न हो गयी। नित्य संध्या जेतवन जाती, परिव्राजिकाओं के साथ समूह में रहकर प्रातः नगर में प्रवेश करती। और जब श्रावस्ती-वासी पूछते--और ये श्रावस्ती-वासी कोई और न होंगे, वही पंडित-पुरोहित! नहीं तो कौन किससे पूछता है! वे ही पूछते होंगे रास्तों पर खड़े

हो-होकर--कहां से आ रही हो? तब वह कहती, रातभर श्रमण गौतम को रति में रमण कराकर जेतवन से आ रही हूं। ऐसे भगवान की बदनामी फैलने लगी। लेकिन भगवान चुप रहे सो चुप रहे। सत्य को इतना समादर शायद ही किसी ने दिया हो।
फर्क समझना। महात्मा गांधी ने एक शब्द इस देश में प्रचलित करवा दियाः सत्याग्रह। कि सत्य का आग्रह करना चाहिए। यह कथा इसके बिल्कुल विपरीत है। बुद्ध कहते हैं, सत्य का आग्रह भूलकर नहीं करना चाहिए। सत्य तो अनाग्रह से पैदा होता है। सत्य कहने से थोड़े ही होता है। असल में आग्रह सभी असत्य के होते हैं। जब हम किसी चीज को बहुत चेष्टा से सत्य सिद्ध करने की दिशा में संलग्न हो जाते हैं, तो हम इतना ही कहते हैं कि हमें डर है कि अगर हमने इसको बहुत प्रबल प्रमाण न जुटाए, तो यह कहीं बात हार न जाए। सत्य में तो कोई भय का कारण ही नहीं है। इसलिए सत्य का कोई आग्रह नहीं होता। सत्याग्रह से ज्यादा गलत शब्द कोई हो नहीं सकता! सत्य का कोई आग्रह होता ही नहीं। सत्य तो मौन है। सत्य तो इतना बलशाली है कि उसके लिए किसी सुरक्षा का कोई आयोजन करने की जरूरत नहीं है।
तो बुद्ध चुप रहे सो चुप रहे। एक शब्द न कहते। यह भी न कहते कि झूठ बोलती है यह सुंदरी। यह भी न कहते कि यह भी खूब शड्यंत्र चल रहा है, कुछ भी न कहते। न सुंदरी के खिलाफ एक शब्द बोले। न सुंदरी को बुलाया, न सुंदरी को समझाया, न चेताया। सुंदरी को सुंदरी पर छोड़ दिया।
इस अनूठी प्रक्रिया को समझना। महात्मा गांधी होते तो उपवास करते। वह कहते कि मैं मर जाऊंगा, आमरण अनशन करूंगा, अब सत्य की घोषणा करो। सुंदरी सत्य कहे, नहीं तो मैं आमरण अनशन करता हूं। बुद्ध ने एक शब्द भी नहीं कहा। आमरण अनशन की तो बात दूसरी, सुंदरी को बुलाया भी नहीं। सुंदरी को समझाया भी नहीं। सुंदरी से पूछा भी नहीं।
इस अनूठी प्रक्रिया को समझना। यह सत्य का अनाग्रह है। सत्य पर इतना भरोसा है, सत्य पर ऐसी अटूट श्रद्धा है कि सत्य अगर है, तो जीतेगा ही। आज नहीं कल, देर-अबेर जीतेगा ही। कुछ कहने की जरूरत नहीं समझी।
और यह भी भरोसा किया कि आखिर सुंदरी के भीतर भी आत्मा है, कचोटेगी। कितनी देर नहीं कचोटेगी? एक दिन बीता होगा, दो दिन बीते होंगे, तीन दिन बीते होंगे, गांव में अफवाह खूब घनी होने लगी होगी, कि धुआं खूब फैलने लगा होगा। सुंदरी को लगता तो होगा कि बुद्ध बुलाएंगे, पूछेंगे, डांटेंगे- डपटेंगे। ऐसा भी नहीं था कि डांटते-डपटते नहीं थे! हमने कई कहानियां देखी हैं कि बुद्ध अपने शिष्य को बुलाते हैं, डांटते-डपटते हैं। शिष्य के हित में हो तो डांटते-डपटते हैं। लेकिन यह तो बात अपने हित की थी, इसलिए कुछ भी नहीं कहा। शिष्य गलत जा रहा हो, शिष्य अपने को नुकसान पहुंचा रहा हो, तो बुद्ध सब उपाय करते। लेकिन इस मामले में तो बुद्ध ने कोई भी उपाय न किया। इस मामले में बिल्कुल चुप रहे।
इस चुप्पी का भी परिणाम होता है। चुप्पी भी बड़ी अपूर्व ऊर्जा प्रगट करती है। कभी-कभी मौन रह जाने से जैसा उत्तर आता है, वैसा कुछ कहने से नहीं आता। कभी न लड़ने से जीत होती है और कभी लड़ने से हार हो जाती है। बुद्ध चुप रहे।
धीरे-धीरे यह बात सारे नगर की चर्चा का विषय बन गयी। फिर तो लोगों ने कोई और बात ही न की होगी महीनों तक। एक ही चर्चा रही होगी। फिर बात बढ़ने लगी। एक मुंह से दूसरे मुंह जाने लगी और बड़ी होने लगी।
लोग ऐसे ही चर्चा थोड़े ही करते हैं, चर्चा में थोड़ा जोड़ते हैं। लोग बड़े सर्जनात्मक हैं! लोग जोड़ते भी हैं, बढ़ाते भी हैं, सुधारते भी हैं, चमकाते भी हैं, आभूषण भी लगाते हैं। बात जब फैलती है तो तुम समझ सकते हो कि उसमें हजारों कलाकार भाग लेते हैं! लेकिन भगवान चुप थे सो चुप ही रहे। परिणाम होने शुरू हो गए। भगवान के पास आने वालों की संख्या रोज-रोज कम होने लगी। हजारों आते थे, फिर सैकड़ों रह गए, फिर अंगुलियों पर गिने जा सकें इतने ही लोग बचे। और तब भगवान हंसते और कहते--देखो, सुंदरी परिव्राजिका का अपूर्व कार्य; कचरा-कचरा जल गया, सोना-सोना बचा।
यह बात सुंदरी को भी खबर लगती होगी कि भगवान हंसते हैं और ऐसा कहते हैं कि देखो, सुंदरी का अपूर्व कार्य। बड़ी कृपा की सुंदरी ने। उसके मन में

और चोट होने लगी होगी, और काटने लगा होगा यह भाव, रातभर सो न सकती होगी, उठती-बैठती होगी और पीड़ा होती होगी, यह शूल की तरह चुभने लगा होगा कि वह क्या कर रही है?
भगवान की शांति को अचल देख धर्मगुरुओं ने गुंडों को रुपये देकर सुंदरी को मरवा डाला और फूलों के एक ढेर में जेतवन में ही छिपा दी उसकी लाश।
भगवान की शांति से सुंदरी धीरे-धीरे अपने कुकृत्य पर पछताने लगी थी। धर्मगुरुओं को पता चलने लगा होगा कि सुंदरी अब रस नहीं लेती है। सुंदरी अब गांव भी नहीं आती है। अगर उससे पूछते भी हैं तो कहती भी है, तो भी पुराने ढंग से नहीं कहती है, बेमन से कहती है। सुंदरी उदास दिखती है, सुंदरी को बेचैनी पैदा हो गयी है, अंतःकरण में एक संघर्ष पैदा हो गया है; यह संकट उन्हें दिखायी पड़ गया होगा। सुंदरी को हटा देना जरूरी है। सुंदरी का जीते रहना अब खतरे से खाली नहीं है।
सुंदरी को उन्होंने मरवा डाला। जेतवन में ही छिपा दी लाश। गांवभर में खबर फैला दी कि गौतम ने अपने पाप को छिपाने के लिए मालूम होता है सुंदरी को मरवा डाला।
धर्म के नाम पर ऐसा सब कुछ होता रहा है। आज भी होता है। और जब धर्म के नाम पर होता है तो लोग बड़ी आसानी से धोखा भी खा जाते हैं। क्योंकि धर्मगुरुओं से हम ऐसी आशा नहीं करते। धर्मगुरुओं से हम ऐसी आशा नहीं करते, इसलिए जल्दी से भरोसा भी कर लेते हैं। मगर यह पुरानी कथा है। यह सदा से होती रही बात है। जिनका धंधा दांव पर लग जाए, वे अपने को बचाने की सब तरह चेष्टा करते हैं। ठीक, गलत, फिर कोई चिंता नहीं रह जाती।
फिर वे श्रावस्ती के राजा के पास गए। और उन्होंने कहा, दाल में कुछ काला है, महाराज! गौतम ने मालूम होता है कुछ या तो मार डाला, या कहीं छिपा दिया, सुंदरी दिखायी नहीं पड़ती है कुछ दिनों से। और आपको तो पता होगा ही कि जेतवन में ही रातें गुजारा करती थी गौतम के साथ।
राजा ने सिपाही भेजे, लाश मिल गयी। उन धर्मगुरुओं ने कहा--महाराज, देखिए यह महापाप! एक पाप को छिपाने के लिए यह गौतम इतना बड़ा महापाप करने को तैयार हो गया।
अब तो हद्द हो गयी। अब तो कहानी में पूरी कहानी हो गयी। काम का कृत्य
हो गया, हत्या भी हो गयी। इतने से ही तो सारी जासूसी कहानियां बनती हैं। अब तो पूरा सस्पेन्स! अब तो उन्होंने पूरी सनसनी पैदा कर दी! अब और कुछ बचा नहीं। और वहां एक आदमी है गौतम बुद्ध--निहत्था, चुप बैठा! इस पर भी गौतम कुछ भी न बोले। इस पर भी चुप रहे।
भिक्षुओं को भिक्षा मिलनी भी गांव में मुश्किल हो गयी। भिक्षा की दूर, गांव में निकलना मुश्किल हो गया। गांव में चलना मुश्किल हो गया। जहां जाते होंगे, लोग कहते, यह देखो, उस हत्यारे गौतम के शिष्य जा रहे। उस कामी गौतम के शिष्य जा रहे। इन्हें कौन भिक्षा देगा! कौन भिक्षा देकर झंझट में पड़ेगा? क्योंकि जो भिक्षा देगा, वह भी गांव की नजरों में गिरेगा। द्वार-दरवाजे बंद हो जाते होंगे। शायद बुद्ध को दो-चार दिन भोजन भी न मिला हो। क्योंकि बुद्ध के पास और तो कोई उपाय न था। लेकिन कुछ थोड़े से लोग थे, जो दुस्साहसी थे और अब भी आते थे। ऐसी ही घड़ियां कसौटी की घड़ियां होती हैं। भगवान ने अपने भिक्षुओं से सिर्फ इतना ही कहा--असत्य असत्य है, तुम चिंता न करो। सत्य स्वयं अपनी रक्षा करने में समर्थ है।
सत्याग्रह की कोई जरूरत नहीं है। सत्य निराग्रह भी जीतता है। जीतता
ही है। सत्य की जीत अपरिहार्य है, सिर्फ समय शायद लग जाए। असत्य की हार अपरिहार्य है, शायद थोड़ी देर असत्य सिंहासन पर बैठने का मजा ले ले। मगर यह थोड़ी देर का राग-रंग है। तुम चिंता न करो। तुम इतना ही करो, शांति रखो, धैर्य रखो, ध्यान रखो। सब सहो। यह सहना साधना है। श्रद्धा न खोओ। श्रद्धा को इस अग्नि से भी गुजर जाने दो। यह अपूर्व अवसर है, ऐसे अपूर्व अवसर पर ही कसौटी होती है। इसके बाद श्रद्धा जो निखरेगी, श्रद्धा ज्योतिर्मय होकर प्रगट होगी।

और ऐसा ही हुआ। गुंडों ने रुपये ले लिए थे, सुंदरी को मार डाला था... पाप छिपते थोड़े ही, पाप बोलते। रात शराब पी ली होगी मधुशाला में जाकर, ज्यादा पी गए होंगे, फिर पी गए तो सारी बात कह गए। सब बता दिया, खोल दिया सब कि मामला क्या है। कि हमने हत्या की है, और किन ने हत्या करवायी है, और क्यों हत्या करवायी है, और गौतम निष्पाप है।
लेकिन भगवान फिर भी कुछ न बोले सो न बोले। चुप ही रहे। सत्य को स्वयं
ही बोलने का उन्होंने अवसर दिया। अंत में अपने भिक्षुओं से उन्होंने इतना ही कहा कि असत्य से सदा सावधान रहना। उसके साथ कभी न जीत हुई है, न कभी हो सकती है। एस धम्मो सनंतनो। यही शाश्वत नियम है।
और तब उन्होंने ये गाथाएं कहीं--

अभूतवादी निरयं उपेति यो चापि
कत्वा "न करोमीति" चाह।
उभोति ते पोच्च समा भवंति
निहीनकम्मा मनुजा परत्थ।।

"असत्यवादी नर्क में जाता है, और वह भी जो कि करके भी कहता है कि नहीं किया। दोनों ही प्रकार के नीच कर्म करने वाले मनुष्य मरकर समान होते हैं।" असत्यवादी नर्क में जाता है, इसका अर्थ होता है--उन दिनों की भाषा है यह--आज की भाषा में इसका अर्थ होता है, असत्यवादी दुख भोगता है। नर्क कोई भौगोलिक जगह नहीं है, कहीं पाताल में, जहां तुम्हें जाना पड़ेगा, नर्क तुम्हारी मनोदशा है। जब भी तुम असत्य बोलते हो, तुम नर्क में पड़ते हो। तुम अपने मन में बड़े नीचे उतर जाते हो। तुम अपने ही मन के अंधकारपूर्ण, दुखपूर्ण घाटी में डूब जाते हो। और ऐसा मत सोचना कि एक दफा नर्क जाते हो। तुम जितनी बार दिन में झूठ बोलते हो, जितनी बार बेईमानी करते हो, उतनी बार नर्क में गिरते हो। और जितनी बार सच बोलते हो, उतनी बार स्वर्ग में उठते हो। तुम थर्मामीटर के पारे की तरह ऊंचे-नीचे होते रहते हो।
तुम इसकी जरा जांच करना, तुम्हें मेरी बात की सचाई तब ख्याल में आएगी
कि जब भी तुम झूठ बोलते हो तब तुम दुख में पड़ जाते हो। जब भी तुम सच बोलते हो, तभी तुम मुक्त हो जाते हो, खुल जाते हो, निर्बंध हो जाते हो। जब तुम सच बोलते हो, निर्भार हो जाते हो। कोई भार नहीं रह जाता। जब तुम झूठ बोलते हो, छाती पर पत्थर रख जाता है। झूठ चाहे छोटा ही हो, पत्थर बहुत बड़ा होता है। झूठ चाहे दो कौड़ी का हो, जिसका कोई बड़ा मूल्य भी नहीं है, न बोलते तो भी चल जाता, न बोलते तो भी कुछ बहुत खो जाने वाला नहीं था, लेकिन झूठ बोलते ही सिकुड़ जाते हो। झूठ सिकोड़ता है, झूठ तुम्हारे हृदय को दबाता है, झूठ तुम्हें बंद करता है। झूठ तुम्हारे भीतर हजार तरह के रोग पैदा करता है। पश्चिम में अदालतों में रखी रहती है एक मशीन, आदमी के झूठ पकड़ने के लिए। वह मशीन सबूत है इस बात की। आदमी को खड़ा कर देते हैं मशीन पर। उसे तो पता भी नहीं कि मशीन पर खड़ा है, मशीन तो छिपी होती है नीचे। खड़ा कर दिया उसको एक चबूतरे पर, चबूतरे के भीतर छिपी है मशीन। मजिस्ट्रेट उससे पहले कुछ प्रश्न पूछता है, ऐसे प्रश्न जिनमें वह झूठ बोल ही नहीं सकता। जैसे कहता है, देखो यह घड़ी है, इसमें कितने बजे हैं? अब सामने घड़ी लटकी है, झूठ कैसे बोलोगे? और झूठ बोलने की जरूरत भी क्या? तुम कहते हो कि साढ़े नौ बजे हैं। तुम सच बोल रहे हो तो तुम्हारा हृदय एक तरह से धड़कता है। वह जो नीचे रखी मशीन है, जैसा कार्डियोग्राम में ग्राफ बनता है, ऐसे उस मशीन में ग्राफ बनता है; वह तुम्हारे हृदय की धड़कन, तुम्हारे शरीर की धड़कन का ग्राफ बनाती है। फिर तुमसे पूछता है कि यहां कमरे में कितने लोग हैं? तुम गिनती करके कहते हो कि बीस लोग हैं। झूठ बोलने का कोई कारण नहीं है। मशीन ग्राफ बनाए चली जाती है। एक समतल ग्राफ बनता है। तब वह पूछता है, क्या तुमने हत्या की? तुम्हारे भीतर तो उठता है कि हां, क्योंकि तुमने की है, ऊपर से तुम कहते हो, नहीं। तुम्हारे ग्राफ में अड़चन आ जाती है, तुम्हारे नीचे जो ग्राफ बन रहा है उसमें गांठ पड़ जाती है। तत्क्षण गांठ पड़ जाती है। एक क्षण

के लिए हृदय धक्क से रह जाता है। कुछ कहना चाहते थे और कुछ कहा। वह जो गैप है, वह जो दोनों के बीच में अंतराल है, वह मशीन पकड़ लेती है।
यह तो छोटा सा प्रयोग है। लेकिन जो आदमी जिंदगीभर झूठ बोल रहा है, उसके हृदय में ही वह गांठ पड़ जाएगी। फिर तो वह सच भी बोलना चाहेगा तो न बोल सकेगा। गांठ मजबूत हो जाएगी।
तुमने देखा, कि लोग चालीस साल की उम्र के करीब आते-आते झंझटों में पड़ना शुरू होते हैं। इतने दिन तक गांठ बनती है, फिर हृदय का दौरा पड़ता, हार्ट अटैक होता, कि कैंसर हो जाता, कि टी.बी. हो जाती। अक्सर ये बीमारियां चालीस और बयालीस साल के बाद होती हैं। इतनी देर तक तुम्हारा शरीर किसी तरह झेल लेता है। तुम्हारा शरीर इतनी देर तक झेलने में समर्थ है। फिर ऊंट पर आखिरी तिनका रख जाता है--किसी भी दिन--और तराजू डांवाडोल हो जाता है। अमरीका में तो वे कहते हैं कि जिस आदमी को बयालीस साल की उम्र तक हार्ट अटैक न हो, वह आदमी असफल आदमी है। सफल आदमी को होता ही है। सफल आदमी का मतलब जिसने हजार तरह की बेईमानियां कीं और पकड़ा नहीं गया; हजार तरह की चोरियां कीं और पकड़ा नहीं गया। सफल आदमी का मतलब, खूब धन इकट्ठा कर लिया, दिल्ली पहुंच गया, कि वाशिंगटन पहुंच गया। सफल आदमी का मतलब कि मिनिस्टर हो गया, कि गवर्नर हो गया, कि राष्ट्रपति हो गया। सफल आदमी का मतलब ही यह होता है कि उसने बहुत से जाल फैलाए और सब जालों में से किसी तरह से निकलता चला गया।
मगर तुम बाहर से निकलते चले जाओ, भीतर तुम्हारे हृदय में गांठें पड़ती जाती हैं। उन गांठों के जोड़ का नाम नर्क है। यह तो पुरानी भाषा है, इसलिए बुद्ध पुरानी भाषा बोल रहे हैं। मैं तो पच्चीस सौ साल बाद बोल रहा हूं, इसलिए पुरानी भाषा नहीं बोलूंगा। तुम अपना नर्क पैदा कर रहे हो। तुम अपना स्वर्ग भी पैदा कर सकते हो। तो बुद्ध ने कहा, जो असत्यवादी है, वह दुख में पड़ जाता है।

कुसो यथा दुग्गहीतो हत्थमेवानुकंतति।
सामांं दुप्परामट्ठं निरमाय उपकड्ढति।।

"जैसे ठीक से नहीं पकड़ने से कुश हाथ को ही छेद देता है, वैसे ही ठीक से नहीं ग्रहण करने पर श्रामण्य नर्क में ले जाता है।"
अब वे कहते हैं कि--सुंदरी का नाम भी नहीं लेते हैं--इतना ही कहते हैं
कि तुम यही मत सोच लेना भिक्षुओ कि तुमने संन्यास ले लिया, इतना काफी है। अगर संन्यास भी गलत ढंग से लिया, तो भी नर्क जाओगे। कोमल सी घास देखी न-- कुश--इस कोमल सी घास को भी अगर गलत ढंग से तोड़ो तो हाथ कट जाता है। कोमल सी घास क्या हाथ काटेगी? लेकिन कोमल सी घास को भी अगर तोड़ना न आता हो और तुम गलत ढंग से तोड़ लो तो हाथ कट जाए, लहू निकल आए। संन्यास जैसी सहज और शांत चीज भी अगर तुम गलत ढंग से पकड़ो, तो काट देगी, तो तुम्हें दुख में ले जाएगी, तो नर्क में गिरा देगी।
संन्यास भी गलत हो सकता है, यह स्मरण रखना। और संसार भी सही हो सकता है, यह भी स्मरण रखना। ठीक और सही आदमी होते हैं, संन्यास और संसार का कोई सवाल नहीं है।
अब यह सुंदरी परिव्राजिका संन्यासी हो गयी थी, बुद्ध से दीक्षित हो गयी थी। यह कैसी दीक्षा थी! यह कैसा संन्यास था! इसे संकोच भी न लगा। यह जो करने चल पड़ी, इसने कभी विचार भी न किया। धन के लोभ में आ गयी।
और तुम ऐसा मत सोचना कि बड़ी पापी रही होगी। बिल्कुल मत सोचना, सामान्य थी। ऐसे ही सामान्य लोग हैं। अगर कोई तुम्हें रुपया दे और मेरे खिलाफ कोई बात कहलवाना चाहे, तो तुम जरा अपने मन में विचार करना कल सुबह बैठकर कि तुम कितने रुपये लेकर खिलाफ बात कहने को राजी--सिर्फ विचार करना, कोई दे भी नहीं रहा है, तुम ले भी नहीं रहे हो, सिर्फ विचार करना--हजार रुपया, कि दो हजार, कि पांच हजार, कि दस हजार! जैसे-जैसे संख्या बड़ी होने लगेगी कि तुम पाओगे, रस आने लगा; कि पचास हजार, तुम कहोगे पचास हजार जरा ज्यादा हो गया; पचास हजार न लूं, जरा मुश्किल हो जाएगा; कि लाख, तुम कहोगे अब छोड़ो भी, अब

जाने दो, अब तो ले लो लाख। तुम जरा देखना कि कितने रुपये--और तुम्हें कोई दे नहीं रहा है--तब तुम पाओगे कि सुंदरी तुम्हारे भीतर भी छिपी है। सामान्य है। कोई विशिष्ट बात नहीं है।
पापी कहकर मत छूट जाना। नहीं तो हमारी तरकीबें हैं ये। हम कहते हैं, अरे, बड़ी महापापी रही होगी, बुद्ध जैसे व्यक्ति पर और ऐसा लांछन लगाया! महा घोर पापी रही होगी।
ऐसा कहकर बच मत जाना। यह सामान्य मनुष्य का कृत्य है। और यह सामान्य मनुष्य सबके भीतर छिपा बैठा है। यह हो सकता है कि सबके मूल्य अलग-अलग, कोई पांच रुपये में राजी हो जाए--जुदास तीस रुपये में राजी हो गया।
मगर तीस रुपये भी उस दिन के बहुत थे, ख्याल रखना। आज के तीस रुपये की बात नहीं है। नगद चांदी थी। आज के तीस रुपये तो उस जमाने के एक रुपये के मुकाबले भी नहीं हैं। उस जमाने के तीस रुपये बहुत थे। एक रुपये में जुदास के जमाने में पूरा महीना मजे से गुजर जाता था, शान से गुजर जाता था। तीस रुपये काफी थे। तीस रुपये से इतना ब्याज मिल सकता था उन दिनों कि आदमी जिंदगीभर मजे से जी लेता।
तो तुम तीस रुपये पर अपने तीस रुपये मत सोचना। वह जो नोट तीस रुपये तुम्हारे खीसे में रहते हैं, उनसे मत सोचना कि तीस रुपये में कैसे जीसस को बेच दिया! तुम जरा सोचो कि जिंदगीभर विश्राम मिल जाए, नौकरी इत्यादि की जरूरत न रही, धंधा नहीं करना, चले गए माथेरान और विश्राम कर रहे हैं जिंदगीभर, और जरा सा एक झूठ बोलना है, चूकोगे? चूकोगे तो पछताओगे। तो मन होगा कि बड़ी गलती कर रहे हो।
तुम जरा विचार करना। और कभी भी किसी को जल्दी पापी कहकर अपना छुटकारा
मत कर लेना। ऐसे लेबल लगाकर हम अपने को बचा लेते हैं। सुंदरी ऐसे ही सामान्य व्यक्ति थी, जैसे तुम हो, जैसे सब हैं। आ गयी होगी धोखे में। बुद्ध तो उसका नाम भी नहीं लेते हैं। वे तो इतना ही कहते हैं, "जैसे ठीक से नहीं पकड़ने से कुश हाथ को ही छेद देता है, वैसे ही ठीक से नहीं ग्रहण करने से श्रामण्य भी नर्क में ले जा सकता है।"

कयिरा चे कयिराथेनं दल्हमेनं परक्कमे।
सिथिलो हि परिब्बाजो भिय्यो आकिरते रजं।।

"यदि प्रवज्या-कर्म करना है--यदि संन्यास लेना है तो फिर भलीभांति ले-- भलीभांति करे, उसमें दृढ़ पराक्रम के साथ लग जावे। ढीला-ढाला श्रामण्य बहुत मल व धूल बिखेरता है।"
उससे तो संसारी भला। कम से कम धोखाधड़ी तो नहीं है। झूठा संन्यास न ले, बुद्ध कहते हैं। क्योंकि झूठा संन्यास और भी खतरनाक है। संसारी से भी ज्यादा खतरनाक।
अब थोड़ा समझो। अगर यह सुंदरी परिव्राजिका न होती और वेश्या होती तो शायद गांव के लोग इतनी जल्दी भरोसा न करते। कहते कि अरे वेश्या है, उसकी बात का क्या भरोसा! दो कौड़ी उसकी कीमत है, उसकी बात का क्या भरोसा! यह अगर वेश्या होती तो कोई इसकी बात का शायद इतनी आसानी से भरोसा न करता। लेकिन यह श्राविका थी, यह परिव्राजिका थी, यह संन्यासिनी थी, फिर बुद्ध की ही संन्यासिनी थी, अब इसकी बात तो कैसे झुठलाओ! जब यह कहती है तो ठीक ही कहती होगी। लोगों ने जल्दी भरोसा कर लिया। थी तो यह स्त्री वेश्या ही, नहीं तो इस तरह राजी हो जाती!
वेश्या का अर्थ क्या होता है? इस शब्द पर कभी ध्यान दिया? यह शब्द उसी
से बनता है, जिससे वैश्य बनता है। वैश्य का मतलब होता है--बेचकर जीने वाला, दुकानदार। वेश्या का मतलब होता है--अपने को बेचकर, अपने शरीर को बेचकर जीने वाली। उसने अपनी आत्मा तक बेच दी, ऐसा झूठ बोली जो उसकी आत्मा के विपरीत था। ऐसा झूठ बोली, जो उसके विपरीत था जिसके चरणों में सिर झुकाया था। ऐसा झूठ बोली, जो उसके विपरीत था जिसको भगवान पुकारा था। यह आत्मा बेच देना हो गया। वेश्या ही थी। मगर ऊपर से वस्त्र तो पीत-वस्त्र थे, वस्त्र तो

भिक्षुणी के थे, वस्त्र तो परिव्राजिका के थे, रंग-ढंग तो संन्यासिनी का था, इसलिए और भी आसानी हो गयी।
तो बुद्ध कहते हैं, "ढीला-ढाला श्रामण्य बहुत मल व धूल बिखेरता है।"

नगरं यथा पच्चंतं गुत्तं संतरबाहिरं।
एवं गोपेथ अत्तानं खणो वे मा उपच्चगा।
खणातीता हि सोचंति निरयम्हि समप्पिता।।
"जैसे सीमांत का नगर भीतर-बाहर खूब रक्षित होता है, उसी प्रकार अपने
को रक्षित रखे। क्षणभर भी न चूके, क्योंकि क्षण को चूके हुए लोग नर्क में पड़कर शोक करते हैं।"
बुद्ध कहते हैं, जैसे सीमांत का नगर, ऐसा हो संन्यासी।
नगर दो तरह के होते हैं। सीमांत का नगर होता है, जैसे कि पंजाब है। तुमने कभी सोचा कि पंजाबी इतना मजबूत कैसे हो गया है? सीमांत के लोग सदा मजबूत हो जाते हैं। सीमांत पर रहने वाले लोग सदा कट्टर हो जाते हैं, हिम्मतवर हो जाते हैं। मध्यदेश में रहने वाले लोग ढीले-पोले हो जाते हैं। हो ही जाते हैं, क्योंकि वहां कोई खतरा तो आता नहीं। सारा खतरा जब आया तो पंजाब। जब भी कोई खतरा आए तो पंजाब, पहली ही टक्कर पंजाब में। सिकंदर आए, कि तैमूर आए, कि नादिर आए, कि कोई भी आए, आए तो पंजाब। तो पंजाबी को पहले टक्कर लेनी पड़े। तो उसे सजग भी रहना पड़े। उसे जूझने के लिए तैयारी भी रखनी पड़े। तो अगर वह बलशाली हो जाए और उसमें एक साहस आ जाए, आश्चर्य नहीं है। मध्यदेश में रहने वाला आदमी, उस पर झगड़े-झंझट आते ही नहीं। सुरक्षित है, चारों तरफ से सुरक्षित है। उस पर खतरा नहीं आता, तो उसमें रीढ़ भी पैदा नहीं होती।
बुद्ध कहते हैं, संन्यासी सीमांत पर जैसे नगर होता है ऐसा होना चाहिए।
संसारी तो ठीक है, बीच में रहता है, उस पर उतने खतरे भी नहीं हैं। लेकिन संन्यासी पर खतरे ज्यादा हैं, क्योंकि उसने वासनाओं से टक्कर लेने का निर्णय किया। उसने वृत्तियों के ऊपर उठने की आकांक्षा की। वह इस संसार के पार जाने के लिए अभीप्सु हुआ है। उसने एक बड़ा अभियान करना चाहा है। उस पर खतरे ज्यादा हैं। सारी वृत्तियां जिनके वह पार जाना चाहता है उस पर हमला करेंगी। लोभ संसारी को उतना नहीं सताता, जितनी तीव्रता से संन्यासी को सताता है। क्योंकि लोभ देखता है कि तुम निकले! कि तुम चले मेरे हाथ के बाहर! जा कहां रहे हो! लोभ आखिरी हमला करता है।
काम संसारी को उतना नहीं सताता है जितना संन्यासी को सताता है। क्योंकि काम भी देखता है कि जा कहां रहे हो, महाराज! मुझे छोड़ चले! इतने दिन का साथ ऐसे तोड़ चले! रुको, मैं भी आता हूं! और बड़े जोर से हमला करेगा। स्वाभाविक, इतना पुराना संगी-साथी, ऐसे एकदम अचानक रास्ते में छोड़कर आप चल पड़े! पूरी जिद्द से, हठ से लगेगा। झुकाएगा। स्वाभाविक है।
तो बुद्ध कहते हैं, "सीमांत का नगर जैसे भीतर-बाहर से खूब रक्षित... ।"
ऐसा संन्यासी हो, भीतर-बाहर से खूब रक्षित। ध्यान से रक्षित, शांति से रक्षित, धैर्य से रक्षित, श्रद्धा से रक्षित।
"क्षणभर भी न चूके।"
और ऐसा भी न करे कि एकाध क्षण चूकेंगे तो क्या हर्जा है! एक क्षण चूके
तो काफी हो जाता है। क्षण में ही तो सब भूलें हो जाती हैं। चौबीस घंटे जागा रहे। बुद्ध कहते थे, सपने में भी न चूके।
बुद्ध अपने शिष्यों को ऐसी प्रक्रियाएं देते थे जिनमें सपने में भी
वे जागे रहें। समझो कि दिन में तो तुमने किसी तरह सम्हाले रखा अपने को-- स्त्री निकली, तुमने आंख उठाकर न देखा, तुम अपनी आंखें नीचे गड़ाए रहे; तुमने कोई तस्वीर न देखी स्त्री की, कोई फिल्म देखने न गए; ऐसी जगह से बचे जहां आकर्षण हो सकता था; धन न छुआ, पद की किसी ने बात की तो तुमने इंकार कर दिया कि भई, मुझसे मत करो, मैं संन्यासी, तुम अपने को बचा लिए। लेकिन रात, सपने में, जब तुम सो जाओगे तब, तब क्या होगी रक्षा?

तो यह तो बाहर से रक्षा हो गयी, अब भीतर का सवाल है। दिन में तो बाहर थे दुश्मन--कोई आता था और कहता था कि महाराज, यह एक हीरा मेरे पास पड़ा है, सोचता हूं मैं क्या करूं, आप ले लें; तुमने कह दिया, भई मैं संन्यासी हूं, मन तो डांवाडोल हो भी रहा था, लेकिन तुमने कहा कि मैं संन्यासी हूं, मैं हीरा लेकर क्या करूंगा, तू अपना हीरा ले जा और दुबारा इस तरह की बात मुझसे मत करना--यह तुमने बाहर से तो रक्षा कर ली। लेकिन रात सपने में भीतर से उपद्रव शुरू होगा और तुम सोए होओगे, फिर क्या करोगे? बुद्ध कहते थे, सपने में भी होश रखे। सोते-सोते होश रखे।
बुद्ध की प्रक्रिया यह थी कि जब भिक्षु सोने लगे तो एक ही बात ध्यान में रहे सोते समय कि मैं जागा हूं, मैं देख रहा हूं, मैं देख रहा हूं, और मैं पहचान रहा हूं, और मैं पहचान रहा हूं कि यह सब सपना है और सब झूठ है। ऐसा ही भाव करते-करते रोज सोते-सोते कोई तीन महीने के बाद घटना घटती कि एक रात तुम सो जाते हो और तुम्हारे भीतर कुछ थोड़ा सा जागा रहता है; सपना आता है और तुम्हारे भीतर कोई बोलता है धीमे से कि सपना है, सावधान!
जो बात तुम तीन महीने तक अपने चेतन में दोहराते रहे, वह धीरे-धीरे- धीरे रिस-रिसकर अचेतन में पहुंच जाती है। और जब अचेतन में पहुंच जाती है, तो फिर काम शुरू हो जाता है। जब भीतर और बाहर, दोनों से कोई सुरक्षित हो जाता है, तभी संन्यासी हो पाता है।
"क्षणभर भी न चूके, क्योंकि क्षण को चूके हुए लोग नर्क में पड़कर शोक करते हैं।"

अलज्जिता ये लज्जंति लज्जिता ये न लज्जरे।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छंति दुग्गतिं।।

"लज्जा न करने की बात में जो लज्जित होते हैं और लज्जा करने की बात में लज्जित नहीं होते, वे लोग मिथ्या-दृष्टि को ग्रहण करने के कारण दुर्गति को प्राप्त होते हैं।"
और बुद्ध कहते हैं, लज्जा जिस बात की करनी चाहिए, लोग उसकी तो लज्जा नहीं करते; और जिसकी लज्जा नहीं करनी चाहिए, उसकी लज्जा करते हैं।
अब जैसे, तुम्हारी यह फिकर नहीं होती कि मैं झूठ न बोलूं, तुम्हारी यह फिकर होती है कि किसी को यह पता न चले कि मैं झूठ बोला। यह बड़ी अजीब सी बात है। तुम्हारी यह चिंता नहीं होती कि मैं झूठ न बोलूं--वही असली बात है जिसकी लज्जा होनी चाहिए--तुम्हारी इतनी ही फिकर होती है कि किसी को पता न चले कि मैं झूठ बोला, बस। पकड़े जाओ तो लज्जित होते हो। करते वक्त लज्जित नहीं होते, पकड़े जाते वक्त लज्जित होते हो।
लज्जित ही होना हो तो, बुद्ध कहते हैं, करते वक्त लज्जित होओ। तो पकड़ने की बात ही न उठे, पकड़ने का मौका ही न आए। जागे तो उस वक्त जब ऐसा कुछ तुम कर रहे हो, जो गलत है, असम्यक है।
लेकिन लोग उसमें लज्जित नहीं होते। लोग लज्जित तब होते हैं जब पकड़े जाते हैं। पकड़े भी जाते हैं तो भी छिपाने की कोशिश करते हैं। सब तरह की लाग-लपेट करते हैं, सब तरह का आयोजन करते हैं, वकील खड़े करते हैं कि नहीं, ऐसा हमने किया नहीं, ऐसा हम करना नहीं चाहते थे। अगर हो भी गया हो तो अनजाने हुआ होगा, चाहकर नहीं हुआ है, ऐसा हमारा अभिप्राय न था, ऐसी हमारी मनोवृत्ति न थी--हजार तर्क खोजते हैं। लज्जित उस बात से होते हैं जिससे नहीं होना चाहिए।
तो भिक्षुओं को उन्होंने कहा, लज्जित वहीं हो जाना जहां से कृत्य शुरू होता है। वहीं सजग हो जाना।

अभये च भयदस्सिनो भये च अभयदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छंति दुग्गतिं।।

"भय न करने की बात में जो भय करते हैं और भय करने की बात में भय नहीं करते, वे लोग मिथ्या-दृष्टि को ग्रहण करने के कारण दुर्गति को प्राप्त होते हैं।"
भय उस बात का करना जिसके कारण तुम्हारी जीवन चेतना खोती हो। भय उस बात
का करना जिससे तुम्हारी मूल संपदा नष्ट होती हो। भय उस बात का करना जिससे तुम ओछे और छोटे और संकीर्ण होते हो। और किसी बात का भय मत करना। लोग क्या कहते हैं, इसका भय मत करना। लोग क्या कहते हैं, लोग जानें। वह लोगों की समस्या है।
इस बात की चिंता मत करना कि लोगों का मंतव्य क्या है तुम्हारे संबंध में। तुम इसी बात की चिंता करना कि तुम्हारा मंतव्य क्या है तुम्हारे संबंध में, तुम अपने संबंध में क्या सोचते हो। अगर तुम अपनी आंखों के सामने उज्ज्वल हो, तो सारी दुनिया तुम्हें कुछ भी कहे, तुम चिंता मत करना। सत्य घोषणा का उपाय खोज लेगा। अगर तुम अपनी ही आंखों में उज्ज्वल नहीं हो, तो दुनिया तुम्हें कितना ही पूजती रहे, उससे कुछ सार नहीं। असत्य आज नहीं कल खुल जाएगा। असत्य वही है, जो आज नहीं कल खुल जाएगा। और सत्य वही है, जो आज नहीं कल उदघोषित होगा, प्रतिष्ठित होगा। सत्य की प्रतिष्ठा है। असत्य की अप्रतिष्ठा है।
यह भी बुद्ध ने अपने भिक्षुओं से कहा, सुंदरी का नाम भी नहीं लिया। वह बात ही नहीं उठायी। उस बात को जैसे छेड़ा ही नहीं। वह बात आयी और गयी।
बुद्ध की यह दृष्टि जीवन की समस्याओं को हल करने की है, ख्याल रखना।
यह सत्य पर भरोसा है। यह सत्य के प्रति अपूर्व श्रद्धा है। सत्य जीतेगा ही। अन्यथा कभी हुआ नहीं। अन्यथा हो नहीं सकता। सत्यमेव जयते।
एस धम्मो सनंतनो।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 10
निन्यान्वे प्रवचन

एकमात्र साधना--सहजता

पहला प्रश्नः महावीर और गौतम बुद्ध समकालीन थे। आपके प्रवचनों से स्पष्ट हो रहा है कि दोनों बात भी एक ही कहते थे। लेकिन दोनों के शिष्य आपस में विवाद और झगड़े भी करते थे। उनके जाने के बाद उनके अनुयायियों के बीच हिंसा और युद्ध भी हुए। लेकिन यदि महावीर और बुद्ध ने कहा होता कि हम एक ही धर्म की बात करते हैं, भेद सिर्फ पद्धति का है, तो इतनी शत्रुता नहीं बढ़ती और दोनों धर्मों की जो क्षति हुई वह न होती। कृपापूर्वक समझाएं।

पूछा है अमृत बोधिधर्म ने।
पहली बात, महावीर और बुद्ध के समय में मनुष्य की चेतना ऐसी नहीं थी कि इतने विराट समन्वय को समझ पाए। आज भी चेतना ऐसी हो गयी है, कहना कठिन है। आज लेकिन पहली किरणें मनुष्य की चेतना में उतर रही हैं। आज जो संभव हुआ है, पच्चीस सौ वर्ष पहले संभव नहीं था। आज मैं तुमसे कह सकता हूं कि बाइबिल वही कहती है जो गीता कहती है। आज मैं तुमसे कह सकता हूं कि बुद्ध वही कहते हैं जो महावीर कहते हैं। और कुछ लोग, थोड़े से लोग पृथ्वी पर तैयार भी हो गए हैं इस बात को समझने और सुनने को।
उस दिन यह बात संभव नहीं थी। उस दिन तो जो महावीर को सुनता था, उसने बुद्ध को सुना नहीं था; जो बुद्ध को सुनता था, उसने महावीर को सुना नहीं था। जिसने गीता पढ़ी थी, उसने भूलकर धम्मपद नहीं पढ़ा था। जो वेद में रस लेता था, उसने कभी भूलकर ताओ तेह किंग में रस नहीं लिया था। लोग छोटे-छोटे घेरों में थे, एक-दूसरे से बिल्कुल अपरिचित थे।
इस सदी की जो सबसे बड़ी खूबी है वह यही है कि सब शास्त्र सभी को उपलब्ध
हो गए हैं। और लोग एक-दूसरे को समझने में उत्सुक भी हुए हैं। थोड़े समर्थ भी हुए हैं। सभी लोग हो गए हैं, ऐसा भी मैं नहीं कह रहा हूं। क्योंकि सभी लोग समसामयिक नहीं हैं।
अगर पूना में जाकर खोजो, तो कुछ होंगे जो दो हजार साल पहले रहते हैं अभी भी; कुछ होंगे जो पांच हजार साल पहले रहते हैं, अभी भी; कुछ हैं जिन्होंने कि अभी गुफाएं छोड़ीं ही नहीं। कुछ थोड़े से लोग अभी रह रहे हैं, वे समझ सकते हैं। और कुछ थोड़े से लोग ऐसे भी हैं जो कल के हैं, आने वाले कल के हैं, उनको बात बिल्कुल साफ हो सकती है।
मनुष्य विकसित हुआ है, मनुष्य की चेतना बड़ी हुई है, बीच की सीमाएं टूटी हैं, बीच की दीवालें गिरी हैं। तो जो मैं कर रहा हूं, यह पहले संभव नहीं था। बुद्ध और महावीर ने भी चाहा होगा--मैं निश्चित कहता हूं कि चाहा होगा; न चाहा हो ऐसा हो ही नहीं सकता--लेकिन यह संभव नहीं था। छोटे बच्चे को तुम विश्वविद्यालय की शिक्षा दे भी नहीं सकते। उसे तो पहले स्कूल ही भेजना पड़ेगा। छोटी पाठशाला से ही शुरू करना पड़ेगा। और जो पाठशाला में सिखाया है, उसमें से बहुत कुछ ऐसा है जो विश्वविद्यालय में जाकर गलत हो जाएगा। उसमें बहुत कुछ ऐसा है जिसमें विश्वविद्यालय में जाकर पता चलेगा कि इसे सिखाने की जरूरत ही क्या थी? लेकिन उसे भी सिखाना जरूरी था, अन्यथा विश्वविद्यालय तक पहुंचना मुश्किल हो जाता।
तो पहली तो बात यह ख्याल रखो कि मनुष्य की चेतना का तल परिवर्तित होता है--गतिमान है, गत्यात्मक है। तो जो एक दिन संभव होता है, वह हर दिन संभव नहीं होता। जो मैं तुमसे कह रहा हूं, यही बात अभी चीन में नहीं कही जा सकती है, यही बात रूस में नहीं कही जा सकती है। जो मैं तुमसे कह रहा हूं, यही बात मोहम्मद अगर चाहते भी अरब में आज से चौदह सौ साल पहले कहना, तो नहीं कह सकते थे। वहां सुनने वाला कोई न था। वहां समझने वाला कोई न था।
और बहुत सी बातें हैं जो मैं तुमसे कहना चाहता हूं और नहीं कह रहा हूं, क्योंकि तुम नहीं समझोगे। कभी-कभी उसमें से कोई बात कह देता हूं तो तत्क्षण अड़चन हो जाती है। कभी-कभी कोशिश करता हूं कुछ तुमसे कहने की, जो तुम नहीं समझोगे, भविष्य समझेगा। लेकिन जब तुमसे ऐसी कोई बात कहता हूं तभी

मैं पाता हूं कि तुम बेचैन हो गए, तुम परेशान हो गए। जो तुम्हारी समझ में नहीं आता, उससे परेशानी बढ़ेगी, घटेगी नहीं। तुम उसके पक्ष में तो हो ही नहीं सकते--वह समझ में ही नहीं आता तो पक्ष में कैसे होओगे? तुम उसके विपरीत हो जाओगे, तुम उसके दुश्मन हो जाओगे।
तो बुद्ध ने और महावीर ने जरूर कहना चाहा होगा कि हम जो कहते हैं, एक
ही बात कहते हैं--उस बात में कुछ भेद था भी नहीं, भाषा का भेद था, प्रत्यय का भेद था, धारणा का भेद था; अलग-अलग कहने के ढंग का भेद था। अलग-अलग मार्ग से पहुंचे थे वे एक ही मंजिल पर।
और तुम्हारी बात सच है कि अगर बुद्ध और महावीर ने कह दिया होता, तो दोनों धर्मों की हानि न होती। यह बात थोड़ी सच है, अगर यह कहा जा सकता होता-- कहा नहीं जा सकता था, क्योंकि सुनने वाला कोई न था, समझने वाला कोई न था-- अगर यह कहा जा सकता तो धर्मों की इतनी हानि न होती, यह भी सच है।
लेकिन यह कहने की घटना तो दो पर निर्भर होती है--कहने वाले पर और सुनने वाले पर। तुम सिर्फ बुद्ध की याद मत करो, महावीर की याद मत करो, सुनने वाले को भी ख्याल में रखो। क्योंकि आकाश से नहीं बोला जाता है, शून्य से नहीं बोला जाता है, जिससे हम बोल रहे हैं उसको देखना पड़ता है। उसे इंच-इंच सरकाना होता है। उसे एक-एक कदम बढ़ाना होता है। उससे बहुत दूर की बात कह दो, वह थककर बैठ जाता है। वह घबड़ा जाता है, वह कहता है, यह मेरे बस की नहीं है। इतने दूर न मैं जा सकूंगा, न मैं जाना चाहता हूं इतने दूर। उसे तो एक इंच बढ़ाना होता है। एक इंच हिम्मत करके बढ़ जाता है, तो फिर और एक इंच आगे बढ़ने की क्षमता आ जाती है। उसे बहुत दूर की बात नहीं कही जा सकती। और जिस मंजिल को उसने जाना नहीं है, उस मंजिल की भी बात नहीं कही जा सकती।
अगर बुद्ध और महावीर ने सुनने वालों की फिकर किए बिना ऐसा कह दिया होता कि हम जो कहते हैं एक ही है, तो सिर्फ विभ्रम बढ़ता, लोग और उलझन में पड़ जाते। तब वे सोचने लगते, अगर दोनों एक ही बात कहते हैं, तो कहते क्या हैं! तो महावीर को तो यही कहना पड़ा कि जो मैं कहता हूं, वही सच है। और बुद्ध
को भी यही कहना पड़ा कि जो मैं कहता हूं, वही सच है। इससे अन्यथा जो कहता है, गलत है। और जानते हुए कहना पड़ा कि अन्यथा भी कहा जा सकता है।
लेकिन तुम ऐसा समझो कि तुम एक एलोपैथ डाक्टर के पास चिकित्सा के लिए
गए और तुम उससे पूछो कि आयुर्वेदिक वैद्य कुछ और कहता है, वह कोई और दवा सुझाता है, और होमियोपैथी का डाक्टर कुछ और दवा सुझाता है, और नेचरोपैथी का डाक्टर कहता है दवा की जरूरत ही नहीं है, पानी में बैठे रहने से और मिट्टी की पट्टी चढ़ाने से सब ठीक हो जाएगा, उपवास करने से सब ठीक हो जाएगा-- क्या ये सभी ठीक कहते हैं? अगर एलोपैथी का डाक्टर तुमसे कह दे कि सभी ठीक हैं, एक ही तरफ पहुंचने के अलग-अलग रास्ते हैं। और यही होमियोपैथी का डाक्टर भी कह दे, और यही आयुर्वेद का डाक्टर भी कह दे, और यही नेचरोपैथ कह दे, तो तुम बड़ी उलझन में पड़ जाओगे। तुम तब कहोगे, कहां जाएं? किस की सुनें? किस की मानें?
सभी ठीक कहते हैं, ऐसी बात सुनकर इसकी बहुत कम संभावना है कि तुम्हारे जीवन में कुछ लाभ हो, शायद नुकसान हो जाए। क्योंकि तुम आए थे कहीं से दृढ़ निश्चय की तलाश में, तुम चाहते थे कोई आदमी जोर से टेबल पीटकर कहे कि जो मैं कहता हूं यही ठीक है। तुम संदेह से भरे हो, तुम श्रद्धा खोज रहे हो। तुम्हें ऐसा आदमी चाहिए जिसकी भाषा, जिसकी आवाज, जिसका दृढ़ निश्चय तुम में यह भरोसा जगा दे कि हां, यहां रहने से कुछ हो जाएगा। वह कहे कि यह भी ठीक है, वह भी ठीक है, चाहे यहां रहो, चाहे वहां रहो, सब जगह से पहुंच जाओगे, सब रास्ते वहीं पहुंचा देते हैं, तो बहुत संभावना यह है कि तुम किसी भी रास्ते पर न चलो, बहुत संभावना यह है कि तुम बहुत विभ्रमित हो जाओ। क्योंकि बड़ी अलग भाषाएं हैं बुद्ध और महावीर की।
महावीर कहते हैं, आत्मा को जानना ज्ञान है। और बुद्ध कहते हैं, आत्मा
को मानने से बड़ा कोई अज्ञान नहीं। अब दोनों ठीक हैं! अगर यह और साथ में जुड़ा हो, कि महावीर कहते हों, मैं भी ठीक, बुद्ध भी ठीक; और बुद्ध कहते हों, मैं भी ठीक और महावीर भी ठीक, तुम जरा उस आदमी की सोचो, उस पर क्या गुजरेगी जो सुन रहा है! आत्मा को जानना सबसे बड़ा ज्ञान, और आत्मा को मानना सबसे बड़ा

अज्ञान, ये दोनों ही अगर ठीक हैं, तो सुनने वाले को यही लगेगा कि दोनों पागल हैं। बजाय इनके पीछे जाने के, इनके साथ खड़े होने के, वह इनको नमस्कार कर लेगा! वह कहेगा, तो आप दोनों ठीक रहो, मैं चला! मैं कहीं और खोजूं जहां कोई बात ढंग की कही जाती हो, शुद्ध तर्क की कही जाती हो, समझ में पड़ने वाली कही जाती हो। लोग गणित की तरह सफाई चाहते हैं।
इसी कारण महावीर को बहुत अनुयायी नहीं मिले, क्योंकि महावीर ने थोड़ी
सी हिम्मत की, बुद्ध से ज्यादा हिम्मत की। बुद्ध को ज्यादा अनुयायी मिले, बुद्ध ने उतनी हिम्मत नहीं की। यह तुम चौंकोगे सुनकर। महावीर ने बड़ी हिम्मत की है। उसी हिम्मत का नाम है--स्यातवाद, अनेकांतवाद।
महावीर से कोई पूछता, ईश्वर है? महावीर कहते, है भी, नहीं भी है, दोनों
भी सच है, दोनों गलत भी हैं। इसका नाम है स्यातवाद। क्योंकि महावीर कहते हैं, प्रत्येक बात को कहने के बहुत ढंग हो सकते हैं। जो बात है के माध्यम से कही जा सकती है, वही नहीं है के माध्यम से भी कही जा सकती है। नकार और विधेय, दोनों एक ही बात को कहने में उपयोग में लाए जा सकते हैं। दोनों एक साथ भी उपयोग में लाए जा सकते हैं। और दोनों का एक साथ इनकार भी किया जा सकता है।
जिसने भी महावीर को सुना, उसके पैर डगमगा गए। उसने कहा, स्यातवाद! हम
आए हैं श्रद्धा की तलाश में, मिलता है स्यात--यह भी ठीक हो स्यात वह भी ठीक हो। लोग संदेह से पीड़ित हैं, स्यात से उनकी तृप्ति न होगी।
इसलिए महावीर को बहुत अनुयायी नहीं मिले। कितने इने-गिने जैन हैं! उनकी संख्या कुछ बड़ी नहीं हुई। और जैन-धर्म हिंदुस्तान के बाहर नहीं पहुंच सका, इसमें जैन-धर्म की कठिनाई और हिंदुस्तान की गरिमा दोनों छिपी हैं। जैन-धर्म हिंदुस्तान के बाहर नहीं पहुंच सका, क्योंकि हिंदुस्तान में ही, हिंदुस्तान जैसे विकसित देश में उस दिन थोड़े से लोग मिले जो महावीर को समझ सके। हिंदुस्तान के बाहर तो वे एक आदमी भी नहीं पा सके जो महावीर को समझ सके।
इसलिए हिंदुस्तान के बाहर महावीर को अनुयायी नहीं मिले। नहीं कि जैन नहीं गए, जैन-मुनि गए--मिश्र गए, अरब गए, तिब्बत गए, प्रमाण हैं उसके; इजिप्त तक जाने के जैन-मुनि के प्रमाण हैं। अंग्रेजी में तुमने शब्द सुना होगा--जिम्नोसोफिस्ट, वह जैनों का नाम है। जिम्नो जैन से बना। जैन-दार्शनिक, जिम्नोसोफिस्ट का मतलब होता है, जैन-द्रष्टा। ठीक मिश्र के मध्य तक जैन-मुनि गया। लेकिन कोई समझने वाला न मिला। बुद्ध को समझने वाले लोग पूरे एशिया में मिल गए। पाठ इतना कठिन नहीं था। पाठ सरल था, सुगम था। फिर जैन-मुनियों की एक और जिद्द थी कि पाठ को जरा-भी मिश्रित नहीं होने देंंगे, शुद्ध का शुद्ध रखेंगे। वह जिद्द भी मुश्किल में डाल दी। बुद्ध के भिक्षुओं में ऐसी जिद्द नहीं थी। तिब्बत में गए तो उन्होंने तिब्बत में समझौता कर लिया। तिब्बत में जो चलता था, उससे समझौता कर लिया। चीन में गए तो चीन में जो चलता था उससे समझौता कर लिया। कोरिया गए, जापान गए, जहां गए वहां जो चलता था उससे समझौता कर लिया। बुद्ध की भाषा को और वहां की भाषा को तालमेल बिठा दिया। बुद्ध-धर्म फैला, खूब फैला, सारा एशिया बौद्ध हो गया।
दोनों एक साथ थे--महावीर और बुद्ध--दोनों एक ही अनुभव को उपलब्ध हुए। महावीर के इने-गिने अनुयायी रह गए, उंगलियों पर गिने जा सकें--अब भी पच्चीस सौ साल के बाद संख्या कोई ज्यादा नहीं है, पच्चीस-तीस लाख। यह कोई संख्या हुई! पच्चीस-तीस परिवार अगर महावीर से दीक्षित होते तो अब तक उनके बच्चे पैदा होते-होते पच्चीस-तीस लाख हो जाते। बहुत थोड़े से लोग महावीर में उत्सुक हुए। नहीं कि महावीर की बात गलत थी, महावीर जरा आगे की बात कह रहे थे, दूर की बात कह रहे थे। बुद्ध का पाठ सरल है। ज्यादा लोगों को समझ में आया।
लेकिन इतनी हिम्मत तो दोनों में से कोई भी नहीं कर सका कि--महावीर भी नहीं कर सके और बुद्ध भी--कि महावीर ने कहा होता कि बुद्ध जो कहते हैं ठीक कहते हैं, वैसा ही है जैसा मैं कहता हूं; न बुद्ध कह सके। दोनों में

प्रतिस्पर्धा सीधी-सीधी थी। और यह कहने से बड़ा विभ्रम फैलता। इससे लोग और उलझन में पड़ जाते। लोगों को सहारा देना है, उलझाना नहीं है।
तो तुम्हारा प्रश्न तो ठीक है, बहुत सी झंझटें बच जातीं अगर दोनों ने
एक ही मंच से बैठकर कह दिया होता कि हम दोनों एक ही बात कहते हैं--बहुत सी झंझटें बच जातीं, लेकिन बहुत से लाभ भी रुक जाते। झंझट बच जाती, झगड़ा खड़ा न होता। और लाभ रुक जाता, क्योंकि कोई चलता ही नहीं, झगड़ा करने वाला पीछे खड़ा ही नहीं होता। कोई चलता ही नहीं इस बात पर।
इस मनुष्य के मन की एक बुनियादी जरूरत है कि यह श्रद्धा की तलाश करता है। यह कुछ ऐसी बात चाहता है जिसको सुनिश्चित मन से ग्रहण कर सके। जिसमें जरा संदेह न हो। जिसको यह प्राणपण से स्वीकार कर सके। यह भरोसा मांग रहा है। यह कहता है, तुम ऐसी बात कह दो दो-टूक, जैसे दो और दो चार होते हैं। धुंधली-धुंधली बात मत कहो, उलझी-उलझी बात मत कहो, धुआं-धुआं बात मत कहो, साफ कह दो, लपट की तरह, धुएं से शून्य; थोड़ी सी कह दो मगर साफ कह दो जिसे मैं सम्हालकर रख लूं अपने हृदय में और जिसके सहारे मैं चल पडूं; मुझे निर्णय लेना है।
आदमी को निर्णय लेना है। निर्णय तभी लिया जा सकता है जब निश्चय हो। निश्चय के बिना निर्णय नहीं होगा। तो निर्णायक बात कह दो! इसलिए बुद्ध और महावीर जानते हुए भी ऐसा नहीं कहे कि जो मैं कहता हूं वही बुद्ध कहते हैं, जो बुद्ध कहते हैं वही मैं कहता हूं। ये दोनों साथ-साथ जीवित थे, एक ही इलाके में घूमते थे--बिहार को दोनों ने पवित्र किया--आज महावीर हैं इस गांव में, उनके जाने के बाद दूसरे दिन बुद्ध आ गए हैं। एक चौमासा महावीर का हुआ है, दूसरा चौमासा उसी गांव में बुद्ध का हुआ है। वे ही लोग जो महावीर को सुन रहे हैं, वे ही लोग बुद्ध को सुन रहे हैं। इनमें अनिश्चय पैदा न हो जाए, इसलिए दोनों यह जानते हुए भी कि जो वे कह रहे हैं एक ही है... ।
लेकिन यह एक ही उनके लिए है जो पहुंच गए, यह एक उनके लिए है जो शिखर पर खड़े होकर देखेंगे, उनके लिए सारे पहाड़ पर आते हुए रास्ते एक ही शिखर पर ला रहे हैं--पूरब से आता है, पश्चिम से, दक्षिण से, कुछ फर्क नहीं पड़ता। रेगिस्तान में होकर आता है कि हरे मरूद्यानों में होकर आता है; झरनों के पास से गुजरता है रास्ता, कि सूखा जहां कोई झरने नहीं ऐसा पहाड़ के रास्ते से आता है रास्ता, कोई फर्क नहीं पड़ता, सभी शिखर पर पहुंच जाते हैं।
शिखर पर खड़ा हो तो यह समझ में आ सकता है, या घाटी में भी पड़ा हो, लेकिन बुद्धि इतनी प्रखर हो गयी हो, साफ हो गयी हो, चिंतन-मनन प्रगाढ़ हो गया हो, समन्वय की क्षमता, विपरीत में भी उसी को देख लेने की कला आ गयी हो, तो शायद घाटी में पड़े हुए आदमी को भी समझ में आ जाए।
जो उस दिन केवल शिखर पर पहुंचे हुए लोगों को संभव था, वह आज पच्चीस सौ साल के बाद घाटी में भी कहा जा सकता है, इसीलिए मैं कह रहा हूं। जो मैं कह रहा हूं, यह बुद्ध ने भी कहना चाहा होता--बुद्ध तड़फे होंगे यह कहने को, नहीं कह सके। मैं भी कुछ बातें कहने को तड़फता हूं, वह पच्चीस सौ साल बाद कोई कहेगा; क्योंकि मैं तुमसे कहूंगा तो तुम नाराज हो जाओगे। मुझसे कितने लोग नाराज हैं। कुछ ऐसी ही बातों से नाराज हैं। जो वे नहीं सुनना चाहते थे, जिनकी सुनने की क्षमता अभी नहीं थी, वह मैंने कह दीं।
थोड़ी बातें तो कहनी ही पड़ेंगी, नहीं तो तुम आगे बढ़ोगे ही नहीं। सारी बातें नहीं कह सकता हूं, क्योंकि अनंतकाल पड़ा है, इस अनंतकाल में आदमी न मालूम कितनी-कितनी नयी विभाओं में, नयी दिशाओं में विकास करेगा। जब नयी चेतना अवतरित होने लगेगी तो नयी बातें कहना संभव हो जाएगा।
शत्रुता बच सकती थी, जैन और बौद्ध आपस में न लड़ते यह हो सकता था, लेकिन
यह बड़ी कीमत पर होता। कीमत यह होती कि न कोई जैन होता, न कोई बौद्ध होता, झगड़े का सवाल ही न था। झगड़ा तो तब हो न जब कोई बौद्ध हो जाए और कोई जैन हो जाए। झगड़ा भी निश्चय का परिणाम है। जब एक आदमी निश्चय से मान लेता है कि महावीर ठीक हैं और दूसरा आदमी निश्चय से मान लेता कि बुद्ध ठीक हैं, तो उनके बीच कलह शुरू होती है, तो विवाद शुरू होता है।
तो लाभ भी न होता, हानि भी न होती। अगर ऐसा ही था, तो फिर यही उचित था जो हुआ--हानि भला हो जाए, कुछ लाभ तो हो। और जो लड़े-झगड़े, वे किसी और बहाने से

लड़ते-झगड़ते। ख्याल रखना, झगड़ना जिन्हें है, उनको बहानों भर का फर्क है, वे किसी और बहाने से लड़ते-झगड़ते। लड़ने वाले की लड़ाई इतनी आसानी से हटने वाली नहीं है, वह नए बहाने खोज लेता है।
तुमने देखा? हिंदुस्तान गुलाम था, हिंदू-मुसलमान झगड़ते थे। झगड़ा टले, हिंदुस्तान-पाकिस्तान बंट गए। सोचा था बांटने वालों ने कि इस तरह यह झगड़ा टल जाएगा--दोनों को देश मिल गए, अब तो कोई झगड़ा नहीं है, अब तो बात खतम हो गयी, मुसलमान शांति से रहेंगे, हिंदू शांति से रहेंगे। लेकिन रहे शांति से? तब बंगाली मुसलमान पंजाबी मुसलमान से लड़ने लगा। तब गुजराती महाराष्ट्रियन से लड़ने लगा। तब हिंदी बोलने वाला गैर-हिंदी बोलने वाले हिंदू से लड़ने लगा।
ये पहले न लड़े थे, कभी तुमने ख्याल किया? जब तक हिंदू-मुसलमान लड़ रहे थे, तब तक गुजराती और मराठी नहीं लड़ रहे थे, तब तक हिंदी और तमिल नहीं लड़ रहे थे। तब तक बंगाली मुसलमान और पंजाबी मुसलमान में गहरा भाईचारा था-- दोनों मुसलमान थे, लड़ने की बात ही कहां थी? दोनों को हिंदू से लड़ना था, दोनों इकट्ठे थे। हिंदू भी इकट्ठे थे--मुसलमान से लड़ना था।
अब मुसलमान तो कट गया, मुसलमान का पाकिस्तान हो गया, हिंदू का हिंदुस्तान हो गया, अब किससे लड़ें? और लड़ने वाली बुद्धि तो वही है, वहीं के वहीं हैं। लड़ना तो पड़ेगा ही, नए बहाने खोजने पड़ेंगे। तो बंगाल कट गया, पाकिस्तान से भयंकर युद्ध हुआ। हिंदू-मुसलमान भी इस बुरी तरह कभी न लड़े थे जैसे मुसलमान-मुसलमान लड़े।
और इन बीस-तीस सालों में हिंदू हजार ढंग से लड़ रहे हैं। किससे लड़ रहे
हो अब? अब कोई भी छोटा बहाना कि एक जिला महाराष्ट्र में रहे कि मैसूर में रहे, बस पर्याप्त है झगड़े के लिए, छुरेबाजी हो जाएगी। कि बंबई राजधानी महाराष्ट्र की बने कि गुजरात की, छुरेबाजी हो जाएगी। कि इस देश की भाषा कौन हो--हिंदी हो, कि तमिल हो, कि बंगाली हो--कि बस झगड़ा शुरू। और तुम यह मत सोचना कि यह झगड़ा ऐसा आसान है। इसको निपटा दो--हिंदी-भाषियों का एक प्रांत बना दो कि चलो सारे हिंदी-भाषियों का एक प्रांत, सारे गैर-हिंदी भाषियों का दूसरा प्रांत--तुम पाओगे हिंदी-भाषी आपस में लड़ने लगे। क्योंकि उसमें भी कई बोलियां हैं। ब्रज भाषा है, और मगधी है, और बुंदेलखंडी है, और छत्तीसगढ़ी है, झगड़े शुरू!
आदमी को लड़ना है तो वह नए बहाने खोज लेगा। लड़ना ही है तो कोई भी निमित्त काम देता है।
तो मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं, जिन्हें लड़ना था वे तो लड़ते ही, इसलिए उनको ध्यान में रखकर जिनको लाभ हो सकता है उनका लाभ न हो, यह कोई हितकर बात न होती।
तो बुद्ध-महावीर ने जिनका लाभ हो सकता था, उनको पुकारा; जिनको निश्चय मिल सकता था, उनको पुकारा; जिनको श्रद्धा जम सकती थी, उनको पुकारा; और उनसे कहा कि यही मार्ग है, बस यही मार्ग है। ताकि वे अटूट भाव से, प्रगाढ़ भाव से संलग्न हो जाएं, उनके मन में कोई दुविधा न रहे कि दूसरा भी कोई मार्ग हो सकता है। कुछ लोग पहुंचे। कुछ लोग महावीर के मार्ग से पहुंचे, कुछ लोग बुद्ध के मार्ग से पहुंचे।
हां, बहुत लड़ते रहे, यह लड़ने वालों की फिकर ही छोड़ दो, ये लड़ते ही रहते।
ये महावीर-बुद्ध के नाम से न लड़ते, किसी और नाम से लड़ते। इन्हें लड़ना ही है।
लेकिन आज हालत बदली है, आज हवा बदली है। आज दुनिया बेहतर जगह में है। दुनिया सिकुड़ गयी है। विज्ञान ने बड़ी छोटी कर दी दुनिया। अब लोग बाइबिल भी पढ़ते हैं, गीता भी पढ़ते हैं, धम्मपद भी पढ़ते हैं। अब मैं यहां धम्मपद पर बोल रहा हूं महीनों से, तो कोई ऐसा थोड़े ही है कि बुद्ध को मानने वाले ही मुझे सुन रहे हैं! हिंदू भी सुन रहा है, जैन भी सुन रहा है, मुसलमान भी सुन रहा है, ईसाई भी सुन रहा है। यह संभव नहीं था अतीत में। यह पहली दफा घटना संभव हो रही है। दुनिया करीब आयी है, भाईचारा बढ़ा है, और लोगों की क्षुद्र सीमाएं थोड़ी टूटी हैं।

सभी की टूट गयीं, ऐसा भी नहीं कह रहा हूं। जिनकी टूट गयी हैं वे भविष्य
के मालिक हैं, जिनकी टूट गयी हैं वे भविष्य के पुत्र हैं, जो समय के पहले आ गए हैं, उनके हाथ से भविष्य का निर्माण होगा। वे ही थोड़े से लोग भविष्य के निर्माता हैं। बाकी तो अतीत के अंधेरे में सरक रहे हैं, उनका कोई मूल्य नहीं है। जिनको भविष्य की थोड़ी समझ है, जिनकी चेतना में थोड़ा प्रकाश हुआ है, उनको एक बात दिखायी पड़नी शुरू हो गयी है कि यह पृथ्वी एक है, आदमी आदमी एक है--न गोरा और काला अलग है, न हिंदू-मुसलमान अलग है, न ब्राह्मण-शूद्र अलग है--हम सब एक इकट्ठी मानवता हैं, और मनुष्य की सारी धरोहर हमारी धरोहर है। कृष्ण हों कि क्राइस्ट, और जरथुस्त्र हों कि महावीर, और बुद्ध हों कि सरहा, सब हमारे हैं। और हमें सबको आत्मसात कर लेना है। हमें सबको पी लेना है।
और आज एक ऐसी संभावना बन रही है कि इतनी बात कहने पर कि सभी ठीक हैं, लोग विभ्रमित नहीं होंगे। सच तो यह है कि अब लोग इसी के माध्यम से गति कर सकते हैं। अब तो यह बात ही जानकर भ्रम पैदा होता है कि महावीर ठीक और बुद्ध गलत, कृष्ण ठीक और क्राइस्ट गलत। अब तो अगर कृष्ण गलत हैं तो क्राइस्ट के मानने वाले को भी शक होता है--अगर कृष्ण गलत हैं तो फिर क्राइस्ट कैसे सही होंगे! क्योंकि बात तो करीब-करीब एक ही कहते हैं। अगर महावीर गलत हैं तो फिर बुद्ध भी सही नहीं हो सकते, यह आज बौद्ध के मन में भी सवाल उठने लगा है। यह सवाल कभी नहीं उठता था।
अब ऐसा समझो कि महावीर हैं, कृष्ण हैं, क्राइस्ट हैं, मूसा हैं, जरथुस्त्र हैं, कबीर हैं, नानक हैं, लाखों संतपुरुष हुए, इनमें से बस तुम जिसको मानते हो वही सही है, और शेष सब गलत हैं! जरा सोचो, इस बात का अर्थ क्या होगा? तुम नानक को मानते हो, बस नानक सही हैं, और सब गलत हैं! आज एक नयी शंका पैदा होगी--अगर और सब गलत हैं, तो बहुत संभावना इसकी है कि नानक भी गलत हों। निन्यानबे गलत हैं और सिर्फ नानक सही हैं! और जो निन्यानबे गलत हैं, वे नानक जैसी ही बात कहते हैं! अब तो अगर नानक को भी सही होना है तो बाकी निन्यानबे को भी सही होना पड़ेगा। यह एक नयी घटना है।
पुराने दिनों में बात उलटी थी, अगर नानक को सही होना था तो निन्यानबे
को गलत होना जरूरी था। तभी लोग, मंदबुद्धि, संकीर्णबुद्धि लोग चल सकते थे। आज हालत ठीक उलटी है। पूरा चाक घूम गया। आज हालत यह है, अगर नानक को सही होना है, तो कबीर को भी सही होना है, तो लाओत्से को भी सही होना है, तो बोकोजू को भी सही होना है। तो दुनिया में जहां-जहां संत हुए--किसी रंगरूप के, किसी ढंग के, किसी भाषा, किसी शैली के--उन सब को सही होना है, तो ही नानक भी सही हो सकते हैं। अब नानक अकेले खड़े होना चाहें तो खड़े न हो सकेंगे। अब तो सब के साथ ही खड़े हो सकते हैं।
मनुष्य की बिरादरी बड़ी हुई है। एक नया आकाश सामने खुला है। जैसे विज्ञान एक है, ऐसे ही भविष्य में धर्म भी एक ही होगा। एक का मतलब यह होता है कि जब दो और दो चार होते हैं कहीं भी--चाहे तिब्बत में जोड़ो, चाहे चीन में जोड़ो, चाहे हिंदुस्तान में, चाहे पाकिस्तान में--जब दो और दो चार ही होते हैं। पानी को कहीं भी गरम करो भाप बनता है--चाहे अमरीका में, चाहे अफ्रीका में, चाहे आस्ट्रेलिया में--सौ डिग्री पर भाप बनता है, कहीं भी ना- नुच नहीं करता, यह नहीं कहता कि यह आस्ट्रेलिया है, छोड़ो जी, यहां हम निन्यानबे डिग्री पर भाप बनेंगे! अगर प्रकृति के नियम सब तरफ एक हैं, तो परमात्मा के नियम अलग-अलग कैसे हो जाएंगे? अगर बाहर के नियम एक हैं, तो भीतर के नियम भी एक ही होंगे।
विज्ञान ने पहली भूमिका रख दी है। विज्ञान एक है। अब हिंदुओं की कोई केमिस्ट्री और मुसलमानों की केमिस्ट्री तो नहीं होती, केमिस्ट्री तो बस केमिस्ट्री होती है। और फिजिक्स ईसाइयों की अलग और जैनों की अलग, ऐसा तो नहीं होता। ऐसा होता था पुराने दिनों में। तुम चकित होओगे जानकर, जैनों की अलग भूगोल है, बौद्धों की अलग भूगोल है। भूगोल! कुछ तो अकल लगाओ! भूगोल अलग-अलग! मगर वह भूगोल ही और थी। उस भूगोल में स्वर्ग-नर्कों का हिसाब था। इस जमीन की तो भूगोल थी नहीं वह। इस जमीन की भूगोल का तो कुछ पता ही न था! वह भूगोल काल्पनिक थी। सात स्वर्ग हैं किसी के भूगोल में, किसी के भूगोल में

तीन स्वर्ग हैं, किसी के भूगोल में और ज्यादा स्वर्ग हैं, किसी के भूगोल में सात नर्क हैं, कहीं सात सौ नर्क हैं। कल्पना का जगत था वह। नक्शे तैयार किए थे, मगर सब कल्पना का जाल था। तो भूगोल अलग-अलग थे।
लेकिन यह भूगोल कैसे अलग हो? यह वास्तविक भूगोल कैसे अलग हो? यह तो एक है। अगर यह एक है, तो अंतर्जगत का भूगोल भी अलग-अलग नहीं हो सकता। मनोविज्ञान उसके पत्थर रख रहा है, बुनियाद रख रहा है। जैसे मनुष्य के शरीर के नियम एक हैं, वैसे ही मनुष्य के मन के नियम एक हैं। और वैसे ही मनुष्य की आत्मा के नियम भी एक हैं। अभी संभावना बननी शुरू हुई कि हम उस एक विज्ञान को खोज लें, उस एक शाश्वत नियम को खोज लें।
अतीत में जो कहा गया है, वह उसी की तरफ इशारा है, लेकिन इतना साफ नहीं
था जितना आज हो सकता है। मनुष्य इस भांति कभी तैयार न था, जिस भांति अब तैयार है। भविष्य का धर्म एक होगा। भविष्य में हिंदू-मुसलमान-ईसाई नहीं होंगे, भविष्य में धार्मिक होंगे और अधार्मिक होंगे।
फिर धर्म की शैलियां अलग हो सकती हैं। किसी को रुचिकर लगता है प्रार्थना, तो रुचि से प्रार्थना करे, लेकिन इससे कुछ झगड़ा नहीं है। किसी को रुचिकर लगता है ध्यान, तो ध्यान करे। और किसी को मंदिर के स्थापत्य में लगाव है, तो मंदिर जाए। और किसी को मस्जिद की बनावट में रुचि है और मस्जिद के मीनार मन को मोहते हैं, तो मस्जिद जाए। लेकिन यह धर्म से इसका कोई संबंध नहीं है, स्थापत्य से संबंध है, सौंदर्य-बोध से संबंध है।
तुम अपना मकान एक ढंग से बनाते हो, मैं अपना मकान एक ढंग से बनाता हूं, इससे कोई झगड़ा तो खड़ा नहीं होता। मैं अपने भगवान का मकान एक ढंग से बनाता हूं, तुम अपने भगवान का मकान एक ढंग से बनाते हो, इससे झगड़ा खड़ा क्यों हो? मैं अपना मकान बनाता हूं गोल, तुम चौकोन, इससे कोई झगड़ा खड़ा नहीं होता। झगड़े की जरूरत ही नहीं, तुम्हारी पसंद अलग, मेरी पसंद अलग; हम दोनों जानते हैं कि मकान का प्रयोजन एक कि मैं इस गोल मकान में रहूंगा, तुम उस चौकोन मकान में रहोगे। रहने के लिए मकान बनाते हैं।
इतनी स्वतंत्रता तो होनी ही चाहिए कि जिसको जैसी मर्जी हो, वैसा मकान बना ले। पुराने ढंग का बनाए, नए ढंग का बनाए; प्राचीन शैली का बनाए कि कोई नयी शैली खोजे; छप्पर ऊंचा रखे कि नीचा; बगीचा लगाए कि न लगाए; पौधों का बगीचा लगाए कि रेत ही फैला दे; अपनी मौज! इसमें हम झगड़ा नहीं करते। न हम यह कहते हैं कि तुम तिरछे मकान में रहते, तुम गोल मकान में रहते, मैं चौकोर मकान में रहता, हम अलग-अलग हैं, हम में झगड़ा होगा, हमारे सिद्धांत अलग हैं। इससे ज्यादा भेद मंदिर-मस्जिद में भी नहीं है। अपनी-अपनी मौज! मस्जिद
भी बड़ी प्यारी है। जरा हिंदू की आंख से हटाकर देखना, तो मस्जिद में भी बड़ी आकांक्षा प्रगट हुई है। वे मस्जिद की उठती हुई मीनारें आकाश की तरफ, मनुष्य की आकांक्षा की प्रतीक हैं--आकाश को छूने के लिए। मस्जिद का सन्नाटा, मस्जिद की शांति, मूर्ति भी नहीं है एक, चित्र भी नहीं है एक-- क्योंकि मूर्ति और चित्र भी बाधा डालते हैं--सन्नाटा है, जैसा सन्नाटा भीतर हो जाना चाहिए ध्यान में, वैसा सन्नाटा है। मस्जिद का अपना सौंदर्य है। खाली सौंदर्य है मस्जिद का। शून्य का सौंदर्य है मस्जिद का।
मंदिर की अपनी मौज है। मंदिर ज्यादा उत्सव से भरा हुआ है, रंग-बिरंगा है, मूर्तियां हैं कई तरह की, छोटी-बड़ी, लेकिन मंदिर अपना उत्सव रखता है-- घंटा है, घंटा बजाओ, भगवान को जगाओ, खुद भी जागो, पूजा करो। मंदिर की गोल गुंबद, मंडप का आकार, उसके नीचे उठते हुए मंत्रों का उच्चार, तुम पर वापस गिरती वाणी--मंत्र तुम पर फिर-फिर बरस जाते। एक मंदिर में जाकर ओंकार का नाद करो, सारा मंदिर गुंजा देता है, सब लौटा देता है, तुम पर फिर उंडेल देता है; एक घंटा बजाओ, फिर उसकी प्रतिध्वनि गूंजती रहती है। यह संसार परमात्मा की प्रतिध्वनि है, माया है। परमात्मा मूल है, यह संसार प्रतिध्वनि है, छाया है। मंदिर अलग भाषा है। मगर इशारा तो वही है। फिर हजार तरह के मंदिर हैं।
दुनिया में धार्मिक और अधार्मिक बचेंगे। लेकिन हिंदू-मुसलमान-ईसाई नहीं होने चाहिए। यह भविष्य की बात है। यहां जो प्रयोग घट रहा है वह उस भविष्य के लिए बड़ा छोटा सा प्रयोग है, लेकिन उसमें बड़ी संभावना निहित है।

मुझसे लोग आकर पूछते हैं कि आप लोगों को क्या बना रहे हैं? एक ईसाई मिशनरी ने मुझसे आकर पूछा कि अनेक ईसाई आपके पास आते हैं, आप इनको हिंदू बना रहे हैं? मैंने कहा, मैं खुद ही हिंदू नहीं तो इनको कैसे हिंदू बनाऊंगा? तो उसने पूछा, आप कौन हैं?
मैं सिर्फ धार्मिक हूं, इनको धार्मिक बना रहा हूं। और इनको मैं इनके गिरजे से तोड़ नहीं रहा हूं, वस्तुतः जोड़ रहा हूं। मेरे पास आकर अगर ईसाई और ईसाई न हो जाए, तो मेरे पास आया नहीं। मुसलमान अगर और मुसलमान न हो जाए, ठीक पहले दफा मुसलमान न हो जाए, तो मेरे पास आया नहीं। हिंदू मेरे पास आकर और हिंदू हो जाना चाहिए। मेरा प्रयोजन बहुत अन्यथा है। वे पुराने दिन गए! वह पुराने आदमी की संकीर्ण चेतना गयी!
पर महावीर और बुद्ध चाहते भी तो यह नहीं कर सकते थे। क्योंकि मैं जानता हूं अपने तईं, कि बहुत सी बातें मैं चाहता हूं, लेकिन नहीं कर सकता हूं--तुम तैयार नहीं हो। उन्हीं थोड़ी सी बातों को करने की कोशिश में तो भीड़ छंटती गयी है मेरे पास से। क्योंकि जो भी मैं चाहता हूं करना, अगर वह जरा जरूरत से ज्यादा हो जाता है तो तुम्हारी हिम्मत के बाहर हो जाता है, तुम भाग खड़े होते हो। तुम मेरे दुश्मन हो जाते हो। थोड़े दुस्साहसी बचे हैं, इनके भी साहस की सीमा है। अगर मुझे इनको भी छांटना हो तो एक दिन में छांट दे सकता हूं, इसमें कोई अड़चन नहीं है। इनका साहस मुझे पता है, कितने दूर तक इनका साहस है। उसके पार की बात ये न सुन सकेंगे। उसके पार ये कहेंगे--तो फिर अब चले! अब आप जानो!
अगर मैं सारे भविष्य की बात तुमसे कह दूं, तो शायद मेरे अतिरिक्त यहां कोई सुनने वाला नहीं बचेगा। तब कहने का कोई अर्थ न होगा, उसे तो मैं जानता ही हूं, कहना क्या है!
तो जब भी किसी व्यक्ति को सत्य का अनुभव हुआ है, वह अनुभव तो एक ही है, लेकिन जब वह उस अनुभव को शब्दों में बांधता है, तो सुनने वाले को देखकर बांधता है। देखने में दो बातें स्मरण रखनी पड़ती हैं--एक, जो इससे कहा जाए वह इससे बिल्कुल ही तालमेल न खा जाए, नहीं तो यह विकसित नहीं होगा। और इसके बिल्कुल विपरीत न पड़ जाए, अन्यथा यह चलेगा ही नहीं। इन दोनों के बीच संतुलन बनाना पड़ता है। कुछ तो ऐसा कहो जो इससे मेल खाता है, ताकि यह अटका रहे। और कुछ ऐसा कहो जो इससे मेल नहीं खाता, ताकि यह बढ़े।
तुम देखे न, जब सीढ़ियां चढ़ते हो तो कैसे चढ़ते हो? एक पैर एक सीढ़ी पर रखते हो, जमा लेते हो, फिर दूसरा पैर उठाते हो। एक पुरानी सीढ़ी पर जमा रहता है, दूसरा नयी सीढ़ी पर रखते हो। जब दूसरा नयी सीढ़ी पर मजबूती से जम जाता है, तब फिर तुम पुरानी सीढ़ी से पैर उठाते हो। एक पैर जमा रहे पुराने में और एक पैर नए की तरफ उठे तो ही गति होती है। दोनों पैर एक साथ उठा लिए तो हड्डी- पसली टूट जाएगी--गिरोगे। और दोनों जमाए खड़े रहे तो भी विकास नहीं होगा और दोनों एक साथ उठा लिए तो भी विकास नहीं होगा। विकास होता है--एक जमा रहे पुराने में, एक नए की तरफ खोज करता रहे। इस संतुलन को ही ध्यान में रखना होता है।
तो तुमसे इसीलिए तो मैं गीता पर बोलता हूं, ताकि पुराने पर पैर जमा रहे एक। मगर गीता पर मैं वही नहीं बोलता जो तुम्हारे और बोलने वाले बोल रहे हैं, दूसरा पैर तुम्हारा सरका रहा हूं पूरे वक्त। धम्मपद पर बोल रहा हूं; लेकिन कोई बौद्ध धम्मपद पर इस तरह नहीं बोला है जैसे मैं बोल रहा हूं, क्योंकि मेरी नजर और है--एक पैर जमा रहे; एक पैर तुम निश्चिंत रख लो कि चलो भगवान बुद्ध की ही तो बात हो रही है, कोई हर्जा नहीं। दूसरा पैर मैं सरका रहा हूं। महावीर पर बोलता हूं। तुम बड़े प्रसन्न होकर सुनते हो कि चलो भगवान महावीर की बात हो रही है। निश्चिंत हो जाते हो। तुम अपना सब सुरक्षा का उपाय छोड़कर बिल्कुल बैठ जाते हो तैयार होकर कि चलो यह तो अपनी ही बात हो रही है, उसी बीच तुम्हारा एक पैर मैं सरका रहा हूं। तुम जितने निश्चिंत हो जाते हो, उतनी ही मुझे सुविधा हो जाती है।
तुम्हें निश्चिंत करने को बोलता हूं गीता पर, बाइबिल पर, धम्मपद पर, महावीर पर। तुम निश्चिंत हो जाते हो। तुम कहते हो, यह तो पुरानी बात है, अपने ही शास्त्र की बात हो रही है, इसमें कुछ खतरा नहीं है। खतरा नहीं है,

ऐसा सोचकर तुम अपनी ढाल-तलवार रख देते हो। वहीं खतरा शुरू होता है। वहीं से मैं तुम्हें थोड़ा आगे खींच लेता हूं।

दूसरा प्रश्नः जिस तरह आप श्री जे. कृष्णमूर्ति के संबंध में प्रेम
और स्तुति के साथ बोलते हैं, वैसा वे आपके बारे में नहीं बोलते हैं। कभी- कभी तो लगता है कि वे कुछ अन्यथा कहने जा रहे हैं, लेकिन फिर टाल जाते हैं। फलस्वरूप आपके शिष्य तो बड़े प्रेम से कृष्णमूर्ति को सुनने जाते हैं, लेकिन उनके मानने वाले आपके पास खुले दिल से नहीं आते। कृपाकर समझाएं।

कृष्णमूर्ति जो कहते हैं, सर्वांशतः सही है। सौ प्रतिशत सही है। लेकिन कृष्णमूर्ति का रास्ता बहुत संकीर्ण है। पूरा सही है, पगडंडी जैसा है। मेरा रास्ता बड़ा राजपथ है। मेरे पथ पर बुद्ध, कृष्ण, क्राइस्ट, मोजिज, जरथुस्त्र, बोधिधर्म, लाओत्सू, सब समा जाते हैं। तो कृष्णमूर्ति को भी मैं उसमें समा लेता हूं, कुछ अड़चन नहीं आती; मेरा घर बड़ा है। कृष्णमूर्ति रहते हैं छोटी कोठरी में। कोठरी बिल्कुल भली है, कुछ गड़बड़ नहीं है। मेरे बड़े घर में कृष्णमूर्ति की कोठरी तो समा जाती है, लेकिन मेरा बड़ा घर कृष्णमूर्ति की कोठरी में नहीं समा सकता।
कृष्णमूर्ति हीनयानी हैं, मैं महायानी हूं। कृष्णमूर्ति की डोंगी है छोटी सी--डोंगी जानते हो न, छोटे गांवों में ज्यादा से ज्यादा एकाध आदमी बैठकर चला लेता है, मछली मार आया--मेरा पोत बड़ा है, बड़ा जहाज है, महायान। उसमें आओ सब दिशाओं से लोग, सब तरह के लोग, सब शास्त्रों को मानने वाले, सब सिद्धांतों को मानने वाले, सबके लिए जगह है। इसलिए।
कृष्णमूर्ति बिल्कुल सही हैं, लेकिन कृष्णमूर्ति का एक बहुत संकीर्ण रास्ता है। उस रास्ते से पहुंच जाओगे--जो चलते हैं, उनको मैं कहता नहीं कि छोड़ो--जरूर पहुंच जाओगे, चलते रहो, वह रास्ता पहुंचाता है, लेकिन पगडंडी जैसा है। पगडंडी भी पहुंचाती है। लेकिन इतना मैं कहना चाहता हूं कि ऐसा मत सोचना कि उस रास्ते पर जो नहीं चल रहे हैं, वे कोई भी नहीं पहुंचते। वे भी पहुंच जाते हैं। राजपथ पर चलने वाले भी पहुंच जाते हैं। सिर्फ राजपथ ही है, इस कारण नहीं पहुंचते, ऐसा मत सोच लेना।
तो मेरी और कृष्णमूर्ति की स्थिति भिन्न-भिन्न है। मैं तो उनकी मजे
से स्तुति कर सकता हूं, मुझे कुछ अड़चन नहीं है, मेरी बात के विपरीत उनकी बात नहीं पड़ती है। लेकिन वे मेरी स्तुति नहीं कर सकते हैं, क्योंकि मेरी बात उनके विपरीत पड़ जाएगी। उन्होंने जो एक साफ-सुथरा सा रास्ता बनाया है, अगर वे एक दफे भी कह दें कि मैं ठीक कह रहा हूं, तो उनका सारा रास्ता गड़बड़ हो जाएगा। क्योंकि मैंने तो सारे रास्तों को ठीक कहा है, मुझको तो वही ठीक कह सकता है जो सारे रास्तों को ठीक कहे--ख्याल रखना। मैं तो किसी रास्ते को गलत कहता नहीं हूं। इतनी समायी कृष्णमूर्ति की नहीं है।
इसमें मैं कुछ यह भी नहीं कह रहा हूं कि इसमें कुछ गलती है। अपनी-अपनी मौज है। कुछ लोगों को पगडंडी से चलने में मजा आता है, हर्जा कुछ भी नहीं है। मजे से चलें। जो थक गया हो अपनी डोंगी में और पगडंडी पर चलते-चलते, उसको मैं कहता हूं कि अगर थक गए हो तो घबड़ाओ न, जहाज में सम्मिलित हो जाओ, तुम्हारी डोंगी भी ले आओ, उसको भी रख लो। कभी तुम्हारी मर्जी हो तो फिर अपनी डोंगी तैरा देना, फिर उतर जाना। तुम्हारी पगडंडी भी समा जाएगी इस बड़े रास्ते पर, उसको भी ले लो साथ। किसी दिन थक जाओ भीड़-भाड़ से, बड़े रास्ते के शोरगुल-उत्सव से, अपनी पगडंडी लेकर अलग उतर जाना।
कृष्णमूर्ति को अड़चन है। वे मेरी बात को ठीक नहीं कह सकते हैं। कहेंगे तो उनका सारा रास्ता डगमगा जाएगा। मेरी बात को ठीक कहने का मतलब तो है कि सारा उपद्रव मोल ले लिया। क्योंकि मेरी बात में कृष्ण की बात सम्मिलित है, मेरी बात में बुद्ध की बात सम्मिलित है, मेरी बात में महावीर की बात सम्मिलित है, मेरी बात में मोहम्मद की बात सम्मिलित है। मुझे हां कहने का मतलब तो यह हुआ कि मनुष्य-जाति में जो भी चैतन्य के अब तक स्रोत हुए हैं, सबको ठीक कहना पड़ेगा। इतना खतरा कृष्णमूर्ति नहीं ले सकते। इससे उनका जो साफ-सुथरा मार्ग है, वह सब अस्तव्यस्त हो जाएगा।

कृष्णमूर्ति ने एक बगिया बनायी है--साफ-सुथरी है, गणित की तरह साफ-सुथरी--मेरा हिसाब तो जंगल जैसा है। साफ-सुथरा नहीं है, जंगल साफ-सुथरा हो भी नहीं सकता। तुम एक बगीचा बनाते हो, लान लगाते हो, क्यारी सजाते हो, सब साफ-सुथरा कर लेते हो, ऐसा कृष्णमूर्ति का हिसाब है। इसलिए जिनका गणित बहुत प्रखर है और जो केवल बुद्धि से ही चल सकते हैं, उनको कृष्णमूर्ति की बात बिल्कुल ठीक लगेगी। गणित जैसी है, तर्कयुक्त है।
मेरा हिसाब तो जंगल जैसा है। मेरा हिसाब ज्यादा नैसर्गिक है। मैंने बहुत बनाने की कोशिश नहीं की है उसको, जैसा है वैसा स्वीकार कर लिया है, मेरा मार्ग सहज है। जिनको जंगल में जाने की हिम्मत हो, वे मेरे साथ चलें। जिनको ऊबड़-खाबड़ में भी चलने की हिम्मत हो, वे मेरे साथ चलें। जिनको अतर्क में उतरने की हिम्मत हो, वे मेरे साथ चलें। अतर्क तर्क के विपरीत नहीं है, तर्क के पार है। तो अतर्क में तर्क तो समा जाता है, लेकिन तर्क में अतर्क नहीं समाता। ऐसी अड़चन है।
इससे कृष्णमूर्ति पर नाराज मत होना। उनकी अपनी व्यवस्था है, उनका अपना एक अनुशासन है। उस अनुशासन को सम्हालते हुए वे मुझे हां नहीं भर सकते। मुझे हां भरें तो अनुशासन टूट जाएगा। यह मैं भी नहीं चाहूंगा कि उनका अनुशासन टूटे; उस अनुशासन से कुछ लोग चल रहे हैं, पहुंच जाएंगे। उनको अपना अनुशासन मजबूती से कायम रखना चाहिए। उनको जंगल को बगीचे में नहीं घुसने देना चाहिए। यह बिल्कुल ठीक है। क्योंकि जंगल अगर बगीचे में आ गया तो तुम्हारी सब जमायी हुई व्यवस्था उखड़ जाएगी। तुम्हारा लान क्या होगा? तुम्हारी पगडंडियां तुमने बनायीं, उनका क्या होगा? तुमने जो रास्ते साफ-सुथरे किए थे, उनका क्या होगा? नहीं, जंगल को तुम्हारे बगीचे में नहीं आने देना चाहिए, उसे रोककर रखना पड़ेगा।
इसलिए तुम ठीक ही कहते हो कि "कभी-कभी तो लगता है कि वे कुछ अन्यथा कहने जा रहे हैं, लेकिन फिर टाल जाते हैं।"
वे मेरे पक्ष में तो बोल नहीं सकते। यह बात सुनिश्चित है। वे मेरे विपक्ष में भी नहीं बोलते। क्योंकि जानते तो हैं वे कि जो मैं कह रहा हूं, ठीक कह रहा हूं। इसलिए विपक्ष में बोल नहीं सकते।
इस बात को ख्याल में लेना। मेरे पक्ष में बोल नहीं सकते, क्योंकि उससे उन्होंने जो व्यवस्था बनायी है वह बिगड़ जाएगी। मेरे विपक्ष में बोल नहीं सकते, क्योंकि वे जानते हैं कि जो मैं कह रहा हूं, वह ठीक है। स्वयं के तईं तो वे जानते हैं कि जो मैं कह रहा हूं, वह ठीक है।
एक बार ऐसा हुआ कि मैं बंबई आया--उसी सांझ आया कलकत्ते से और रात ही मुझे दिल्ली जाना था--कृष्णमूर्ति बंबई थे। किसी ने कृष्णमूर्ति को कहा होगा कि मैं आया हुआ हूं। उन्होंने कहा, इसी वक्त मिलने का इंतजाम करो। वह मित्र भागे हुए आए। उनका नाम था परमानंद कापड़िया, गुजराती के एक संपादक थे, लेखक थे, वे एकदम भागे हुए आए। मैं जब एअरपोर्ट जाने की तैयारी कर रहा था, गाड़ी में बैठ रहा था, तब वे पहुंचे। तो मैंने कहा, यह तो बड़ा मुश्किल हो गया! जरूर मिलना हो जाता, लेकिन अभी अड़चन है, मैं लौटकर आता हूं चार दिन बाद... लेकिन दूसरे दिन सुबह कृष्णमूर्ति जाने को थे लंदन वापस, तो मिलना नहीं हो पाया।
उनकी मिलने की उत्सुकता--तत्क्षण उन्होंने कहा, इसी समय कुछ इंतजाम करो कि हमारा मिलना हो जाए--इस बात का सबूत है कि जो मैं कह रहा हूं, जो मैं कर रहा हूं, उसमें भीतर से उनकी गवाही है, लेकिन बाहर से वे गवाही नहीं दे सकते। देनी भी नहीं चाहिए। देने से तो नुकसान होगा।
मुझे बड़ी सुविधा है। मुझे बड़ी छूट है। मैंने जिस ढंग की अव्यवस्था चुनी है-- कि आज भक्त पर बोलता हूं, कल ध्यानी पर बोलता हूं; आज इस मार्ग पर बोलता हूं, कल उस मार्ग पर बोलता हूं--मैंने जैसी अव्यवस्था चुनी है, उस अव्यवस्था के कारण मुझे जैसी स्वतंत्रता है, वैसी आज तक कभी किसी को नहीं थी। बुद्ध सीमित, महावीर सीमित, कृष्ण सीमित, क्राइस्ट सीमित, कृष्णमूर्ति सीमित, रामकृष्ण-रमण सीमित, उन सबकी सीमाएं हैं। वे उतना ही बोलते हैं जितनी उनकी व्यवस्था में आता है। उसके बाहर की बात या तो टाल जाते हैं, या इनकार कर देते हैं। मुझे बड़ी सुविधा है।

तो मैं तो कहता हूं, कृष्णमूर्ति ठीक हैं; जिसको रुचे, जरूर उनसे चले-- पहुंचेगा। मगर मैं यह आशा नहीं करता कि यही कृष्णमूर्ति मेरे संबंध में कहें। कहेंगे तो उनका रास्ता अस्तव्यस्त हो जाएगा।

तीसरा प्रश्नः क्या भगवान बुद्ध का सार-संदेश यही नहीं है कि व्यक्ति संसार के माया-मोह को आमूल छोड़ दे? लेकिन तब तो संसार के प्रति दया या करुणा का भाव भी कैसे रखा जा सकेगा?

इसे समझना।
संसार के प्रति बहुत माया-मोह हो तो दया का भाव बनेगा ही कैसे? जितना संसार के प्रति माया-मोह होता है, उतना ही चित्त कठोर, हिंसक, ईर्ष्यालु हो जाता है। जितना संसार की चीजों में लगाव होता है, उतना ही तुम्हारी देने की क्षमता कम हो जाती है, दया कम हो जाती है--दया यानी देने की क्षमता।
तो तुम्हारा प्रश्न बड़ा तर्कयुक्त मालूम होता है ऊपर-ऊपर, भीतर बिल्कुल पोचा है। तुम यह पूछ रहे हो कि अगर संसार के प्रति सब माया-मोह छोड़ दिया जाए, तो फिर तो करुणा-दया का भाव भी छूट जाएगा।
नहीं, इससे उलटी ही घटना घटती है। तुम जिस दिन सब माया-मोह छोड़ दोगे,
उस दिन तुम पाओगे करुणा ही करुणा बची। शुद्ध करुणा बची। वही ऊर्जा जो माया-मोह बनी थी, करुणा बनती है। संसार से माया-मोह छोड़ते ही तुम्हारे हृदय में सिर्फ एक ही भाव की तरंगें रह जाती हैं--करुणा की। सारे जगत को सुखी देखने का एक भाव रह जाता है। क्यों? क्योंकि अब तुम सुखी हो गए, और कोई भाव रहेगा भी कैसे! अब तुम आनंदित हो, तुम चाहोगे कि सारा जगत ऐसे ही आनंदित हो। अब तुम्हें पता चला कि इतना आनंद हो सकता है। और मुझे हो सकता है, तो सभी को हो सकता है।
इसी करुणा के कारण तो बुद्ध बोले। नहीं तो बोलते कैसे? जब माया-मोह ही समाप्त हो गया--अगर तुम्हारी बात सही होती--तो अब फिर समझाना क्या है? बोलना क्या है? अपनी आंख बंद कर ली होती, चुपचाप अपने में डूबकर समाप्त हो गए होते।
नहीं हो सके समाप्त। कोई कभी नहीं हो सका अपने में समाप्त। जब दुख में
थे तो चाहे जंगल भाग गए, लेकिन जब सुख मिला तो वापस बस्ती लौट आए। बांटना था! जंगल में किसको बांटते?
इस बात को ख्याल में लेना। महावीर भाग गए जंगल जब दुखी थे, बुद्ध भी भाग गए जंगल जब दुखी थे। जब दुखी थे तो भाग जाना एक अर्थ में उचित ही था, क्योंकि यहां रहते तो लोगों को दुख ही देते और क्या होता? दुख हो तो दुख ही हम देते हैं। भाग गए, हट गए यहां से, बीमार आदमी जंगल चला जाए, ताकि कम से कम औरों को तो बीमारी न फैलाए। संक्रामक रोग है तुम्हारा, अच्छा है जंगल चले जाओ। जब रोग कट जाए, स्वास्थ्य पैदा हो, तब लौट आना। क्योंकि जैसे रोग के कीटाणु होते हैं, वैसे ही स्वास्थ्य के भी कीटाणु होते हैं। जैसे रोग संक्रामक होता है, वैसे ही स्वास्थ्य भी संक्रामक होता है। तो परमज्ञानी पुरुष पहले तो भागे जंगल की तरफ; और जब पा लिया, जब हीरा हाथ लगा, तब लौट आए। तब लौटना ही पड़ा, अब यह हीरा बांटना भी तो पड़ेगा।
इस हीरे के मिलते ही एक बड़ा उत्तरदायित्व भी साथ में मिलता है कि अब इसे दो; यह सब को मिल सकता है, अब उनको खबर करो; जगाओ सोयों को, चिल्लाओ, मुंडेरों पर चढ़ जाओ, आवाज दो, पुकारो। कोई सोया न रह जाए, ऐसी चेष्टा करो।
चार दिन तुम्हारी जिंदगी के बचे हों, इनको पुकारने में लगा दो।
बुद्ध बयालीस साल जिंदा रहे ज्ञान के बाद, बयालीस साल अथक पुकारते रहे--सुबह-सांझ, गांव-गांव चिल्लाते फिरे। चालीस वर्ष महावीर भी ऐसे ही भटकते रहे, पुकारते रहे, चोट करते रहे, किसी भांति कोई जाग जाए।
एक छोटी सी कविता है रवींद्रनाथ ठाकुर की। कविता का नाम है--अभिसार। संन्यासी के जीवन-दर्शन की इसमें सुंदर झलक है। संन्यासी, जगत के भोग के लिए तो जगत को छोड़ देता है, पर सेवा के लिए नहीं। सेवा के लिए तो वह जगत का हो जाता है, पहली दफा जगत का हो जाता है, और सदा के लिए हो जाता है। भोग छोड़ने के कारण और भी ज्यादा जगत का हो जाता है। क्योंकि जब तक तुम जगत के

भोग में उत्सुक हो, तब तक तुम भिखारी हो; तुम मांग रहे हो जगत से, दोगे क्या खाक! जिस दिन तुमने भोग की आकांक्षा छोड़ दी, तुम मालिक बने, तुम सम्राट बने। अब तुम दे सकते हो। भोग के कारण हम सेवा चाहते हैं। भोग छोड़ने पर सेवा देने का प्रारंभ होता है।
इस कविता में रवींद्रनाथ ने कहा है--रात्रि का समय, यौवन-मद में मत्त नगर-नटी वासवदत्ता अभिसार को निकली है।
वेश्या को कहते थे उस समय नगर-नटी, नगर-वधू--सारे गांव की वधू। जो सुंदरतम लड़कियां होती थीं पुराने दिनों में, नगर की जो सुंदरतम युवती होती थी, उसे नगर-वधू बना देते थे, ताकि लोगों में संघर्ष न हो, कलह न हो, झगड़ा न हो। जो सुंदरतम है उसके लिए बहुत प्रतियोगिता मचेगी, झगड़ा होगा, कलह होगी। सुंदरतम को नगर-वधू बना देते थे कि वह सब की हो, एक की न हो। यह वासवदत्ता उस समय की बड़ी सुंदरी थी। बुद्ध के समय की कथा है यह, रवींद्रनाथ ने कविता उसी कथा पर लिखी है।
वासवदत्ता अभिसार को निकली है अपने रथ पर सवार होकर, फूलों से सजी। वह सुंदरतम युवती थी उन दिनों की। बौद्ध भिक्षु उपगुप्त को राह में देखकर ठिठक जाती है, रथ को रोक लेती है।
एक बौद्ध भिक्षु उपगुप्त, बुद्ध का एक शिष्य पास से गुजर रहा है। वासवदत्ता ने सम्राट देखे हैं, द्वार पर भीख मांगते सम्राट देखे हैं, उसके द्वार पर भीड़ लगी रहती थी राजपुत्रों की, सभी को उसका मिलन हो भी नहीं पाता था--बड़ी महंगी थी वासवदत्ता। लेकिन ऐसा सुंदर व्यक्ति उसने कभी देखा नहीं था, यह जो भिक्षु उपगुप्त। यह अपने पीत वस्त्रों में, भिक्षापात्र लिए, शांत मुद्रा में चला जा रहा है। इसने न तो रास्ता देखा, न भीड़भाड़ देखी है, न वासवदत्ता को देखा है, यह तो अपनी आंखों को चार फीट आगे--जैसा बुद्ध कहते थे, चार फीट से ज्यादा मत देखना--अपनी आंखों को गड़ाए चुपचाप राह से गुजर रहा है। इसके चलने में एक अपूर्व प्रसाद है, जो केवल संन्यासी के चलने में ही हो सकता है। जिसको कुछ लेना-देना नहीं है, उसके तनाव चले गए। वह यहां- वहां दुकानों पर लगे बोर्ड नहीं देख रहा है, न चीजें देख रहा है, न लोग देख रहा है। जब इस संसार से कुछ लेना ही न रहा, तो अब क्या देखना-दाखना! शांत है। अपने भीतर रमा चुपचाप चला जा रहा है।
संन्यासी अपूर्वरूप से सुंदर हो जाता है। संन्यास जैसा सौंदर्य देता
है मनुष्य को और कोई चीज नहीं देती। संन्यस्त होकर तुम सुंदर न हो जाओ, तो समझना कि कोई भूलचूक हो रही है। और संन्यासी का कोईशृंगार नहीं है। संन्यास इतना बड़ाशृंगार है कि फिर किसी औरशृंगार की कोई जरूरत नहीं है। तुमने देखा कि संसारी भोगी है। जवानी में शायद सुंदर होता हो, लेकिन जैसे-जैसे बुढ़ापा आने लगता है, असुंदर होने लगता है। लेकिन उससे उलटी घटना घटती है संन्यासी के जीवन में; जैसे-जैसे संन्यासी वृद्ध होने लगता है, वैसे-वैसे और सुंदर होने लगता है। क्योंकि संन्यास का कोई वार्द्धक्य होता ही नहीं, संन्यास कभी बूढ़ा होता नहीं। संन्यास तो चिर-युवा है। इसलिए तो हमने बुद्ध और महावीर की जो मूर्तियां बनायी हैं, वह उनके युवावस्था की बनायी हैं। इस बात की खबर देने के लिए कि संन्यासी चिर-युवा है। हमने अपूर्व सौंदर्य से भरी मूर्तियां बनायी हैं महावीर और बुद्ध की। उनके पास कुछ भी नहीं है, न कोई साज है, नशृंगार है--कृष्ण को तो सुविधा है, कृष्ण की मूर्ति को तो हम सजा लेते हैं, मोरमुकुट बांध देते, रेशम के वस्त्र पहना देते, घुंघरू पहना देते, हाथ में कंगन डाल देते, मोतियों का हार लटका देते--बुद्ध और महावीर के पास तो कुछ भी नहीं है। बुद्ध के पास तो एक चीवर है जिसको ओढ़ा हुआ है, महावीर के पास तो वह भी नहीं, वह तो नग्न खड़े हैं, लेकिन फिर भी अपूर्व सौंदर्य है। ऐसा सौंदर्य जिसको किसी सजावट की कोई जरूरत नहीं।
ऐसे इस उपगुप्त को निकलते देखा होगा वासवदत्ता ने। और वासवदत्ता सुंदरतम लोगों को जानती है, सुंदरतम लोगों को भोगा है; सुंदर से सुंदर से उसकी पहचान है, सुंदरतम उसके पास आने को तड़फते हैं--उसने रथ रोक लिया। बौद्ध भिक्षु उपगुप्त को देखकर वह ठिठक जाती है। दीपक के प्रकाश में--राह के किनारे जो दीपस्तंभ है उसके प्रकाश में--वह सबल, स्वस्थ और तेजोदीप्त

गौरवर्ण संन्यासी को देखती ही रह जाती है। ऐसा रूप उसने कभी देखा नहीं। संन्यासी का सहज सौंदर्य उसके मन को डिगा देता है। अब तक लोग उसके प्रेम में पड़े थे, पहली दफा वासवदत्ता किसी के प्रेम में पड़ती है। वह संन्यासी को अपने घर आमंत्रित करती है। संन्यासी बड़ी बहुमूल्य बात उत्तर में कहता है।
उपगुप्त उससे कहता है--
समय जे दिन आसीबे
आपनी जाइबो तोमार कुंजे
जिस दिन समय आ जाएगा, उस दिन मैं स्वयं ही तुम्हारे कुंज में उपस्थित
हो जाऊंगा। वासवदत्ता कहती है कि भिक्षु मेरे घर आओ! बैठो रथ में, मैं तुम्हें घर ले चलूं! और भिक्षु कहता है--आऊंगा, जरूर आऊंगा, समय जे दिन आसीबे, जिस दिन समय आ जाएगा, आपनी जाइबो तोमार कुंजे, वासवदत्ता, तुझे मुझे बुलाना भी न पड़ेगा, मैं अपने आप आ जाऊंगा। समय की प्रतीक्षा!
और बहुत दिनों तक समय नहीं आया। वासवदत्ता प्रतीक्षा करती, प्रतीक्षा करती। उसका मन न लगता। इस संसार में अब राग-रंग उसे दिखायी न पड़ता। बहुत लोग आते, बहुत लोगों से संबंध भी बनता--नगर-वधू थी, वही उसका काम था, वेश्या थी--लेकिन अब किसी देह में वह दीप्ति न दिखायी पड़ती। और किसी देह में वह सौंदर्य न दिखायी पड़ता। उपगुप्त की वे शांत आंखें उसका पीछा करतीं। रात हो कि दिन, सपने उठते।
लेकिन बात सुन ली थी उसने उपगुप्त की कि जब समय आएगा तब आ जाऊंगा। और इतने बलपूर्वक कही थी बात कि यह बात भी साफ हो गयी थीः उपगुप्त उन लोगों में से नहीं जिसे डिगाया जा सके; जो कहा है, वैसा ही होगा; समय की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। आपनी जाइबो तोमार कुंजे, अपने आप आऊंगा तेरे कुंज में। तो वासवदत्ता ने फिर बुलाने की चेष्टा भी नहीं की। कभी राह पर आते-जाते शायद उपगुप्त दिखायी भी पड़ जाता होगा, लेकिन फिर कहना भी उचित न था। संन्यासी ने बात कह दी थी। प्रतीक्षा और प्रतीक्षा, उसका सारा जीवन बीत गया।
फिर एक रात्रि--पूनम की रात्रि--उपगुप्त मार्ग से जा रहे थे। उन्होंने देखा कि कोई मार्ग पर रुग्ण पड़ा है, गांव के बाहर। उन्होंने उसे अपने अंक में लिटा लिया; जर्जर, वसंत के दानों से गल गया शरीर, कोई नारी है, प्रकाश में देखा--अरे, वासवदत्ता! यौवन बीत गया, शरीर जराजीर्ण, अंतिम घड़ी है। वसंत रोग के दानों से शरीर पूरी तरह घिर गया है, बचने का कोई उपाय नहीं है। कोई अब प्रेमी भी नहीं बचा--ऐसे क्षण में कहां प्रेमी बचते हैं! नगर में भी रखने को लोग राजी न रहे, नगर के बाहर खदेड़ दिया है--ऐसी रुग्ण देह को कौन नगर में रखेगा! अब उसकी घातक बीमारी दूसरों को लग सकती है।
यह जो महारोग है--वसंत रोग इसको हम कहते हैं--नाम भी हमने खूब चुना है,
इस देश में नाम भी हम बड़े हिसाब से चुनते हैं! सारे शरीर पर काम-विकार के कारण फफोले फैल गए हैं। यौन-रोग है। लेकिन हमने नाम दिया है वसंत रोग-- जवानी का रोग, वसंत का रोग। जो अब तक सौंदर्य बनकर प्रगट हुआ था, वही अब कुरूपता बनकर प्रगट हो रहा है। जो अब तक चमड़ी पर आभा मालूम होती थी, वही घाव बन गयी है। सारा शरीर घावों से भर गया है, सड़ रहा है, महा दुर्गंध उठ रही है। उसे कौन नगर में रखे! उसे गांव के बाहर फिंकवा दिया है। यह वही स्त्री है जिसे लोग सिर पर लिए घूमते थे। जिसके चरण चूमते थे सम्राट। अंतिम घड़ी, वसंत रोग आखिरी स्थिति में है, कोई अब प्रेमी नहीं, नगर से दूर मार्ग पर असहाय पड़ी रो रही है, दम तोड़ रही है। वासवदत्ता ने आंखें खोलीं, वह कातर कंठ से बोली--दयामय, तुम कौन हो?
मैं हूं संन्यासी उपगुप्त, भूल तो नहीं गयीं न! भूली नहीं हो न! मैंने कहा था--
समय जे दिन आसीबे
आपनी जाइबो तोमार कुंजे
जिस दिन समय आएगा, मैं तुम्हारे कुंज में स्वयं उपस्थित हो जाऊंगा। लगता है, समय आ गया, मैं उपस्थित हूं। मैं तुम्हारी किस सेवा में आ जाऊं, मुझे कहो, आज्ञा दो। मैं आ गया हूं, वासवदत्ता! मैं सेवा के लिए तैयार होकर आ गया हूं। उस दिन तो आता तो तुमसे सेवा मांगता। उस दिन तो वे आते थे

जिन्हें तुम्हारी सेवा की जरूरत थी, आज मैं आ गया हूं, मैं तुम्हारी सेवा करने को तत्पर हूं।
रवींद्रनाथ की यह कविता बड़ी बहुमूल्य है। यह संन्यासी के लिए एक ज्योतिर्मय भावदशा की स्मृति बनाए रखने के लिए बड़ी काम की है। इसे स्मरण रखना। संसार तो छोड़ना है, संसार की माया-ममता भी छोड़नी है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि संन्यास कठोर बना दे तुम्हें, कृपण बना दे तुम्हें, कि तुम्हारे हृदय को पत्थर बना दे, तब तो तुम चूक गए।
और अक्सर ऐसा होता है। अक्सर तुम्हारे तथाकथित साधु-संन्यासी- महात्मा जिस दिन माया-मोह छोड़ते हैं संसार का, उसी दिन दया-ममता, दया-करुणा भी छोड़ देते हैं। तुम्हारे तथाकथित संन्यासी रूखे-सूखे लोग हैं। उन्होंने माया-मोह छोड़ी, उसी दिन से वे डर गए हैं। उन्होंने अपने को सुखा लिया भय के कारण। वे रसहीन हो गए हैं। उन पर न नए पत्ते लगते हैं, न नए फूल आते हैं। इसलिए तो उनके जीवन में तुम्हें सौंदर्य दिखायी न पड़ेगा। उनके जीवन में एक कुरूपता है। मरुस्थल जैसे हैं तुम्हारे संन्यासी! चूक गए। रस से थोड़े ही विरोध था।
पतंजलि ने कहा न--रसो वै सः, वह सत्य तो रसमय है, वह परमात्मा तो रस भरा है। संन्यासी रस से थोड़े ही विरुद्ध है! रस संसार में व्यर्थ न बहे, रस दया बनकर बहे, करुणा बनकर बहे, सेवा बनकर बहे; रस तुम्हें भिखारी न बनाए, सम्राट बनाए; याचक न बनाए, दानी बनाए; रस तुम लुटाओ, रस तुम दो।
इसलिए जो संन्यास तुम्हें माया-मोह से छुड़ाकर करुणा-दया से भी छुड़ा देता हो, समझना चूक गए। तीर निशाने पर न लगा, गलत जगह लग गया। भूल हो गयी। माया-ममता से छुड़ाने का प्रयोजन ही इतना है कि तुम्हारी जीवन-ऊर्जा करुणा बने। माया-ममता छूट गयी और करुणा बनी नहीं, तो संसार भी गया और सत्य भी न मिला। तुम धोबी के गधे हो गए--घर के न घाट के--तुम कहीं के न रहे।
और तुम्हारे अधिक संन्यासी और महात्मा धोबी के गधे हैं, घर के न घाट के। संसार छूट गया है और सत्य मिला नहीं है। बाहर का सौंदर्य छूट गया और भीतर का सौंदर्य मिला नहीं है। अटक गए। रसधार ही सूख गयी। मरुस्थल हो गए। ज्यादा से ज्यादा कुछ कांटे वाले झाड़ पैदा हो जाते हों मरुस्थल में तो हो जाते हों, बस और कुछ नहीं। न ऐसे वृक्ष पैदा होते हैं कि जिनमें किसी राहगीर को छाया मिल सके, न ऐसे वृक्ष पैदा होते हैं कि रसदार फल लगें और किसी की भूख मिट सके। नहीं किसी की क्षुधा मिटती, नहीं किसी की प्यास मिटती, रूखे-सूखे ये खड़े लोग और इनकी तुम पूजा किए चले जाते हो! इनकी पूजा खतरनाक है। क्योंकि इनको देख-देखकर धीरे-धीरे तुम भी रूखे-सूखे हो जाओगे। इस देश में यह दुर्भाग्य खूब घटा। इस देश का संन्यासी धीरे-धीरे जीवन
की करुणा से ही शून्य हो गया। उसे करुणा ही नहीं आती। लोग मरते हों तो मरते रहें। लोग सड़ते हों तो सड़ते रहें। वह तो कहता, हमें क्या लेना-देना! हम तो संसार छोड़ चुके।
संसार छोड़े, वह तो ठीक, लेकिन करुणा छोड़ चुके! तो फिर तुम बुद्ध की करुणा न समझोगे, महावीर की अहिंसा न समझोगे और क्राइस्ट की सेवा न समझोगे। इसे कसौटी मानकर चलना। करुणा बननी ही चाहिए। तो ही समझना कि संन्यास ठीक दिशा में यात्रा कर रहा है।

चौथा प्रश्नः क्या पंडित-पुरोहितों का ईश्वर सत्य नहीं है?

पंडित-पुरोहितों का ईश्वर उतना ही सत्य है जितने वे सत्य हैं। तुम्हारा ईश्वर उतना ही सत्य होगा जितने तुम सत्य हो। तुम्हारा ईश्वर तुमसे ज्यादा सत्य नहीं हो सकता। तुम्हारा ईश्वर ठहरा न! तुम अगर झूठ हो, तुम्हारा ईश्वर झूठ होगा। तुम अगर झूठ हो, तुम्हारी पूजा झूठ होगी, तुम्हारी प्रार्थना झूठ होगी। तुम पर निर्भर है। तुम अगर मुर्दा हो, तुम्हारा ईश्वर मरा हुआ होगा। तुम्हारा ईश्वर तुम से अन्यथा नहीं हो सकता।
पंडित-पुरोहित का ईश्वर है ही क्या? शब्द-जाल है। शास्त्र में पढ़ी हुई बात है, जीवन में अनुभव की हुई नहीं। पंडित-पुरोहित का ईश्वर तुम्हारे

शोषण के लिए है, उसके जीवन-रूपांतरण के लिए नहीं। वह मंदिर बनाता है, अपने जीवन-रूपांतरण के लिए नहीं; वह प्रवचन देता है, अपने जीवन-रूपांतरण के कारण नहीं; उसमें लाभ है, कुछ और लाभ है, तुमसे कुछ मिलता है, तुम्हें उलझाए रखता है।
कार्ल मार्क्स ने कहा है कि धर्म अफीम का नशा है। यह बात निन्यानबे प्रतिशत सही है। यह पंडित-पुरोहित के द्वारा जो धर्म चलता है, उसके बाबत बिल्कुल सही है। धर्म अफीम का नशा है। लेकिन यह सौ प्रतिशत सही नहीं है, इसलिए मैं मार्क्स से राजी नहीं हूं। क्योंकि ऐसा भी धर्म है जो बुद्धों का है, जाग्रत पुरुषों का है। ऐसा भी धर्म है, जो उनका है जिन्होंने अनुभव किया है। अगर पंडित-पुरोहित का ही धर्म होता सौ प्रतिशत तो मार्क्स बिल्कुल सही था। मार्क्स सही भी है और गलत भी। सही है तथाकथित धर्म के संबंध में और गलत है वास्तविक धर्म के संबंध में।
तुम उससे सीखना अपना ईश्वर, जिसने ईश्वर जाना हो। तुम उसके पास उठना- बैठना, उसका सत्संग करना, जिसका ईश्वर से कुछ लगाव बन गया हो, जिसके हाथ में ईश्वर का हाथ छू गया हो। छू गया हो कम से कम, अगर हाथ पकड़ा भी न हो तो भी चलेगा। क्योंकि छू गया तो बहुत देर नहीं है, पकड़ भी जाएगा। और जिसका हाथ ईश्वर के हाथ में आ गया, उसके प्राण भी ईश्वर के प्राण के साथ एक होने लगते हैं। सेतु बन गया हो जिसका, सत्संग करना उसके साथ।
संत को हम इसीलिए तो संत कहते हैं। संत का अर्थ होता है, जिसके जीवन में सत्य उतर आया। सत्य जिसका जीवन बन गया, वही संत। संत का सत्संग करना, पंडित-पुरोहित के पीछे मत घूमते रहना। पुरोहित तो तुम्हारा नौकर-चाकर है। तुम सौ रुपये देते हो तो आकर तुम्हारे घर में पूजा कर जाता है। तुम सौ रुपये न दोगे, नमस्कार कर लेगा! अगर कोई रुपये न देगा, पूजा-पाठ बंद हो जाएगा, कभी नहीं करेगा। उसे पूजा-पाठ से प्रयोजन नहीं है, नौकरी बजा रहा है।
एक अमीर आदमी अपने बगीचे में बैठा था, अपने एक दोस्त से बात कर रहा था।
वह अमीर आदमी अपने दोस्त से बातचीत करते-करते बोला कि एक बात बताओ, स्त्री के साथ संभोग करने में कितना तो काम है और कितना आनंद है? कितना तो बोझरूप है, काम जैसा और कितना खेल जैसा है, सुखरूप? उसके मित्र ने कहा, पचास प्रतिशत तो काम है--बोझरूप, करना पड़ता है, ऐसा--और पचास प्रतिशत खेल है, सुखरूप। लेकिन वह अमीर बोला कि नहीं मैं तो मानता हूं कि नब्बे प्रतिशत काम जैसा है और दस प्रतिशत ही खेल जैसा है।
पास ही बूढ़ा माली काम कर रहा था। दोनों ने उसे बुलाया और कहा कि इस बूढ़े माली से पूछो, यह क्या कहता है? उससे पूछा कि ब.ूढे माली, हम दोनों में विवाद चल रहा है, संभोग में कितना तो सुख है और कितना काम है? मैं कहता हूं, नब्बे प्रतिशत काम है और दस प्रतिशत सुख है; और मेरे मित्र कहते हैं, पचास-पचास प्रतिशत, तू क्या कहता है? उस बूढ़े माली ने कहा, मालिक, सौ प्रतिशत सुख है। अगर सौ प्रतिशत न होता, तो आप हम नौकरों से करवा लेते। अगर काम ही काम होता, तो आप नौकर-चाकर रख लेते।
तुम प्रेम के लिए नौकर-चाकर नहीं रखते, लेकिन प्रार्थना के लिए रखते हो। और प्रार्थना प्रेम की अंतिम घटना है। तुम जब प्रेम करते हो तो खुद करते हो, नौकर-चाकर नहीं रखते, लेकिन जब प्रार्थना, तो पंडित रख लेते हो। प्रार्थना को तुम दूसरे से करवा रहे हो--नौकर-चाकर से। तो अगर तुम्हारी प्रार्थना कभी परमात्मा तक नहीं पहुंचती तो कुछ आश्चर्य है!
प्रार्थना तो प्रेम है, वह तो प्रेम की परमदशा है। तुम करोगे तो ही पहुंचेगी। बिचवइयों का काम नहीं है, दलालों का काम नहीं है।
फिर दलाल की उत्सुकता तो तुमसे जो पैसा मिल रहा है उसमें है। तुम सौ रुपये देते हो तो वह आधा घंटा करता है, दो सौ देने लगो तो घंटेभर कर दे, तुम पांच सौ दे दो तो दिनभर करता रहे। और तुम बिल्कुल न दो तो फिर एक दफे भी नहीं आएगा प्रार्थना करने, मंदिर की घंटी न बजेगी, पूजा का थाल न सजेगा, फूल न चढ़ाए जाएंगे। तो यह पंडित जो पूजा कर रहा है, पुरोहित जो पूजा कर रहा है, यह पूजा भगवान की है कि धन की हो रही है? तुम जब तक पैसा देते हो तब तक

ठीक, तब तक भगवान है और भक्ति है और स्तुति है, सब है; और जैसे ही पैसा गया कि सब समाप्त हुआ।
मैंने एक रूसी कहानी सुनी है। किस्सा एक बूढ़े रूसी किसान का है। सभी रूसी किसानों की तरह उसका भी जीवन कठिनाइयों से भरा था। वर्षों तक वह और उसकी बीबी अपने दो बेटों के साथ एक कोठरी में रहते थे। फिर एक बेटा फौज में चला गया और मोर्चे पर मारा गया। दूसरे बेटे ने दूर के किसी शहर में नौकरी कर ली। कुछ वक्त बाद जब बीबी भी चल बसी तो ग्राम-सोवियत ने वह कोठरी उससे छीनकर एक नवदंपति को दे दी और एक पड़ोसी के कमरे में कोने में पर्दा लगवाकर उसके रहने की व्यवस्था कर दी। सत्तर साल की जिंदगी में पहली बार किसान के दिल में विद्रोह की चिनगारी सुलगी।
साल में दो बार, मई दिवस और क्रांति की वर्षगांठ पर गांव की सड़क झंडियों और प्लेकार्डों से सज उठती थी, जिन पर लिखा होता था--लेनिन जिंदा हैं; लेनिन जिंदा हैं, जिंदा थे और जिंदा रहेंगे। इस बार यह शब्द पढ़कर बूढ़े किसान के मन में आया कि क्यों न मास्को जाकर सर्व शक्तिमान लेनिन से ही कमरा वापस दिलवाने की प्रार्थना करूं! वैसे जीवनभर कभी वह अपने गांव से चंद मील से ज्यादा दूर नहीं गया था। मगर उसने कुछ मांगकर, कुछ उधार लेकर किराया जुटाया और रेल में चढ़कर मास्को जा पहुंचा।
मास्को में भी पूछताछ करता हुआ सौभाग्य से कम्यूनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति के एक बड़े पदाधिकारी के सामने हाजिर हो गया। उसे सारा किस्सा सुनाकर बोला, मुझे लेनिन साहब से मिलवा दीजिए, ताकि मैं उनसे कहूं कि वे खुद मेरा कमरा मुझे वापस दिलवाएं। अधिकारी हक्का-बक्का रह गया। फिर अपना आश्चर्य छिपाकर उसने किसान को बताया कि लेनिन तो कभी के मर चुके हैं। अब हक्का-बक्का होने की बारी किसान की थी। अफसर ने उसे समझाया कि लेनिन का शव लाल चौक में उनके मकबरे में रखा हुआ है। लेकिन किसान अड़ा रहा, उसने कहा, मगर झंडे पर तो साफ लिखा होता है कि लेनिन जिंदा हैं, जिंदा थे और जिंदा रहेंगे। और सदा जिंदा रहेंगे। अधिकारी ने बड़े सब्र से उसे समझाना शुरू किया कि इसका अर्थ सिर्फ यह है कि लेनिन की प्रेरणा जिंदा है और वह हमारा मार्गदर्शन कर रही है। अधिकारी काफी भावावेग के साथ बोलता रहा। जब वह बोल चुका, तो किसान चुपचाप उठकर चल दिया। दरवाजे पर पहुंचकर वह पलटा और अधिकारी से बोला, अब मैं समझ गया साहब, जब आपको जरूरत पड़ती है, लेनिन जिंदा हो उठते हैं, और जब मुझे जरूरत होती है, लेनिन मर जाते हैं।
पंडित-पुजारी को तो परमात्मा की जरूरत है किसी कारण से। इसे ख्याल में लेना। उन्नीस सौ सत्रह में रूस में क्रांति हुई, उसके पहले रूस ऐसा ही धार्मिक देश था जैसा भारत। बड़े चर्च थे, बड़े पादरी थे, बड़े पूजागृह थे और लोग बड़े धार्मिक थे। फिर क्रांति हो गयी और दस वर्ष के भीतर सब चर्च गायब हो गए, सब पूजा गायब हो गयी, सब पंडे-पुरोहित गायब हो गए और रूस नास्तिक हो गया। यह भरोसे की बात नहीं कि दस साल में इतनी जल्दी सब धार्मिक लोग अधार्मिक हो गए!
एक कम्यूनिस्ट मुझसे बात कर रहा था, वह कहने लगा, आप कहिए यह कैसे हुआ?
तो मैंने कहा, यह इसीलिए हो सका कि वे धार्मिक थे ही नहीं। धार्मिक होते तो इससे क्या फर्क पड़ता था कि राज्य बदल गया, राजनीति बदल गयी, कुछ फर्क न पड़ता। धार्मिक थे ही नहीं। सब झूठा धर्म था। पंडित-पुरोहित तो नौकरी में था। जब भगवान से नौकरी मिलती थी, भगवान के नाम पर नौकरी मिलती थी, भगवान की स्तुति गाता था। जब लेनिन के नाम पर नौकरी मिलने लगी, तो वह लेनिन की स्तुति गाने लगा। पहले वह कहता था, बाइबिल लिए घूमता था सिर पर, फिर दास केपिटल, मार्क्स की किताब लेकर घूमने लगा। यह वही का वही आदमी है। तब भी नौकरी में था, अब भी नौकरी में है। और जनता को न तब मतलब था, न अब मतलब है। तब जनता सोचती थी कि भगवान की पूजा करवा लेने से कुछ लाभ होगा, तो पूजा करवा लेती थी। अब सोचती है कि कम्यूनिस्ट पार्टी के झंडे पर फूल चढ़ाने से लाभ होता है, लेनिन के मकबरे पर जाने से लाभ होता है, तो यह कर लेती है। लोग धार्मिक कहां हैं? पंडित-पुरोहित झूठा है, और उसके पीछे चलने वाले लोग झूठे हैं।

तुम इस झूठ में मत पड़ जाना। अगर तुम्हें सत्य की सच में तलाश हो, तो बिचवइए मत खोजना, मध्यस्थ मत खोजना, परमात्मा के सामने सीधे खड़े होना। और अगर तुम्हें लगे कि किसी के जीवन में कहीं किरण उतरी है, तो उस किरण का संग-साथ करना। संत के साथ रहोगे तो तुम्हें बदलना पड़ेगा। पंडित-पुरोहित के साथ रहोगे तो पंडित-पुरोहित तुम्हारी सेवा कर रहा है, वह तुम्हें कैसे बदलेगा? पंडित-पुरोहित तुम्हारा नौकर-चाकर है, तुम्हें नहीं बदल सकता। तुम जो चाहते हो, वही कर देता है। तुम्हारी चाह से जो चलता है, वह तुम्हें नहीं बदल सकता।
केवल संतों के साथ बदलाहट संभव है। क्योंकि तुमसे उन्हें कुछ लेना- देना नहीं है। तुम्हारी प्रशंसा की भी अगर उनको जरूरत है, तो तुम समझना कि तुम गलत आदमी के पास हो। तुम्हारी स्तुति की भी मांग है, तो तुम समझना कि यहां कुछ होने वाला नहीं है। उस आदमी को खोजना, जिसको तुमसे कुछ भी नहीं लेना है--न तुम्हारी स्तुति, न तुम्हारी प्रशंसा; जो तुम्हारी चिंता ही नहीं करता, जो तुम्हारे मंतव्यों की भी फिकर नहीं करता; तुम उसे आदर देते हो कि अनादर, इसकी भी फिकर नहीं करता, तुमसे कुछ प्रयोजन ही नहीं रखता। ऐसे किसी आदमी के पास अगर बैठना सीख लिया, तो शायद तुम्हें ईश्वर की हवा का झोंका धीरे-धीरे लगना शुरू हो जाए। जिसकी खिड़की खुली है, उसके पास बैठने से तुम्हें भी हवा का झोंका लगेगा। सदगुरु खोजना।

पांचवां प्रश्नः ओशो, कल आपने भगवान बुद्ध के जीवन में सुंदरी परिव्राजिका के प्रसंग पर प्रकाश डाला। कुछ ही वर्ष पूर्व आपसे दीक्षित, एक जापानी लड़की को माध्यम बनाकर पत्रों और समाचार पत्रों के जरिए पूरे देश में आपके विरुद्ध जो कुत्सित प्रचार किया गया था, क्या वह भी पंडितों, पुरोहितों और तथाकथित महात्माओं का करिश्मा था? आप भी तो उस पर चुप ही रहे थे। क्यों? और उसकी परिणति क्या हुई?

पूछा है आनंद मैत्रेय ने।
पहली तो बात, और ज्यादा जानना हो उस संबंध में, तो या तो श्री सत्य साईंबाबा या बाबा मुक्तानंद से पूछना चाहिए। विस्तार उन्हें मालूम है। और मैं तब भी चुप रहा था और अब भी चुप रहूंगा। कुछ बातें हैं जो केवल चुप्पी से ही कही जा सकती हैं।
परिणति पूछते हो कि क्या हुई?
परिणति यह हुई कि वह जापानी युवती अब आने का विचार कर रही है, वापस लौट आने का। संकोच से भरी है, डरती है, क्योंकि उसने इस पूरे शड्यंत्र में हाथ बंटाया, अब डरती है कि यहां कैसे आए! तड़फती है आने को।
यहां कुछ जापानी मित्र हैं, उनसे मैं कहूंगा कि वापस जापान जाओ तो उसको कहना कि घबड़ाए न और वापस आ जाए। न तो यहां कोई उससे कुछ कहेगा, न कोई कुछ पूछेगा। जो हुआ, हुआ। मुझे तो कुछ हानि नहीं हुई, मुझे कुछ हानि हो नहीं सकती, ऐसा कुछ भी नहीं है जो तुम मुझसे छीन सको। जो मेरा है वह मेरा इतना है कि उसे तुम मुझसे छीन नहीं सकते; उसे मैंने तुमसे लिया नहीं है। तुम सम्मान दो कि अपमान, इससे जरा भी भेद नहीं पड़ता। तुम्हारा अपमान और सम्मान, सब, दोनों बराबर हैं। मेरी प्रतिष्ठा तुम पर आधारित नहीं है। मेरी प्रतिष्ठा मेरी आत्म-प्रतिष्ठा है। मेरी जड़ें मेरे अपने भीतर हैं, तुमसे मैं रस नहीं लेता। इसलिए तुम अगर रस न दो तो मेरी कोई हानि नहीं होती। इसलिए मैं चुप रहा।
लेकिन दया उस लड़की पर आती है। वह नाहक झंझट में पड़ गयी। उसका जरूर बहुत नुकसान हुआ। तो जापानी मित्र यहां हैं, जब वे वापस जाएं तो उसे खोजें और उसको कह दें कि वह आ जाए, यह उसका घर है। और ऐसी भूल-चूक तो आदमी से होती है। इसमें कुछ चिंता लेने की जरूरत नहीं है। यहां उसे कोई जवाब-सवाल नहीं होने वाला है; न कोई पूछेगा, न कोई उसे सताएगा, न इसके विस्तार में जाएगा। इसके विस्तार में जाने का कुछ अर्थ ही नहीं है। जिन महात्माओं ने उसे राजी कर लिया इस प्रचार के लिए, उन्होंने मेरा तो कुछ नुकसान नहीं किया, लेकिन उस लड़की के जीवन को बुरी तरह नुकसान पहुंचा दिया।

जिन्होंने उसे राजी किया, उन महात्माओं पर तो उसकी श्रद्धा कभी हो नहीं सकती, और जिस पर श्रद्धा थी, उस पर नाहक श्रद्धा को खंडित करवा दिया। लेकिन इस तरह खंडित होती भी नहीं श्रद्धा। आ गयी होगी लोभ में। उसे कठिनाइयां थीं, वह लोभ में आ गयी होगी। वह विद्यार्थी थी, पैसे की अड़चन थी, उसे पढ़ना था अभी, वह संस्कृत पढ़ना चाहती थी, वर्षों का काम था, एक पैसा उसके पास नहीं था, आ गयी होगी लोभ में।
लेकिन लोभ में आने के कारण इन महात्माओं के प्रति सम्मान तो नहीं हो सकता। और सिर्फ लोभ के कारण उसने जो कह दिया, उसके कारण जो कहा है वह सच्चा है, ऐसा भाव उसके भीतर तो नहीं हो सकता। उसे सुनकर चाहे किसी और ने मान लिया हो कि यह सच्चा है, लेकिन वह स्वयं तो कैसे मान सकती है कि सच्चा है। इसलिए उसकी आत्मा कचोटती है। उस पर मुझे दया है। तो कोई उस तक खबर पहुंचा दे तो अच्छा है।

आखिरी प्रश्नः मैं भिक्षु वज्जीपुत्त जैसा ही हूं। लेकिन मैं भागने
की तैयारी में नहीं हूं।

पूछा है सुभाष ने।
पहली तो बात, यदि तुम स्वीकार कर लो कि मैं भिक्षु वज्जीपुत्त जैसा ही हूं, तो तुम वज्जीपुत्त जैसे न रहे। फर्क शुरू हो गया। बड़ा भेद आ गया। जिसने जाना कि मैं अज्ञानी हूं, उसके ज्ञान की शुरुआत हुई। जिसने जाना कि मैं मूढ़ हूं, अब मूढ़ता टूट जाएगी। जिसने समझा कि मैं अंधेरे में हूं, वह प्रकाश की खोज में लग ही गया। इसी समझ के साथ पहला कदम उठ ही गया।
यह समझ लेना कि मैं भिक्षु वज्जीपुत्त जैसा हूं, संन्यासी हूं लेकिन संसार में मेरा लगाव है, कीमती बात है। यही तो वज्जीपुत्त को पता नहीं था कि वह संन्यासी है और संसार में उसका लगाव है। यही उसे पता चल जाता तो फर्क हो गए होते। यह तुम्हें पता चला।
इसीलिए तो वज्जीपुत्त की कथा कही है कि तुम्हें पता चले। और भी हैं यहां जो वज्जीपुत्त जैसे हैं, पर उन्होंने नहीं पूछा, सिर्फ सुभाष ने पूछा है। तो कथा सुभाष तक पहुंची है, सुभाष को लाभ हुआ। बाकी ने सुना होगा, उन्होंने कहा कि है किसी की कथा, कोई हुआ होगा वज्जीपुत्त, रहा होगा नासमझ, कि संन्यासी हो गया और संसारी बना रहा, हम तो ऐसे नहीं! उन्होंने बात अपने पर न लगायी होगी। उन्होंने वज्जीपुत्त की बात वज्जीपुत्त की ही रहने दी होगी। वे चूक गए। सुभाष गुणी है। उसने स्वीकार किया कि मैं वज्जीपुत्त जैसा हूं। इसी स्वीकृति में भेद पड़ना शुरू हुआ।
और दूसरी बात सुभाष ने कही है, "लेकिन मैं भागने की तैयारी में नहीं हूं।"
वह तुम कर न सकोगे। कई कारणों से।
एक तो सुभाष आलसी। भागने के लिए तो थोड़ा सा, आदमी चाहिए न कि जरा... भागने में भी तो कुछ करना पड़ता है। तुम्हारा आलस्य तुम्हारा भाग्य है। तुम भाग न सकोगे। इससे आलस्य का लाभ है, घबड़ाना मत। आलसी न होते तो शायद भाग जाते। सुभाष पक्के आलसी हैं। आलसी-शिरोमणि किसी दिन बन सकते हैं। अष्टावक्र की सुनो तुम, लाओत्से की गुनो तुम, आलस्य को ही रूपांतरित करो साधना में, भागना-वागना तुमसे होने वाला नहीं है। भागने के लिए सक्रियता चाहिए, कर्मठता चाहिए, वह तुम्हारे बस की बात नहीं है।
दूसरी बात, बुद्ध से भागना जितना आसान था उतना आसान मेरे पास से भागना नहीं है। बुद्ध कठोर थे। कठोर इस अर्थ में कि उनकी प्रक्रिया कठिन थी। कठोर थे इस अर्थ में कि उनका मार्ग तपश्चर्या का मार्ग था। मैं कठोर नहीं हूं। मेरा मार्ग सुगम है, तपश्चर्या का नहीं है। मेरा मार्ग सहजता का है। हां, कभी-कभी जब मैं देखता हूं, किसी व्यक्ति को तपश्चर्या का मार्ग ही ठीक पड़ेगा, तो उससे मैं कहता हूं--करो। क्योंकि यही उसके लिए सहज है। ख्याल रखना मेरा कारण उससे हां भरने का। हां भरने का कारण यह नहीं कि मैं तपश्चर्या का पक्षपाती हूं, हां भरने का कारण इतना ही होता है कि उस आदमी को तपश्चर्या ही सहज है।

किसी को मैं कभी उपवास के लिए भी हां भर देता हूं कि करो। क्योंकि मैं देखता हूं, उस आदमी के लिए उपवास जितना सहज है और कोई सहज नहीं। मगर मेरा कारण सदा सहजता होती है। मैं देख लेता हूं, कौन सी बात सहज है। कौन सी बात तुम्हारे साथ छंदबद्ध हो जाएगी। कौन सी बात के साथ तुम सरलता से चल सकोगे। तो तुम जो भी करते हो, मैं उसी में से तुम्हारा मार्ग खोजता हूं। मैं कहता हूं, तुम जहां हो वहीं से परमात्मा तक पहुंचा जा सकता है। तुम्हें अन्यथा होने की जरूरत नहीं है, वहीं से यात्रा शुरू कर दो। जैसे हो वैसे ही यात्रा शुरू कर दो।

बुद्ध की बात कठोर थी। बुद्ध कहते, पहले तुम्हें ऐसा होना पड़ेगा, तब परमात्मा की यात्रा शुरू होगी।
फर्क समझना।
बुद्ध कहते थे कि पहले तुम्हें एक खास चौरस्ते पर आना पड़ेगा, उस चौरस्ते से रास्ता जाता है सत्य की तरफ। और उस चौरस्ते और तुम्हारे बीच हो सकता है बहुत फासला हो। वज्जीपुत्त और चौरस्ते के बीच बहुत फासला रहा होगा। वह वहां तक पहुंच नहीं पा रहा था। मैं कहता हूं कि तुम उस चौरस्ते पर हो ही, जहां से रास्ता जाता है। इसलिए तुम्हें किसी रास्ते को तय करके रास्ते पर नहीं आना है, रास्ते पर तो तुम हो ही, और वहीं जो तुम्हारे पास उपलब्ध है, उसी सामग्री का ठीक-ठीक उपयोग कर लेना है।
तो मैं शराबी को शराब तक छोड़ने को नहीं कहता। छूट जाती है यह दूसरी बात है--अभी तरु ने दो दिन पहले अपनी बोतल मेरे पास भेंट करवा दी--छूट जाती है यह दूसरी बात है, मगर मैंने कभी उससे कहा नहीं था। अब उसने अपने आप भेज दी है बोतल, खुद जाने! वापस चाहे, मैं वापस दे सकता हूं। मुझे शराब की बोतल से कुछ झगड़ा नहीं है। शराब की बोतल का क्या कसूर!
उसने तो कई दफा मुझसे पूछा है कि भगवान कह दें--और मैं जानता था कि मैं
कह दूं तो वह छोड़ेगी भी, मानेगी भी, मेरे कहने की ही प्रतीक्षा थी, लेकिन मैंने कभी उससे कहा नहीं कि छोड़ दे। क्योंकि मेरे कहने से अगर छोड़ दी, तो कठिन हो जाएगी। मेरे कहने से छोड़ दी, तो जबर्दस्ती हो जाएगी। मैं जबर्दस्ती का पक्षपाती नहीं हूं। मैं धीरज रख सकता हूं। मैंने प्रतीक्षा की--छूटेगी, किसी दिन छूटेगी। अपने से जब छूट जाए तो मजा है, तो बात में एक सौंदर्य है।
अब उसने खुद ही अपने हाथ से बोतल मेरे पास भेज दी है। अब मैं बोतल उसकी सम्हालकर रखे हुए हूं, कहीं जरूरत पड़े उसको, फिर? तो मैं सदा वापस देने को तैयार हूं। निःसंकोच भाव से बोतल वापस मांगी जा सकती है। और मेरे मन में तब भी निंदा नहीं होगी कि तुमने बोतल वापस क्यों मांगी? क्योंकि मेरी सारी चेष्टा यहां यही है कि तुम जितने सहज हो जाओ, जितने सरल हो जाओ, तुम्हारी सरलता से ही सुगंध उठने लगेगी, तुम्हारी सरलता से ही तुम सत्य की तरफ पहुंचने लगोगे।
फिर सभी लोगों के लिए सरलता अलग-अलग ढंग की होती है, यह ख्याल रखना। किसी के लिए एक बात सरल है, दूसरे के लिए वही बात कठिन हो सकती है। अब जैसे सुभाष की बात है, सुभाष के लिए आलस्य बिल्कुल सहज है। अगर यह बुद्ध जैसे व्यक्ति के हाथ में पड़ जाए, तो कठिनाई में पड़ेगा। बुद्ध इसके लिए अलग से व्यवस्था नहीं देंगे। उनकी एक व्यवस्था है, उस व्यवस्था में सुभाष को बैठना पड़ेगा। सुभाष को बड़ी कठिनाई से गुजरना पड़ेगा। मेरी कोई व्यवस्था नहीं है। मेरे लिए तुम मूल्यवान हो। तुम्हें देखकर व्यवस्था जुटाता हूं। इस फर्क को ख्याल में रखना। बुद्ध की एक व्यवस्था है, एक अनुशासन है,
एक ढंग है, एक साधना-पद्धति है। मेरी कोई साधना-पद्धति नहीं है। मेरे पास तुम्हें देखने की एक दृष्टि है। तुम्हें देख लेता हूं कि तुम आलसी हो, तो मैं कहता हूं--ठीक। तो लिख देता हूं प्रिस्क्रिप्शन--लाओत्सू, अष्टावक्र; तुम इनके साथ चलो। इनसे तुम्हारी दोस्ती बनेगी, मेल बनेगा। ये लोग आलसी थे और पहुंच गए; तुम भी पहुंच जाओगे; मगर इनकी सुनो। अगर देखता हूं कि कोई आदमी बहुत कर्मठ है कि शांत बैठना उसे आसान ही नहीं होगा, तो उसे खूब नचाता हूं कि नाचो, कूदो, चीखो-चिल्लाओ, दौड़ो, योग करो--कराटे तक की व्यवस्था

आश्रम में कर रखी है। कुछ लोग आ जाते हैं, जिनको कि जूझने का मन है, बिना जूझे जिनको शांति नहीं मिलेगी, उनको कहता हूं--कराटे। चलो, यही सही, कहीं से भी चलो।
इस कम्यूनिटी में मेरी आकांक्षा है कि दुनिया में जितने उपाय रहे हैं
अब तक और जितने उपाय कभी और हो सकते हैं भविष्य में, वे सब उपाय उपलब्ध हो जाएं, ताकि किसी व्यक्ति को किसी दूसरे के उपाय से चलने की अड़चन में न पड़ना पड़े। वह अपना ही मार्ग चुन ले। इतने अनंत मार्ग हैं, प्रभु के इतने अनंत मार्ग हैं! प्रभु कंजूस नहीं है कि तुम एक मार्ग से आओगे तो ही स्वीकार होओगे। प्रभु के अनंत मार्ग हैं। और हर आदमी के लिए कोई न कोई मार्ग है जो सुगम होगा। मैं उस सुगम की तलाश करता हूं।
तो तुम मेरे पास से भाग भी न सकोगे, क्योंकि मैं तुम्हें कष्ट ही नहीं देता, भागोगे कैसे? भागने के लिए भी तो थोड़ा कष्ट तुम्हें दिया जाना चाहिए। भागने के लिए भी तो तुम्हें थोड़ा सा कारण मिलना चाहिए। तुम मेरे पास से भागोगे कैसे? मेरे पास से तो केवल वे ही भाग सकते हैं जो नितांत अंधे हैं, जो नितांत बहरे हैं, जो नितांत जड़ हैं; जो न सुन सकते, न समझ सकते, न मेरा स्पर्श अनुभव कर सकते, जिनके जीवन में कोई संवेदना नहीं है, केवल वे ही लोग भाग सकते हैं। मगर वे रहें तो भी कोई सार नहीं है, जाएं तो भी कुछ हानि नहीं है--हानि न लाभ कुछ। रहें तो ठीक--बेकार रहना--चले जाएं तो ठीक। क्योंकि रहने से कुछ मिलने वाला नहीं था, जाने से कुछ खोएगा नहीं।
लेकिन जिनके भीतर थोड़ी भी बुद्धि है--थोड़ी भी बुद्धि है--जिनके भीतर जरा सी भी चेतना है और जरा संवेदनशीलता है, वे नहीं भाग सकेंगे। मेरे साथ उलझे सो उलझे। फिर यह जन्म-जन्म का संबंध हुआ। फिर यह चलेगा। यह फिर ऐसा विवाह है, जिसमें तलाक नहीं होता। इस संन्यास को जरा सोच-समझकर लेना, इससे निकलने का उपाय नहीं छोड़ा है।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 10
एक सौ प्रवचन

ध्यान का दीप, करुणा का प्रकाश

अवज्जे वज्जमतिनो वज्जे च वज्जदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छंति दुग्गतिं।। 263।।

वज्जतोांत्वा अवज्जंच अवज्जतो।
सम्मादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छंति सुग्गतिं।। 264।।

अहं नागोव संगामे चापतो पतितं सरं।
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं दुस्सीलो हि बहुज्जनो।। 265।।

दंतं नयंति समितिं दंतं राजाभिरूहति।
दंतो सेट्ठो मनुस्सेसु योति वाक्यं तितिक्खति।। 266।।

नहि एतेहि यानेहि गच्छेय अगतं दिसं।
यथात्तना सुदंतेन दंतो दंतेन गच्छति।। 267।।

इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं
येनिच्छकं यत्थ कामं यथासुखं।
तदज्जहं निग्गहेस्सामि योनिसो
हथिप्पभिन्नं विय अंकुसग्गहो।। 268।।

प्रथम दृश्य--

गौतम बुद्ध का नाम ही संकीर्ण सांप्र्रदायिक चित्त के लोगों को भयाक्रांत कर देता था। उस नाम में ही विद्रोह था। वह नाम आमूल क्रांति का ही पर्यायवाची था। ऐसे भयभीत लोग स्वयं तो बुद्ध से दूर-दूर रहते ही थे, अपने बच्चों को भी दूर-दूर रखते थे। बच्चों के लिए, युवकों-युवतियों के लिए उनका भय स्वभावतः और भी ज्यादा था। ऐसे लोगों ने अपने बच्चों को कह रखा था कि वे कभी बुद्ध की हवा में भी न जाएं। उन्हें उन्होंने शपथें दिला रखी थीं कि वे कभी भी बुद्ध या बुद्ध के भिक्षुओं को प्रणाम न करेंगे।
एक दिन कुछ बच्चे जेतवन के बाहर खेल रहे थे। खेलते-खेलते उन्हें प्यास लगी। वे भूल गए अपने माता-पिताओं और धर्मगुरुओं को दिए वचन और जेतवन में पानी की तलाश में प्रवेश कर गए। संयोग की बात कि भगवान से ही उनका मिलना हो गया। भगवान ने उन्हें पानी पिलाया और बहुत कुछ और भी पिलाया-- प्रेम भी पिलाया। ऊपर की प्यास तो मिटायी और भीतर की प्यास जगायी। वे बच्चे खेल इत्यादि भूलकर दिनभर भगवान के पास ही रहे। ऐसा प्रेम तो उन्होंने कभी न जाना था। न जाना था ऐसा चुंबकीय आकर्षण, न देखा था ऐसा सौंदर्य, न देखा था ऐसा प्रसाद, ऐसी शांति, ऐसा आनंद, ऐसा अपूर्व उत्सव; वे भगवान में ही डूब गए। वह अपूर्व रस, वह अलौकिक रंग उन सरल बच्चों के हृदयों को लग गया। वे फिर रोज ही आने लगे। वे भगवान के पास धीरे-धीरे ध्यान में भी बैठने लगे। उनकी सरल श्रद्धा देखते ही बनती थी।
फिर उनके मां-बाप को खबर लगी। मां-बाप अति क्रुद्ध हुए। पर अब बहुत देर हो चुकी थी। बहुत उन्होंने सिर मारा, उनके पंडित-पुरोहितों ने बच्चों को समझाया, डांटा-डपटा, भय-लोभ, साम-दाम-दंड-भेद, सब का उन छोटे-छोटे बच्चों पर प्रयोग किया गया, पर जो छाप बुद्ध की पड़ गयी थी सो पड़ गयी थी। फिर तो ये मां-बाप बहुत रोए भी, पछताए भी। जैसे बुद्ध ने उनके बच्चों को बिगाड़ दिया हो, उनकी नाराजगी इतनी थी। और वे कहते फिरते थे कि इस भ्रष्ट गौतम ने हमारे भोले-भाले बच्चों को भी भ्रष्ट कर दिया है।
अंततः उनका पागलपन ऐसा बढ़ा कि उन्होंने उन बच्चों को भी त्याग देने
की ठान ली। और एक दिन वे उन बच्चों को सौंप देने के लिए बुद्ध के पास गए। पर

यह जाना उनके जीवन में भी ज्योति जला गया, क्योंकि वे भी बुद्ध के ही होकर वापस लौटे। बुद्ध के पास जाना और बुद्ध के बिना हुए लौट आना संभव भी नहीं है। इन लोगों से ही बुद्ध ने ये गाथाएं कही थीं।
गाथाओं के पहले इस छोटी सी कहानी को, सरल सी कहानी को ठीक से हृदय पर अंकित हो जाने दें।
जब भी कोई धार्मिक व्यक्ति इस पृथ्वी पर हुआ है, तो स्वभावतः विद्रोही होता है। धर्म विद्रोह है। धर्म का और कोई रूप होता ही नहीं।
धर्म कभी परंपरा बनता ही नहीं। और जो बन जाता है परंपरा, वह धर्म नहीं है।
परंपरा तो ऐसी है जैसे सांप निकल गया और रास्ते पर सांप के गुजरने से बन गए चिह्न छूट गए। परंपरा तो ऐसी है जैसे कि तुम तो गुजर गए, रास्ते पर बने हुए तुम्हारे जूतों के चिह्न छूट गए।
कन्फ्यूसियस के जीवन में उल्लेख है कि वह लाओत्सू से मिलने गया था।
यह मिलन परंपरा और धर्म का मिलन है। कन्फ्यूसियस है परंपरा--जो अतीत का है, वही श्रेष्ठ है। जो हो चुका, वही श्रेष्ठ है। सब श्रेष्ठ हो चुका है, अब और श्रेष्ठ होने को बचा नहीं है। कन्फ्यूसियस के लिए तो अतीत का स्मरण ही सार है धर्म का। वह परंपरावादी था। वह गया लाओत्सू को मिलने। लाओत्सू है धार्मिक। अतीत तो है ही नहीं उसके लिए और भविष्य भी नहीं है। जो है, वर्तमान है।
जब कन्फ्यूसियस ने अपनी परंपरावादी बातें लाओत्सू को कहीं तो लाओत्सू बहुत हंसा और उसने यही शब्द कहे थे। उसने कहा था, परंपरा तो ऐसे है जैसे आदमी तो गुजर गया और उसके जूते के चिह्न रेत पर पड़े रह गए। वे चिह्न आदमी तो हैं ही नहीं, आदमी के जूते भी नहीं हैं। जीवित आदमी तो है ही नहीं उन चिह्नों में, जीवित आदमी की तो छोड़ो, मुर्दा जूते भी उन चिह्नों में नहीं हैं। जूतों के भी चिह्न हैं वे। छाया की भी छाया है।
कन्फ्यूसियस तो बहुत डर गया था, उसने लौटकर अपने शिष्यों को कहा था,
इस आदमी के पास भूलकर मत जाना। इसकी बातें खतरनाक हैं।
पर धर्म खतरनाक है ही। धर्म से ज्यादा खतरनाक और कोई चीज पृथ्वी पर नहीं है। लेकिन तुम अक्सर देखोगे भीरुओं को धार्मिक बने। कमजोरों को, नपुंसकों को धार्मिक बने। घुटने टेके, प्रार्थनाएं-स्तुति करते हुए, भयाक्रांत, उनका भगवान उनके भय का ही निचोड़ है।
तो निश्चित ही जिस धर्म को ये धर्म कह रहे हैं, वह धर्म नहीं हो सकता। धर्म तो खतरनाक ढंग से जीने का नाम है। धर्म का अर्थ ही है निरंतर अभियान। धर्म का अर्थ ही है पुराने और पिटे-पिटाए से राजी न हो जाना। नए की, मौलिक की खोज। धर्म का अर्थ है, अन्वेषण। धर्म का अर्थ है, जिज्ञासा, मुमुक्षा।
धर्म का अर्थ है, उधार और बासे से तृप्ति नहीं। अपना अनुभव नहीं कर लेंगे, तब तक तृप्त नहीं होंगे। धर्म वेद से राजी नहीं होता, जब तक अपना वेद निर्मित न हो जाए। धर्म स्मृति में नहीं है, श्रुति में नहीं है, धर्म अनुभूति में है।
हिंदुओं के कुछ ग्रंथ कहलाते हैं, श्रुति। सुना जिन्हें। और कुछ ग्रंथ कहलाते हैं, स्मृति। याद रखा जिन्हें। हिंदुओं के सारे ग्रंथ दो हिस्सों में बांटे जा सकते हैं--श्रुति और स्मृति। या तो सुना, या याद रखा। लेकिन धर्म तो होता है अनुभूति, न श्रुति, न स्मृति।
बुद्ध उसी धर्म के प्रगाढ़ प्रतीक थे। वे कहते थे--जानो, स्वानुभव से जानो, अप्प दीपो भव। स्वभावतः, परंपरावादी घबड़ाता रहा होगा, सांप्रदायिक घबड़ाता रहा होगा। क्योंकि संप्रदाय का असली दुश्मन धर्म है।
आमतौर से तुम सोचते हो कि हिंदू का दुश्मन मुसलमान, मुसलमान का दुश्मन हिंदू, तो गलत सोचते हो; दोनों सांप्रदायिक हैं। लड़ें कितने ही, मगर वास्तविक दुश्मनी उनकी नहीं है। एक एक तरह की स्मृति को मानता है, दूसरा दूसरी तरह की स्मृति को मानता है, विवाद उनमें कितना ही हो, लेकिन मौलिक मतभेद नहीं है। दोनों स्मृति को मानते हैं। दोनों अतीत को मानते हैं।
असली विरोध तो होता है धर्म का। और एक मजे की बात है कि धर्म का विरोध सारे संप्रदाय मिलकर करते हैं।

इसे तुम कसौटी समझना। जब बुद्ध जैसा व्यक्ति पैदा होता है, तो ऐसा नहीं कि हिंदू उसका विरोध करते हैं और जैन विरोध नहीं करते; कि जैन विरोध करते हैं, हिंदू विरोध नहीं करते; कि मुसलमान विरोध करते हैं, ईसाई विरोध नहीं करते। जब भी बुद्ध जैसा व्यक्ति पैदा होगा तब तुम एक चमत्कार देखोगे कि सभी सांप्रदायिक लोग उसका इकट्ठे होकर विरोध करते हैं--हिंदू हों कि मुसलमान, कि ईसाई, कि जैन--सभी मिलकर उसका विरोध करते हैं। क्योंकि वह संप्रदाय के मूल पर ही चोट कर रहा है। वह यह कह रहा है कि धर्म संप्रदाय बन ही नहीं सकता। संप्रदाय लाश है, मरा हुआ धर्म है। इस लाश से सिर्फ दुर्गंध निकलती है। इससे किसी की मुक्ति नहीं होती। इस लाश को ढोते रहे तो तुम भी धीरे-धीरे लाश हो जाओगे। तो यह छोटी सी कथा शुरू होती है--
गौतम बुद्ध का नाम संकीर्ण, सांप्रदायिक चित्त के लोगों को भयाक्रांत
कर देता था।
उस नाम में अंगार था। उससे भय पैदा हो जाता था। और भय तभी पैदा होता है
जब तुम जो पकड़े हो, वह गलत हो। नहीं तो भय पैदा नहीं होता।
तुमने अगर सत्य को ही स्वीकार किया हो, तो तुम निर्भय हो जाते हो। सत्य निर्भय करता है। सत्य मुक्त करता है। असत्य को पकड़ा हो तो तुम सदा भयभीत रहते हो कि कहीं सत्य सुनायी न पड़ जाए। कहीं ऐसा न हो कि कोई बात मेरी मान्यता को डगमगा दे। इसलिए सांप्रदायिक लोग कहते हैं कि सुनना ही मत, दूसरे की बात गुनना ही मत। दूसरे के पास जाना ही मत।
क्यों? इतना क्या भय है? तुम्हारे पास सत्य है, तो तुम घबड़ाते क्यों हो? तुम्हारा सत्य किसी की बात सुनकर हिल जाएगा? तुम्हारा सत्य किसी की बात सुनकर उखड़ जाएगा? तो ऐसे दो कौड़ी के सत्य को क्या मूल्य दे रहे हो! जो किसी की बात सुनकर उखड़ जाएगा, वह तुम्हें जीवन के भवसागर के पार ले जा सकेगा? जो सुनने से बिखर जाता है, वह तुम्हारी मौत में तुम्हारा साथी हो सकेगा?
वह बिखरता इसीलिए है कि तुम्हारे भीतर संदेह छिपा है। तुम भी जानते
हो कि सत्य तो यह नहीं है। तुम भी किसी तल पर पहचानते हो कि सत्य तो यह नहीं है। मगर इस बात को छिपाए हो, दबाए हो, अंधेरे में सरका दिया है। अचेतन मन में दरवाजे बंद करके ताला लगाकर डाल दिया है। लेकिन तुम जानते हो, ताला तुम्हीं ने लगाया है। तुम्हें पता है कि अगर सत्य की किरण आएगी, तो मेरी बात झूठ हो जाएगी। इसलिए सत्य की किरण से बचो। अपने अंधेरे को सम्हालो और सत्य की किरण से बचो।
सत्य अभय करता है और असत्य भयभीत करता है।
वे घबड़ाते थे लोग, क्योंकि एक बात तो साफ थी कि कुछ है बुद्ध के पास, कुछ धार, कुछ प्रखरता, कि बुद्ध की मौजूदगी में असत्य असत्य दिखायी पड़ने लगता है, सत्य सत्य दिखायी पड़ने लगता है। कि बुद्ध की मौजूदगी में सम्यक-दृष्टि पैदा होती है। लेकिन हमने असत्य के साथ बहुत से स्वार्थ जोड़ रखे हैं, हमारे न्यस्त स्वार्थ हैं। उन न्यस्त स्वार्थों को छोड़ने की हमारी तैयारी नहीं है। तो यही उचित है कि सत्य सुनो ही मत, अन्यथा जमी-जमायी दुनिया बिखर जाए। एक व्यवस्था बनाकर बैठ गए हैं, एक सुरक्षा है। सब ठीक-ठाक चल रहा है। इसे क्यों गड़बड़ करना? इस अज्ञात को क्यों निमंत्रण देना? इस अनजान को क्यों बुलाना घर में? मत लाओ इस अतिथि को। किसी तरह तुमने अपने घर को जमा लिया है, अब नए को लाकर और फिर से जमाना पड़ेगा।
तो जैसे-जैसे लोग बूढ़े होने लगते हैं, वैसे-वैसे भय ज्यादा पकड़ने लगता है। अब उम्र भी ज्यादा नहीं रही, मौत भी करीब आती है... ।
मैं अपने गांव जाता हूं--जाता था--तो मेरे एक शिक्षक हैं, स्कूल में मुझे पढ़ाया, उनसे मुझे लगाव है, तो उनके घर मैं सदा जाता था। एक बार गांव गया तो उन्होंने अपने बेटे को भेजा और मुझे कहलवाया कि मेरे घर मत आना। मैं थोड़ा हैरान हुआ। मैंने उनके बेटे को पूछा कि बात क्या है? तो उन्होंने कहा कि वे रोते थे जब उन्होंने यह बात कहलवायी, दुखी थे, लेकिन उन्होंने कहलवाया कि मेरे घर मत आना। तो मैंने कहा कि तुम उनसे कहना, एक बार और आऊंगा, बस एक बार।

तो मैं गया उनके घर। मैंने पूछा कि बात क्या है? उन्होंने कहा, बात अब तुम पूछते हो तो तुमसे कह दूं। अब मैं बूढ़ा हुआ, तुम्हारी बातें सुनकर मेरी आस्थाएं डगमगाती हैं। अब यहां मौत मेरे करीब खड़ी है, अब तुम्हारी बात सुनकर मैं कोई नयी बात शुरू कर भी नहीं सकता, नयी बात शुरू करने के लिए समय भी मेरे पास नहीं है। पिछली बार तुम आए, तब से मैं ठीक से माला नहीं फेर पाया; माला फेरता हूं, तुम्हारी याद आती है कि सब फिजूल है। राम-राम जपता हूं, तुम्हारी बात याद आती है कि कोका-कोला जपो तो भी ऐसा ही परिणाम होगा। तुम मुझे बहुत सता रहे हो। मूर्ति के सामने बैठता हूं और मैं जानता हूं कि मूर्ति पत्थर है। और अब मौत मेरी करीब आती है। तुम देखते हो, मेरे हाथ-पैर कंपने लगे, अब मैं उठ भी नहीं सकता, मुझे मेरे ऊपर छोड़ दो।
मैंने उनसे कहा, मुझे कुछ अड़चन नहीं है, लेकिन जो बात होनी शुरू हो गयी है, अब उसे रोका नहीं जा सकता; जो अंकुर फूट चुका है, उसे अब रोका नहीं जा सकता। अब तुम लाख उपाय करो तो तुम राम-राम अब उसी अंधश्रद्धा से नहीं कह सकते जो तुम पहले कहते रहे हो। और मैंने उनसे कहा, अगर मेरी सुनते हो तो मैं तो कहूंगा कि मौत करीब आ रही है, इसलिए जल्दी बदल लो। क्योंकि जो तुम समझने लगे हो कि व्यर्थ है, मौत में टूट जाएगा। अगर एक दिन बचा है, तो एक दिन काफी है; अगर एक क्षण बचा है, तो एक क्षण काफी है, इस एक क्षण में भी जीवनभर का कचरा छोड़ दो। और पहली बार हिम्मत जुटाओ, पहली बार शांत बनने की हिम्मत जुटाओ। और मैं तुमसे यह नहीं कह रहा हूं कि कोई दूसरा नाम जपो। मैं तुम्हें कोई दूसरा मंत्र नहीं दे रहा हूं। मैं तुमसे इतना ही कह रहा हूं कि जो तुम्हें झूठा लगता है, अब उसे मत जपो। बिना जपते हुए मर जाओ, हर्जा नहीं है। बिना मूर्ति के सामने बैठे मर जाओ, हर्जा नहीं है। क्योंकि जो मूर्ति झूठ हो गयी है तुम्हें; मैं न आऊंगा, इससे कुछ फर्क न पड़ेगा। और मैं कभी भी न आया होता तो भी मूर्ति झूठी ही थी, चाहे तुम्हें याद आती, चाहे न आती। झूठ से कोई पार नहीं होता, झूठ की नाव नहीं बनती। सिर्फ सत्य की नाव बनती है।
जैसे-जैसे आदमी बूढ़ा होता है, और डरने लगता है।
इसलिए अक्सर दुनिया में जब भी बुद्ध जैसे व्यक्ति पैदा होते हैं, तो जवान उन्हें पहले स्वीकार करते हैं। युवक-युवतियां पहले स्वीकार करते हैं। छोटे बच्चे भी कभी स्वीकार कर लेते हैं; लेकिन बड़े-बूढ़ों को बड़ी कठिनाई होती है। अगर बड़े-बूढ़े स्वीकार भी करते हैं तो थोड़े से बड़े-बूढ़े, जो शरीर से शायद बूढ़े हो गए हों, लेकिन आत्मा से जो जवान होते हैं, युवा होते हैं। जो भीतर से अभी भी कायर नहीं हो गए होते हैं।
उम्र कायर कर देती है आदमी को। जवानी में आदमी सोचता है, ठीक जो हो उस
पर चलूंगा; बुढ़ापे में सोचने लगता है, जिस पर चलता रहा हूं उसी पर चलता रहूं, अब कहां ठीक, कहां गैर-ठीक! अब समय कहां? अब फिर से निर्णय करना महंगा पड़ सकता है। कहीं ऐसा न हो जो हाथ में है वह भी छूट जाए और जो हाथ में नहीं है वह मिले भी न! जैसे-जैसे बुढ़ापा आता है, वैसे-वैसे आदमी भीरु होने लगता है।
बुद्ध जैसे व्यक्तियों के पास नब्बे प्रतिशत तो युवा जाते हैं, दस प्रतिशत वृद्ध जाते हैं। वे वृद्ध भी गरिमा हैं इस पृथ्वी की, वे वृद्ध ही गरिमा हैं इस पृथ्वी की। क्योंकि वे अभी भी जवान हैं। वे मौत के आखिरी क्षण तक भी अगर उन्हें पता चल जाए कि सत्य क्या है, तो सत्य के साथ खड़े होने की तैयारी रखते हैं; असत्य को छोड़ देंगे, चाहे असत्य के प्रति पूरा जीवन ही क्यों न समर्पित रहा हो। इतनी हिम्मत, इतना साहस जिसमें न हो, वह धार्मिक हो भी नहीं पाता। और इसीलिए धर्मगुरु बहुत डरे रहते हैं कि छोटे बच्चे इस तरह के खतरनाक लोगों के पास न जाएं।
इधर रोज ऐसी घटना घटती है। यह कहानी कुछ उसी दिन होकर चुक गयी, ऐसा नहीं, आज भी घटती है। आज भी वैसी ही घट रही है। मैं ग्वालियर में ग्वालियर की महारानी का मेहमान था। उन्होंने मुझे सुना, उनके बेटे ने भी सुना। दूसरे दिन वे मुझे मिलने आयीं और उन्होंने मुझसे कहा, मेरा बेटा भी आना चाहता था, लेकिन मैं उसे साथ लायी नहीं; क्योंकि मुझे आपकी बातें खतरनाक

मालूम होती हैं। हम तो बड़े-बूढ़े हैं, हम तो समझ लेते हैं, लेकिन छोटे बच्चे हैं, वे तो इन बातों में पड़कर भ्रष्ट हो सकते हैं।
मैंने कहा, मेरी बात सही है या गलत, इसकी हम फिकर करें, छोटे-बड़ों की बात पीछे कर लेंगे। संस्कारशील महिला हैं, कहा कि नहीं, गलत तो मैं नहीं कह सकती, सही ही होगी, मगर बड़ी दूर की है। हमारे काम की नहीं। मैंने कहा, सत्य कितने ही दूर का हो, सदा काम का है। और असत्य कितना ही पास हो, कभी काम का नहीं। इसलिए असली सवाल दूरी और पास का नहीं है, असली सवाल तो सच और झूठ का है। उन्होंने कहा, जो भी हो, लेकिन मैं अपने बेटे को नहीं लायी हूं, क्योंकि मुझे डर लगा कि वह बिगड़ सकता है।
मैंने कहा, तुम क्यों आ गयी हो? तुम्हें डर नहीं है बिगड़ने का? इसका मतलब यह हुआ कि क्या तुम मर चुकी हो, जीवित नहीं हो अब? तुम्हें सत्य की आवाज सुनकर हृदय में कोई स्पंदन नहीं होता? इसलिए तुम चली आयी हो, क्योंकि अब तुम कायर हो गयी हो। अब तुमने जिंदगी से बहुत समझौता कर लिया। अभी तुम्हारा बेटा समझौते नहीं किया है। अभी तुम्हारे बेटे का जीवन शेष है। अभी तुम्हारे बेटे के भीतर प्राण हैं। इससे तुम डर रही हो।
यह सदा होता रहा है। मैं कई बस्तियों में रहा हूं; जहां रहा हूं वहीं
यह घटना रोज घटती रही है। लोग अपने बच्चों को मेरे पास आने से रोकते हैं। खुद चाहे कभी आ भी जाएं, मगर बच्चों को आने से रोकते हैं। क्योंकि खुद पर तो उन्हें भरोसा है। भरोसा इस बात का है कि हम तो गए, भरोसा इस बात का है कि हमने तो समझौता गहरा कर लिया है, भरोसा इस बात का है कि हम तो असत्य में रच-पच गए हैं, उन्हें कोई डर नहीं है। लेकिन बच्चे? अभी बच्चे सरल हैं, साफ-सुथरे हैं, अभी बच्चों का कोई पक्षपात नहीं है, अभी बच्चों ने धारणाएं नहीं बनायीं, अभी उनके हृदय सत्य को सुनेंगे तो झंकृत हो सकते हैं। तुम्हारे हृदय तो टूट चुके, तुमने अपना तार उखाड़ दिया है। तुमने झूठ
के साथ इतना संग-साथ किया है कि झूठ ने सब तरफ दीवाल खड़ी कर दी है। सत्य पुकारता भी रहे तो झूठ का शोरगुल तुम्हारे भीतर इतना है कि सत्य की पुकार नहीं पहुंचती। लेकिन बच्चे सरल हैं, सीधे हैं; अभी उनके बीच और सत्य के बीच दीवाल नहीं है; अभी बच्चे नए का आवाहन सुन सकते हैं, नए की चुनौती सुन सकते हैं।
तो डरते होंगे लोग कि बुद्ध के पास उनके बच्चे न जाएं। ऐसे भयभीत लोग स्वयं तो बुद्ध से दूर-दूर रहते ही थे, अपने बच्चों को भी दूर-दूर रखते थे। बच्चों के लिए, युवक-युवतियों के लिए उनका भय स्वभावतः और भी ज्यादा था। क्यों? क्योंकि बच्चे की स्लेट अभी खाली है। इस पर बुद्ध के हस्ताक्षर उभर आएं तो इसका जीवन कुछ और हो जाएगा। डर है कि कहीं यह बुद्ध की बात सुन न ले। क्योंकि यह सुन सकता है अभी, अभी इसके कान बहरे नहीं हुए हैं। और अभी आंखें इसकी अंधी नहीं हुई हैं। अभी इसके मन के दर्पण पर बहुत ज्यादा धूल नहीं जमी है। अभी यह बुद्ध के पास जाएगा तो उनकी छवि इसमें अंकित हो सकती है। जिन्होंने अपने दर्पण बिगाड़ लिए हैं, जिनके दर्पणों पर बहुत धूल जम गयी है, वे चले भी जाते हैं बुद्ध के पास तो कोई छवि नहीं बनती। खाली जाते हैं, खाली लौट आते हैं।
इसलिए सारी दुनिया के तथाकथित धार्मिक लोग अपने बच्चों को बड़े जल्दी
से अपने ही धर्म में दीक्षित करने में लग जाते हैं। न उनके पास धर्म है, न उनके पास समझ है, न बूझ है, न उनके पास सत्य है, लेकिन जो भी असत्य का कूड़ा- करकट उनके मां-बाप उन्हें दे गए थे, वे अपने बच्चों को दे देते हैं। बड़ी जल्दी करते हैं। छोटे-छोटे बच्चों को मंदिर भेजने लगते हैं, मस्जिद भेजने लगते हैं, गुरुद्वारा भेजने लगते हैं। छोटे-छोटे बच्चों के मन में वही कूड़ा-करकट जो खुद ढो रहे हैं, डालने लगते हैं। न उन्हें उस कूड़े-करकट से कोई सोना मिला है, न उन्हें आशा है कि इन्हें मिलेगा। मगर एक ही आशा बांधकर चलते हैं कि हम जिस दुनिया में रहे, हमारे बच्चे भी उसी में रहें। यह प्रेम है?
खलील जिब्रान ने कहा है, प्रेम का तो लक्षण यह होता है कि मां-बाप यह प्रार्थना करेंगे परमात्मा से कि हमारे बच्चे हमसे आगे जाएं; जहां तक हम नहीं जा सके, वहां जाएं; जिन पर्वत-शिखरों को हमने नहीं छुआ, हमारे बच्चे

छुएं; जिन आकाश की ऊंचाइयों में हम नहीं उड़े, हमारे बच्चे उड़ें। हमारे बच्चे हमारी ही सीमा में समाप्त न हो जाएं, यह होगा प्रेम का लक्षण। लेकिन प्रेम है कहां!
जिस बेटे को तुम सोचते हो मैं प्रेम करता हूं, उसको भी तुम प्रेम नहीं करते। अगर तुम प्रेम करते होते, तो तुम्हारा व्यवहार दूसरा होता। अगर तुम प्रेम करते होते तो तुम अपने बेटे को कहते कि बेटा, हिंदू मत होना, क्योंकि मैं हिंदू रहा और मैंने कुछ भी न पाया; मुसलमान मत होना, क्योंकि मैं मुसलमान रहा और मैं सिर्फ लड़ा और झगड़ा और मैंने कुछ नहीं पाया। तुम अपने बेटे से कहोगे अगर तुम उसे प्रेम करते हो कि जो भूलें मैंने कीं, तू मत दोहराना। कहीं ऐसा न हो कि जैसा मेरा जीवन व्यर्थ की बातों में उलझा और रेगिस्तान में खो गया, उत्सव हाथ न लगा, रस की कोई धार न बही, कोई गीत न फूटा, कोई फूल न खिले, ऐसा तेरे साथ न हो जाए मेरे बेटे, तू ध्यान रखना, तू मंदिर-मस्जिद से सावधान रहना, मैं इन्हीं में उलझ गया। तू मंदिर-मस्जिद से अपना आंचल बचाकर निकल जाना, तू सत्य की खोज करना। मैं नहीं कर पाया, मैं कायर था, मैंने अपने बड़े-बूढ़ों की बात मान ली थी और मैंने खुद कभी खोज नहीं की। तू मेरी बात मत मानना, किन्हीं कमजोर क्षणों में अगर मैं आग्रह भी करूं कि मेरी बात मान ले, तो भी मत मानना; तू हिम्मत रखना, तू साहस रखना और अपना ही सत्य खोजना। क्योंकि निजी सत्य ही केवल सत्य है। जो स्वयं की खोज से मिलता है, वही मुक्त करता है।
लेकिन इतना प्रेम कहां है! प्रेम ही होता तो पृथ्वी और ढंग की होती! यहां हिंदू न होते, मुसलमान न होते; यहां हिंदुस्तानी और पाकिस्तानी न होते; यहां गोरे और काले में भेद न होता; यहां स्त्री और पुरुष के बीच इतनी असमानता न होती; यहां ब्राह्मण और शूद्र न होते। अगर दुनिया में प्रेम होता, तो ये मूढ़ताएं न होतीं। मगर ये मूढ़ताएं धर्म की आड़ में छिपी बैठी हैं। धर्म की मिठास में खूब जहर छिपा बैठा है।
डरते होंगे लोग कि हमारे बच्चे बुद्ध के पास न चले जाएं। सोचते वे यही होंगे कि बच्चों के प्रेम के कारण हम ऐसा कर रहे हैं। तुम्हारे सोचने से क्या होता है? तुम लाख सोचो, तुम जो करते हो, उसका परिणाम बताएगा कि क्या सच है!
बुद्ध आए हों गांव में, कौन ऐसा बाप होगा जो अपने बेटे से न कहे कि सब छोड़, लाख काम छोड़, जा बुद्ध को सुन! हम तो चूके, हम तो जीवन में न सुन पाए, हम अभागे थे, तू जा। हम भी आएंगे, शायद तेरे जीवन में जलती किरण देखकर हमारे जीवन में भी फिर जोश आ जाए। तू अभी युवा है, तू शायद जल्दी समझ ले।
लेकिन बूढ़े सोचते हैं कि हम ज्यादा समझदार हैं। जैसे समझदारी का तुम्हारे जिंदगी के व्यर्थ के अनुभव से कोई संबंध है! क्योंकि तुम चालीस साल एक ही दफ्तर सुबह गए, शाम घर लौटे, तो तुम बड़े अनुभवी हो! कि तुम गड्ढा खोदते रहे सड़क पर चालीस साल तक तो तुम बड़े अनुभवी हो! कि तुम्हें बड़ा ज्ञान हो गया! कि दुकान पर कपड़े बेचते रहे तो तुम बड़े अनुभवी हो! तुम्हारा अनुभव क्या है? तुम्हारे अनुभव से सत्य का संबंध क्या है? सत्य के जानने के लिए सरलता ज्यादा उपयोगी है, बजाय तुम्हारा तथाकथित अनुभव।
अनुभव ने तुम्हें विकृत कर दिया है, बहुत लकीरें खींच दी हैं तुम्हारे मन पर। इन लकीरों के कारण अब अगर बुद्ध हस्ताक्षर भी करें, तो उनका पता भी न चलेगा। तुम बहरे हो गए हो, तुम अंधे हो गए हो। अपने बच्चों को भेजना, क्योंकि उनकी तेजस्विता अभी कायम है। अपने बच्चों को भेजना, क्योंकि अभी वे हरे हैं, ताजे हैं, वे जल्दी बुद्ध को पहचान लेंगे। उनका तालमेल तत्क्षण बैठ जाएगा। अभी वे बहुत दूर नहीं गए हैं संसार में, अभी संन्यास के बहुत करीब हैं।
हर बच्चा संन्यासी की तरह पैदा होता है। और बहुत थोड़े भाग्यशाली लोग हैं, जो संन्यासी की तरह मरते हैं। सौ बच्चों में से सौ बच्चे संन्यासी की तरह पैदा होते हैं, फिर निन्यानबे संसारी हो जाते हैं।
इसके पहले कि बच्चा संसारी हो जाए, इसके पहले कि क्षुद्र बातों को ज्यादा मूल्य देने लगे विराट के मुकाबले, इसके पहले कि रुपया ज्यादा मूल्यवान हो जाए सत्य की तुलना में, इसके पहले कि पद-प्रतिष्ठा ज्यादा

मूल्यवान हो जाए प्रेम की तुलना में, भेजना बुद्धों के पास, करवाना सत्संग। क्योंकि जल्दी ही बच्चा भी विकृत हो जाएगा, जैसे तुम विकृत हो गए हो। जल्दी ही विकृत हो जाएगा, क्योंकि तुम्हारा यह पूरा समाज रुग्ण है। और सभी यहां बीमार हैं, इन बीमारों के बीच पलेगा तो बीमार हो ही जाएगा। यहां मां-बाप बीमार हैं, शिक्षक बीमार हैं, धर्मगुरु बीमार हैं, राजनेता बीमार हैं, यह दुनिया बीमारों की है, यह बड़ा अस्पताल है, यहां सब अपनी-अपनी बीमारी झेल रहे हैं, यहां थोड़ी-बहुत देर शायद बच्चा अपने को बचा ले, ज्यादा देर न बचा सकेगा, जल्दी ही बीमार हो जाएगा।
इसके पहले कि बीमारी उसे भी पकड़ ले, इसके पहले कि उसकी भी आंखें धुंधली होने लगें और इसके पहले कि उसके हृदय का स्वर भी दबने लगे शोरगुल में, इसके पहले कि वह प्रेम के मुकाबले धन को ज्यादा मूल्य देने लगे, आनंद के मुकाबले प्रतिष्ठा को ज्यादा मूल्य देने लगे, शांति के मुकाबले सम्मान को ज्यादा मूल्य देने लगे, सत्य के मुकाबले जो संसार की क्षुद्र चीजों को खरीदने निकल पड़े--आत्मा बेचने लगे--और दिल्ली पहुंचने में लग जाए; इसके पहले कि वह दिल्ली की यात्रा पर निकले, उसे भेजना बुद्धों के पास! तुम नहीं गए, कोई हर्ज नहीं। तुम्हारा अगर प्रेम है तो तुम जरूर भेजोगे।
लेकिन नहीं, ऐसा होता नहीं। मां-बाप यही सोचते हैं कि वे प्रेम के कारण रोक रहे हैं। हम बड़े धोखेबाज हैं। हम गलत काम भी ठीक शब्दों की आड़ में करते हैं। हम बड़े कुशल हैं। हमारी बेईमानी बड़ी दक्ष है।
ऐसे लोगों ने अपने बच्चों को कह रखा था कि वे कभी बुद्ध की हवा में भी
न जाएं।
बुद्ध की हवा में जाना भी खतरे से खाली नहीं है। उस हवा में भी कुछ है।
वह हवा भी छूती है और झकझोरती है। उस हवा में भी तुम्हारे पत्तों पर जमी हुई धूल झड़ जा सकती है। उस हवा में तुम्हारे भीतर जमी हुई गंदी हवा बाहर निकल सकती है। उस हवा के झोंके में तुम्हारे भीतर नयी ताजगी और नए अनुभव का स्वर गूंज सकता है। उस हवा के साथ तुम्हारे जीवन में नयी यात्रा की शुरुआत हो सकती है।
क्योंकि जिसने बुद्ध को देखा, वह बुद्ध जैसा न होना चाहे, यह असंभव है। जो बुद्ध के पास बैठा, उसके भीतर एक महत्वाकांक्षा न जग जाए कि कभी ऐसी शांति मेरी भी हो, ऐसा असंभव है। जगेगी ही ऐसी आकांक्षा। जिसने बुद्ध का प्रसाद देखा, सौंदर्य देखा, वह वैसा ही सुंदर होना चाहेगा। जिसने बुद्ध को नहीं देखा वह अभागा है, क्योंकि उसने अपने भविष्य को नहीं देखा।
बुद्ध में हम अपने भविष्य को देखते हैं। जिन में, क्राइस्ट में, कृष्ण में हम अपने भविष्य को देखते हैं। ये पूरे हो गए मनुष्य हैं। ये पूरे खिल गए फूल हैं। ये हजार पखुड़ियों वाला कमल पूरा का पूरा खिल गया है। इसे खिला हुआ देखकर हमें याद आती है कि हम अभी बंद हैं, हम अभी कली हैं, हम भी खिल सकते हैं। यह स्मरण ही जीवन में क्रांति का सूत्रपात हो जाता है।
तो बुद्ध का पता ही न चले, बुद्ध जैसे व्यक्ति भी होते हैं, इसकी भनक न पड़े, तो मां-बाप ने कहा था अपने बच्चों को कि बुद्ध की हवा में भी न जाना। उन्होंने उन्हें शपथें दिला रखी थीं। क्योंकि बच्चों का क्या भरोसा! बच्चे सीधे-साधे, भोले-भाले, अभी कह दें हां, घड़ीभर बाद चले जाएं! और बच्चों का यह भी डर है कि तुम जिस बात से उन्हें रोको कि वहां न जाएं, शायद वहां इसीलिए चले जाएं कि मां-बाप ने रोका, जरूर कुछ होगा। बच्चे बच्चे हैं। बच्चों का अलग गणित है। इनकार के कारण ही जा सकते हैं।
तो उनको शपथ दिला रखी थी। उनको कसमें दिलायी थीं। कहा होगा कि हम मर जाएंगे अगर तुम बुद्ध के पास गए, खाओ कसम अपनी मां की, खाओ कसम अपने पिता की; उन्होंने कसमें भी खा ली थीं। छोटे बच्चे हैं, उनसे तुम जो करवाओ, करेंगे। तुम्हारे ऊपर निर्भर हैं। तुम उनकी हत्या करो तो भी गर्दन तुम्हारे सामने रख देंगे। कर भी क्या सकते हैं! तुम्हारे हाथ में उनका जीवन-मरण है।
मनुष्य-जाति ने बच्चों पर जितना अनाचार किया है उतना किसी और पर नहीं। जब सारी दुनिया में सब अनाचार मिट जाएंगे, तब शायद अंतिम अनाचार जो मिटेगा वह होगा मां-बाप के द्वारा किया गया बच्चों के प्रति अनाचार। और वह

अनाचार दिखायी नहीं पड़ता, क्योंकि प्रेम की बड़ी हमने बकवास उठा रखी है। कि हम सब प्रेम के कारण कर रहे हैं। तुम बच्चे को मारो, तो प्रेम के कारण; पीटो, तो प्रेम के कारण; सिखाओ कुछ, तो प्रेम के कारण; तो बच्चा इनकार भी नहीं कर सकता, विद्रोह भी नहीं कर सकता।
सबसे पहले विद्रोह किया गरीबों ने अमीरों के खिलाफ, तब किसी ने सोचा
भी नहीं था कि एक दिन स्त्रियां पुरुषों के खिलाफ बगावत कर देंगी। अब स्त्रियों ने बगावत की है पुरुषों के खिलाफ। अभी कोई सोच भी नहीं सकता है कि एक दिन बेटे, बच्चे मां-बाप के खिलाफ बगावत करेंगे। मैं तुमसे कहता हूं, आगाह रहना, वह दिन जल्दी ही आएगा। करना ही पड़ेगा। जिस दिन बच्चे मां-बाप के खिलाफ बगावत करेंगे, उस दिन साफ होगी बात कि मनुष्य-जाति ने अनंतकाल से कितना अनाचार बच्चों के साथ किया है।
मगर अनाचार ऐसा है कि भोले-भाले बच्चे उसकी बगावत में विद्रोह भी नहीं कर सकते। उनको पता भी नहीं कि क्या सही है, क्या गलत है। तुम पर भरोसा इतना है, उनकी श्रद्धा इतनी सरल है कि तुम जो चाहो उन पर थोप दो। हिंदू बना लो, मुसलमान बना लो, ईसाई बना लो, तुम्हें जो बनाना हो बना लो, क्योंकि बच्चा सरल है। बच्चा अभी इतना नरम है कि जैसा ढालो, ढाल लो। फिर एक दफा ढल गया, ढांचे में पड़ गया, फिर बहुत मुश्किल हो जाता है। ढांचा जब मजबूत हो जाता है, तुम कहते हो, बेटे, अब तुम्हें जहां जाना हो जा सकते हो। क्योंकि अब इस ढांचे को तोड़ना बहुत मुश्किल हो जाएगा। छोटा पौधा होता है, तब जहां झुकाना चाहो झुक जाता है। फिर बड़ा वृक्ष हो गया, फिर झुकना बहुत मुश्किल हो जाता है। अगर गलत भी ढांचे में पड़ गया तो फिर वही उसके जीवन की कथा हो जाती है।
तो उन्होंने कसमें दिला रखी थीं कि जाना तो दूर, अगर रास्ते पर बुद्ध मिल जाएं, संयोगवशात कभी भिक्षा मांगते, तो प्रणाम भी न करना। बुद्ध की तो बात दूर, बुद्ध के भिक्षुओं को भी प्रणाम मत करना। क्योंकि कुछ न कुछ बुद्ध का बुद्ध के भिक्षुओं में भी तो होगा ही। और बुद्ध घूम रहे थे गांव-गांव, उनके भिक्षु भी घूम रहे थे गांव-गांव, डर स्वाभाविक होगा।
एक दिन कुछ बच्चे जेतवन के बाहर खेल रहे थे।
जेतवन में बुद्ध ठहरे हुए थे। बच्चे बाहर खेल रहे थे, अपने खेल में मगन होंगे, दुपहरी आ गयी होगी, धूप तेज हुई होगी, प्यास लगी होगी--घर दूर, गांव के बाहर--जहां यह जेतवन था उसके बाहर खेलते-खेलते उन्हें प्यास लग गयी, वे भूल गए अपने माता-पिताओं और धर्मगुरुओं को दिए गए वचन और जेतवन में पानी की तलाश में प्रवेश कर गए कि शायद यहां पानी मिल जाए। बुद्ध ठहरे हैं, बुद्ध के भिक्षु ठहरे हैं, पानी जरूर होगा।
संयोग की बात कि भगवान से ही उनका मिलना हो गया। सामने ही मिल गए बुद्ध। बैठे होंगे अपने वृक्ष के तले। भगवान ने उन्हें पानी पिलाया और बहुत कुछ और भी पिलाया।
बुद्ध अगर पानी भी पिलाएं तो साथ ही कुछ और भी पिला ही देते हैं। पिला देते हैं, ऐसा चेष्टा से नहीं होता, बुद्ध के हाथ में छुआ पानी भी बुद्धत्व की थोड़ी खबर ले आता है। बुद्ध की आंख भी तुम पर पड़े तो भी कुछ तुम्हारे भीतर उमगने लगता है। बुद्ध तुम्हारी आंख में आंख डालकर भी देख लें, तो तुम्हारे भीतर बीज फूटने लगता है।
बुद्ध ने बहुत कुछ और भी पिलाया--प्रेम भी पिलाया।
बुद्ध का व्यक्तित्व ही प्रेम है। बुद्ध ने कहा है, ध्यान की परिसमाप्ति करुणा में है। ध्यान जब परिपूर्ण हो जाता है, तो करुणा की ज्योति फैलती है। ध्यान का दीया और करुणा का प्रकाश। ध्यान की कसौटी कहा है कि जब करुणा फैले, प्रेम फैले। ये छोटे-छोटे बच्चे प्यासे होकर आ गए हैं, इन्हें पानी पिलाया, इन्हें और कुछ भी पिलाया--इन्हें बुद्धत्व पिलाया।
बुद्धों के पास जाओ तो बुद्धत्व के अलावा और उनके पास देने को कुछ है
भी नहीं। छोटी-मोटी चीजें उनके पास देने को हैं भी नहीं, बड़ी से बड़ी चीज ही बस उनके पास देने को है। वही दे सकते हैं जो वे हैं।
प्रेम भी पिलाया। ऊपर की प्यास तो मिटायी और भीतर की प्यास जगायी।

जीसस के जीवन में एक ऐसा ही उल्लेख है। जीसस जा रहे हैं अपने गांव, राजधानी से लौट रहे हैं। बीच में एक कुएं पर ठहरे हैं, उन्हें प्यास लगी है। कुएं पर पानी भरती स्त्री से उन्होंने कहा, मुझे पानी पिला दे, मैं प्यासा हूं। उस स्त्री ने उन्हें देखा, उसने कहा, लेकिन आप ख्याल रखें, मैं हीन जाति की हूं; आप मेरे हाथ का पानी पिएंगे? जीसस ने कहा, कौन हीन, कौन श्रेष्ठ! तू मुझे पिला, मैं तुझे पिलाऊंगा। उस स्त्री ने कहा, मैं समझी नहीं आप क्या कहते हैं? आप यह क्या कहते हैं कि तू मुझे पिला, मैं तुझे पिलाऊंगा? जीसस ने कहा, हां, तू जो पानी पिलाती है, उससे तो थोड़ी देर को प्यास बुझेगी, मैं तुझे जो पानी पिलाऊंगा उससे सदा-सदा के लिए प्यास बुझ जाती है।
बुद्ध या जीसस तुम्हारे भीतर एक नयी प्यास को जगाते हैं। फिर उस नयी प्यास को बुझाने का उपाय भी बताते हैं। नयी प्यास है--कैसे हम उस जीवन को जानें जो शाश्वत हो? कैसे हम इस क्षणभंगुर से मुक्त हों? कैसे इस समय में बंधे हुए से हमारा छुटकारा हो? कैसे हम क्षुद्र के पार हों और विराट में हमारे पंख खुलें? तो पहले तो प्यास जगाते हैं। प्यास जगे तो यात्रा शुरू होती है। प्यास हो तो पानी की तलाश शुरू होती है। और एक बार पानी की तलाश शुरू हो जाए, तो पानी सदा से है। और बहुत ही करीब है, सरोवर भरा है। तुममें प्यास ही नहीं थी इसलिए तुम सरोवर से चूकते रहे।
तो बुद्ध ने ऊपर की प्यास तो मिटायी और भीतर की प्यास जगायी। वे बच्चे खेल इत्यादि भूलकर दिनभर भगवान के साथ ही रहे।
छोटे बच्चे थे, सरल थे, जो उनके मां-बाप के लिए संभव नहीं था, वह उन्हें संभव था। वे पहचान गए। इस आदमी का जो स्वर था, उन्हें सुनायी पड़ा। शायद कोई उनसे पूछता तो वे कुछ जवाब भी न दे सकते--जवाब देने योग्य उम्र उनकी थी भी नहीं--लेकिन गुपचुप बात समझ में पड़ गयी। ऐसा आदमी उन्होंने पहले देखा नहीं था। यह आदमी कुछ और ही किस्म का आदमी था। इन और ही किस्म के आदमियों को आदमियों से अलग करने के लिए तो हमने कभी उनको बुद्ध कहा, कभी जिन कहा, कभी भगवान कहा, कभी अवतार कहा, कभी पैगंबर कहा, कभी ईश्वर-पुत्र कहा, सिर्फ इतनी सी बात को अलग करने के लिए कि यह आदमी कुछ और ढंग का था। यह और आदमियों जैसा आदमी नहीं था। इसे सिर्फ आदमी कहना न्यायसंगत नहीं होगा। ये बच्चे समझा भी नहीं सकते थे, मगर समझ गए।
ख्याल रखना, समझा सकने से और समझने का कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। अक्सर तो ऐसा होता है कि जो समझा सकते हैं, समझ नहीं पाते। और जो समझ पाते हैं, समझा नहीं पाते हैं। गूंगे का गुड़। छोटे-छोटे बच्चे थे, स्वाद तो आ गया, शब्द उनके पास शायद थे भी नहीं कि वे कह सकें, क्या हुआ? लेकिन भूल गए खेल इत्यादि। वे सब खेल छोटे हो गए।
जीसस ने कहा है, जो छोटे बच्चों की भांति होंगे, वे ही मेरे प्रभु के राज्य में प्रवेश कर सकेंगे।
शायद जीसस ऐसे ही बच्चों की बात कर रहे थे। छोटे बच्चों की भांति होंगे। भगवान को समझने के लिए छोटे बच्चे की भांति होना जरूरी है। जो बड़े हो गए हैं, उनको फिर लौटना पड़ता है, फिर छोटे बच्चे की भांति होना पड़ता है। इसलिए तो संत की अंतिम अवस्था में संत बिल्कुल छोटे बच्चों जैसा हो जाता है। जो परमहंस की दशा है, वह छोटे बच्चे की दशा है। फिर से जन्म हो गया। इसलिए हमने इस देश में ज्ञानी को द्विज कहा है, दुबारा पैदा हुआ। एक तो वह जन्म था जो मां-बाप से मिला था, और अब एक जन्म उसने स्वयं को दिया है। वह फिर से बच्चा हो गया। फिर वैसा ही सरल, फिर वैसा ही सहज।
ये छोटे-छोटे सरल बच्चे, जो बड़े-बड़े पंडितों को होना कठिन होता है, इन छोटे-छोटे बच्चों को हुआ। वे भूल गए अपना खेल। तुम तो बुद्ध के पास भी जाओ तो तुम्हारा खेल तुम्हें नहीं भूलता। बुद्ध के पास बैठे रहते हो, सोचते हो अपनी दुकान की। बुद्ध के पास बैठे रहते हो, सोचते हो अपने घर की। बुद्ध के पास बैठे रहते हो, सोचते हो हजार और बातें। ये छोटे बच्चे तो भूल ही गए इनका सारा खेल। पड़े रह गए होंगे रेत में इन्होंने जो घर बनाए थे! बाहर भूल गए तो भूल ही गए। भीतर गए तो फिर बाहर आए ही नहीं। फिर बुद्ध के पास ही बैठे रहे।

वे दिनभर भगवान के पास रहे।
शायद संध्या हुए भगवान ने स्वयं कहा होगा कि बच्चो, अब घर वापस जाओ।
ऐसा प्रेम तो उन्होंने कभी जाना न था।
प्रेम प्रेम में बड़ा फर्क है। जिसे तुम संसार में प्रेम कहते हो, वह प्रेम नहीं है। वह प्रेम का झूठा सिक्का है। प्रेम के नाम पर कुछ और चल रहा है। अहंकार चल रहा है प्रेम के नाम पर। प्रेम का लबादा ओढ़े हिंसा चल रही है, वैमनस्य चल रहा है। प्रेम के आभूषणों में सजा हुआ न मालूम क्या-क्या-- परिग्रह, दूसरे पर मालकियत करने की राजनीति चल रही है। प्रेम की ओट में अप्रेम चल रहा है। अप्रेम ने भी खूब अच्छा रास्ता चुन लिया है--प्रेम की ओट में चल रहा है।
खलील जिब्रान की एक छोटी कहानी है। पृथ्वी बनी थी नयी-नयी, और परमात्मा ने सौंदर्य और कुरूपता की देवी को पृथ्वी पर भेजा। वे दोनों देवियां उतरीं, स्वर्ग से पृथ्वी तक आते-आते धूल-धवांस से भर गयी थीं, तो उन्होंने कहा स्नान कर लें इसके पहले कि गांव में चलें।
वे दोनों झील में उतरीं, वस्त्र उन्होंने उतार दिए, नग्न होकर झील में उतरीं। सौंदर्य की देवी तैरती हुई दूर झील में चल गयी। जब सौंदर्य की देवी दूर चली गयी, तो कुरूपता की देवी झटपट बाहर आयी और उसने सौंदर्य के वस्त्र पहने और भाग गयी। जब तक कुरूपता की देवी भाग गयी तब कहीं होश आया सौंदर्य की देवी को। वह भागी आयी तट पर, उसने देखा उसके कपड़े जा चुके हैं, और अब तो सुबह हुई जा रही थी, लोग चलने-फिरने लगे थे, अब कोई और उपाय न था, तो उसने कुरूपता के वस्त्र पहन लिए।
खलील जिब्रान की कहानी कहती है, तब से सौंदर्य कुरूपता के वस्त्र पहने हुए है और कुरूपता सौंदर्य के वस्त्र पहने हुए है। तब से सौंदर्य चेष्टा कर रहा है कुरूपता को पकड़ लेने की कि अपने वस्त्र वापस ले ले, लेकिन कुरूपता हाथ नहीं आती।
इस दुनिया में कुरूप सुंदर बनकर चल रहा है, इस दुनिया में अप्रेम प्रेम बनकर चल रहा है। असत्य ने सत्य के वस्त्र पहन रखे हैं।
इसलिए तुमने ख्याल किया, जितना असत्यवादी हो, उतनी ही चेष्टा करता है
कि जो मैं कह रहा हूं बिल्कुल सत्य है, बिल्कुल सत्य है। हजार दलीलें जुटाता है, कसमें खाता है कि यह बिल्कुल सत्य है। असत्य को चलाने के लिए सत्य सिद्ध करना ही पड़ता है। सत्य को चलाने के लिए कुछ भी सिद्ध नहीं करना पड़ता है। सत्य अपने पैर से चलता है। असत्य को सत्य के उधार पैर चाहिए।
वे तो भूल ही गए खेल अपना। वे तो भूल ही गए किसलिए आए थे और क्या होने लगा। वे तो रम गए।
ऐसा चुंबकीय आकर्षण उन्होंने कभी जाना न था। न देखा था ऐसा सौंदर्य।
यह कुछ और ही बात थी। यह कुछ देह की बात न थी। यह कुछ देहातीत था। यह कुछ पार की किरणें बुद्ध की देह से झलक रही थीं। बड़े-बूढ़ों को शायद दिखायी भी न पड़तीं। ये बच्चे तो सरल थे, इनकी आंखें ताजी थीं, इसलिए दिखायी पड़ गया। बुद्धों को जानने के लिए, पहचानने के लिए बच्चों के जैसी सरलता ही चाहिए।
न देखा था ऐसा प्रसाद, ऐसी शांति, ऐसा आनंद, ऐसा अपूर्व उत्सव; वे भगवान में ही डूब गए। वह अपूर्व रस, वह अलौकिक रंग उन सरल-हृदय बच्चों को लग गया। फिर वे रोज आने लगे। फिर वे हर बहाने से आने लगे। फिर कोई भी मौका मिलता तो भागे और जेतवन पहुंचे।
वे भगवान के पास आते-आते धीरे-धीरे ध्यान में भी बैठने लगे।
और तो होगा भी क्या! भगवान के पास जाओगे तो ध्यान में बैठना ही पड़ेगा। पहले खेलने-खेलने में आए होंगे; पहले यह आदमी प्यारा लगा था, इसलिए आए होंगे; पहले इस आदमी के पास बैठकर अच्छा लगा था, इसलिए आए होंगे; इसकी छाया मधुर लगी थी, इसलिए आए होंगे। पर धीरे-धीरे इस आदमी के पास ध्यान की जो वर्षा हो रही है, धीरे-धीरे पूछने लगे होंगे, उत्सुक होने लगे होंगे, पूछा होगा, हम आप जैसे कैसे हो जाएं? छोटे बच्चे अक्सर पूछ लेते हैं कि हम आप जैसे कैसे हो जाएं? ऐसा सौंदर्य हमें कैसे मिले? आंखों में ऐसी सुंदर झील हमारे कब हो? कैसे हो? चलें, उठें, बैठें, तो ऐसा प्रसाद हमसे कैसे झलके?

आपने यह कहां पाया? कैसे पाया? जिज्ञासा की होगी, फिर ध्यान में भी बैठने लगे।
उनकी सरल श्रद्धा देखते ही बनती थी।
श्रद्धा दो तरह की होती है। एक होती है सरल श्रद्धा। सरल श्रद्धा का अर्थ होता है--संदेह था ही नहीं पहले से, हटाना कुछ भी नहीं पड़ा, श्रद्धा का झरना बह ही रहा था। और एक होती है जटिल श्रद्धा। संदेह का रोग पैदा हो गया है, अब संदेह को हटाना पड़ेगा; चेष्टा करनी पड़ेगी, तब श्रद्धा पैदा होगी। छोटे बच्चे अक्सर सरल श्रद्धा में उतर जाते हैं, बड़ों के लिए श्रद्धा जटिल काम है। संदेह जग गया है, वे करें भी तो क्या करें। अब पहले तो संदेह से लड़ना पड़ेगा, पहले तो संदेह को तोड़ना पड़ेगा, पहले तो संदेह को उखाड़ फेंकना पड़ेगा। यह घास-पात जो संदेह की ऊग गयी है, यह न हटे तो श्रद्धा के गुलाब लगें भी न। तो पहले उन्हें संदेह को उखाड़ना पड़ेगा। उनकी अधिक शक्ति संदेह से लड़ने में लग जाती है। तब कहीं श्रद्धा पैदा हो पाती है। जटिल है। छोटे बच्चों को तो सरल है।
मगर छोटे बच्चों को हम बिगाड़ देते हैं। अगर दुनिया में मां-बाप थोड़े ज्यादा समझदार हों, तो हम बच्चों को कुछ भी ऐसा न करेंगे जिससे उनकी सरल श्रद्धा बिगड़ जाए। हम कहेंगे कि तुम अपनी सरल श्रद्धा को बचाए रखो, कभी कोई मिलेगा आदमी, कभी कोई मिलेगी घड़ी, जब तुम्हारा तालमेल बैठ जाएगा किसी से, उसी सरल श्रद्धा के आधार पर तुम किसी बुद्ध को, किसी जिन को, किसी कृष्ण को, किसी क्राइस्ट को पहचान लोगे। हम तुम्हारी श्रद्धा खराब न करेंगे। लेकिन हम बच्चों की गर्दन पकड़ लेते हैं। इसके पहले कि उनकी सरल श्रद्धा उन्हें जगत के विस्तार में ले जाए और वे कहीं किसी बुद्ध के चरणों में शरण में बैठें, हम उन्हें पहले ही झूठी श्रद्धा थोप देते हैं। झूठी श्रद्धा थोप देने के कारण संदेह पैदा होता है। इस गणित को ठीक से समझ लेना।
संदेह पैदा क्यों होता है दुनिया में? संदेह पैदा होता है झूठी श्रद्धा थोप देने के कारण। छोटा बच्चा है, तुम कहते, मंदिर चलो। छोटा बच्चा पूछता है, किसलिए? अभी मैं खेल रहा हूं, मैं मजे में हूं। तुम कहते हो, मंदिर में और भी ज्यादा आनंद आएगा। और छोटे बच्चे को बिल्कुल नहीं आता। तुम तो श्रद्धा सिखा रहे हो और बच्चा संदेह सीख रहा है। बच्चा सोचता है, कैसा आनंद! यहां बड़े-बूढ़े बैठे हैं उदास, यहां दौड़ भी नहीं सकता, खेल भी नहीं सकता, नाच भी नहीं सकता, चीख-पुकार भी नहीं कर सकता, यहां कैसा आनंद! और बाप कहता था यहां आनंद मिलेगा!
फिर बाप कहता है, झुको, यह भगवान की मूर्ति है। और बच्चा कहता है, भगवान! यह तो पत्थर है! यह तो पत्थर को कपड़े-लत्ते पहनाकर आपने खड़ा कर दिया है। तुम कहते हो, झुको जी, बड़े होओगे तब समझोगे। अभी तुम छोटे हो, अभी तुम्हारी यह बात समझ में नहीं आ सकती है। बड़ी जटिल बात है, बड़ी कठिन बात है। बड़े होओगे, तब समझोगे।
तुम जबर्दस्ती बच्चे की गर्दन पकड़कर झुका देते हो। तुम उसमें संदेह पैदा कर रहे हो। ध्यान रखना, तुम सोच रहे हो कि श्रद्धा पैदा कर रहे हो! वह बच्चा सिर तो झुका लेता है, लेकिन वह जानता है कि है तो यह पत्थर की मूर्ति।
उसे न केवल इस मूर्ति पर संदेह आ रहा है, अब तुम पर भी संदेह आ रहा है, तुम्हारी बुद्धि पर भी संदेह आ रहा है। अब वह सोच रहा है कि यह बाप भी कुछ मूढ़ मालूम होता है। कह नहीं सकता। कहेगा, जब तुम बूढ़े हो जाओगे और वह जवान हो जाएगा और उसके हाथ में ताकत होगी, जब तुम्हारी गर्दन दबाने लगेगा वह, तब कहेगा कि तुम मूढ़ हो।
मां-बाप पीछे परेशान होते हैं, वे कहते हैं कि क्या मामला है, बच्चे हम में श्रद्धा क्यों नहीं रखते! तुम्हीं ने नष्ट करवा दी श्रद्धा। तुमने ऐसे-ऐसे काम बच्चों से करवाए, तुमने ऐसी-ऐसी बातें बच्चों पर थोपीं, कि बच्चों का सरल हृदय तो टूट ही गया और तुम जो झूठी श्रद्धा थोपना चाहते थे वह कभी थुपी नहीं। उसके पीछे संदेह पैदा हुआ। झूठी श्रद्धा कभी संदेह से मुक्त होती ही नहीं, संदेह की जन्मदात्री है। झूठी श्रद्धा के पीछे आता है

संदेह। बच्चे की आंख तो ताजी होती है, उसे तो चीजें साफ दिखायी पड़ती हैं कि क्या-क्या है।
अब तुम कहते हो, यह गऊ माता है। और बच्चा कहता है, गऊ माता! तो बच्चा कहता है, यह जो बैल है, क्या यह पिता है? यह सीधी बात है, गणित की बात है। तुम कहते हो, नहीं, बैल पिता नहीं है, बस गऊ माता है। अब बच्चे को तुम पर संदेह होना शुरू हुआ कि बात क्या है? अगर गऊ माता है, तो बैल पिता होना चाहिए। और अगर बैल पिता नहीं है, तो गऊ माता कैसे है?
तुमने बच्चे के गले में एक धागा पहना दिया और तुम कहते हो कि यह बड़ा पवित्र है। और बच्चा देखता है कि मां इसको बना रही थी। यह पवित्र हो कैसे गया? यह पवित्र हो कब गया? इसकी पवित्रता क्या है?
तुम जो भी बच्चे को सिखा रहे हो, बच्चा भीतर से देख रहा है कि यह बात झूठ मालूम पड़ती है। कहता नहीं, इससे तुम यह मत सोच लेना कि तुम जीत गए। कहेगा, जब उसके पास ताकत होगी। क्योंकि अभी तो कहेगा तो पिटेगा।
मुझे जब पहली दफा मंदिर ले जाया गया और मुझे कहा गया कि झुको, तो मैंने कहा, मुझे झुका दो। मेरी गर्दन पकड़कर झुका दो। क्योंकि मुझे कुछ झुकने योग्य दिखता नहीं यहां! क्योंकि जिस मंदिर में मुझे ले जाया गया था, वह मूर्तिपूजकों का मंदिर नहीं है, वहां सिर्फ ग्रंथ होते हैं मंदिर में। मैं जिस परिवार में पैदा हुआ, वह मूर्तिपूजक नहीं है, वह सिर्फ ग्रंथ को पूजता है। तो वहां वेदी पर किताब रखी थी। मैंने कहा, मैं किताब को क्यों झुकूं? किताब में क्या हो सकता है? कागज हैं और स्याही है, इससे ज्यादा तो कुछ भी नहीं हो सकता। फिर अगर आपकी मर्जी है, तो झुका दो, आपके हाथ में ताकत है, मैं छोटा हूं अभी तो कुछ कर नहीं सकता, लेकिन बदला लूंगा इसका।
पर मैं कहूंगा कि मुझे अच्छे बड़े-बूढ़े मिले, मुझे झुकाया नहीं गया। उन्होंने कहा, तब ठीक है, जब तेरा मन हो तब झुकना। जब तेरी समझ में आए तब झुकना। फिर मुझे मंदिर नहीं ले जाया गया। और उसके कारण अब भी मेरे मन में अपने बड़े-बूढ़ों के प्रति श्रद्धा है। अगर मुझे झुकाया होता, मेरे साथ जबर्दस्ती की होती, तो उस किताब के प्रति तो मेरी श्रद्धा पैदा हो ही नहीं सकती थी, इनके प्रति भी अश्रद्धा पैदा हो जाती। मुझे लगता कि ये हिंसक लोग हैं और अहिंसा परमो धर्मः इनके मंदिर पर लिखा है। और ये हिंसक लोग हैं, एक छोटे बच्चे के साथ हिंसा कर रहे हैं, उसे जबर्दस्ती झुका रहे हैं, और दीवाल पर लिखा है--अहिंसा परमो धर्मः, अहिंसा परम धर्म है, यह कैसी अहिंसा! मुझे हजार संदेह खड़े होते। उन्होंने नहीं झुकाया, संदेह भी खड़े नहीं हुए! ख्याल रखना, किसी पर जबर्दस्ती थोपना मत। थोपने का ही प्रतिकार है संदेह। फिर एक दफा संदेह उठ गया तो बड़ी अड़चन हो जाती है। जब संदेह मजबूत हो जाता है, तो फिर तुम बुद्ध के पास भी चले जाओ, तो भी संदेह उठेगा। जिसका अपने मां-बाप पर भरोसा खो गया, उसका अस्तित्व पर भरोसा खो जाता है। फिर वह किसी पर भरोसा नहीं कर सकता। वह कहता है, जब अपने मां-बाप धोखा दे गए... । मुल्ला नसरुद्दीन का छोटा बच्चा एक सीढ़ी चढ़ रहा था और मुल्ला वहीं खड़ा था। उसने कहा कि बेटा कूद पड़! सीढ़ी से कूद पड़! वह बेटा डरा और उसने कहा, कूदूंगा तो लग जाएगी, चोट लग जाएगी। उसने कहा, मैं तेरा पिता खड़ा हूं सम्हालने को, तू डरता क्यों है? बाप पर भरोसा करके बेटा कूद गया और मुल्ला सरककर खड़ा हो गया। भड़ाम से वह नीचे गिरा। दोनों घुटने छिल गए, वह रोने लगा। और उसने कहा कि पिताजी, यह क्या बात है? आपने मुझे धोखा दिया। मुल्ला ने कहा कि हां, एक पाठ है, दुनिया में ख्याल रखना, किसी की मानना मत। अपने बाप की भी मत मानना, यहां दुनिया बड़ी धोखेबाज है। मैं तेरा बाप हूं, मेरी भी मत मानना कभी। इसीलिए हट गया। यह तुझे एक पाठ दिया।
मगर इस तरह के पाठ तो अंततः मनुष्य के मन में संदेह को गहन करते जाते हैं। और जिसका अपने मां-बाप पर संदेह पैदा हो गया, उसकी फिर किसी पर श्रद्धा नहीं रह जाती। जो निकटतम थे, जो अपने इतने करीब थे, जिनसे हम पैदा हुए थे, वे भी धोखेबाज सिद्ध हुए! वे भी कुछ ऐसी बातें कह गए जो सच न थीं! वे भी ऐसी बातें कर रहे थे जो मिथ्या थीं! जिनको हम आज नहीं कल अपने जीवन में जान लेंगे, अनुभव कर लेंगे कि बात बिल्कुल झूठ थी। फिर भी कही गयी थी! मां- बाप ने भी झूठ कहा था!

अगर मां-बाप सिर्फ उतना ही कहें जितना जानते हैं, और एक शब्द ज्यादा न कहें, और बच्चों को मुक्त रखें, और उनकी सरल श्रद्धा नष्ट न करें, तो यह सारी दुनिया धार्मिक हो सकती है। यह दुनिया अधार्मिक नास्तिकों के कारण नहीं है, स्मरण रखना, यह तुम्हारे थोथे आस्तिकों के कारण अधार्मिक है। भगवान ने न तो उन्हें कुछ कहा, न उन्हें कुछ सिद्धांत सिखाए... ।
फर्क समझो। उन्होंने यह भी नहीं कहा कि दुनिया को भगवान ने बनाया है,
और तुम्हारे भीतर आत्मा है, और इत्यादि-इत्यादि। उन्होंने तो अपनी जीवन ऊर्जा उन बच्चों पर बरसायी। जो उनके पास था, बच्चों को पिलाया। ध्यान दिया।
ध्यान देना, सिद्धांत मत देना। यह मत कहना कि भगवान है। यह कहना कि शांत बैठने से धीरे-धीरे तुम्हें पता चलेगा, क्या है और क्या नहीं है। निर्विचार होने से पता चलेगा कि सत्य क्या है। विचार मत देना, निर्विचार देना। ध्यान देना, सिद्धांत मत देना। ध्यान दिया तो धर्म दिया और सिद्धांत दिया तो तुमने अधर्म दे दिए। शास्त्र मत देना, शब्द मत देना, निःशब्द होने की क्षमता देना। प्रेम देना।
ध्यान और प्रेम अगर दो चीजें तुम दे सको किसी बच्चे को, तो तुमने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। तुमने इस बच्चे की आधारशिला रख दी। इस बच्चे के जीवन में मंदिर बनेगा, बड़ा मंदिर बनेगा। इस बच्चे के जीवन के शिखर आकाश में उठेंगे और इसके स्वर्ण-शिखर सूरज की रोशनी में चमकेंगे और चांद-तारों से बात करेंगे।
उनकी सरल श्रद्धा देखते ही बनती थी। फिर उनके मां-बाप को खबर लगी। मां-बाप अति क्रुद्ध हुए, पर अब देर हो चुकी थी। बुद्ध का स्वाद लग चुका था। बहुत उन्होंने सिर मारा, उनके पंडित-पुरोहितों ने बच्चों को समझाया; डांटा-डपटा; भय-लोभ, साम-दाम, दंड-भेद, सबका उन छोटे-छोटे बच्चों पर प्रयोग किया गया, पर जो छाप बुद्ध की पड़ गयी थी सो पड़ गयी थी।
उन्होंने एक अनूठा आदमी देख लिया था, अब ये पंडित सब फीके-फीके मालूम पड़ते थे। उन्होंने एक जीवंत ज्योति देख ली थी। अब ये पुरोहित बिल्कुल राख थे। अब धोखा नहीं दिया जा सकता था। उन्होंने अनुभव कर लिया था इस आदमी के पास एक नयी ऊर्जा का, अब यह मां-बाप की बकवास और बातचीत कुछ अर्थ न रखती थी। जब तक अनुभव नहीं किया था तब तक कसम खाने को राजी हो गए थे कि न जाएंगे। जिसको देखा न था, उसके पास न जाने की कसम खाने में अड़चन न थी। अब देख लिया था, अब देर हो गयी थी।
फिर तो वे मां-बाप इतने पगला गए, इतने विक्षिप्त हो गए कि अंततः उन्होंने यही तय कर लिया कि ऐसे बच्चों को घर में न रखेंगे। इनको बुद्ध को ही दे देंगे। सम्हालो इन्हें तुम ही, ये हमारे नहीं रहे, इनसे हम संबंध विच्छिन्न कर लेते हैं। ऐसा सोचकर इन बच्चों को त्याग देने के लिए ही वे बुद्ध के पास गए, पर यह जाना उनके जीवन में ज्योति जला गया।
कभी-कभी ऐसा हो जाता है, तुम गलत कारण से बुद्धों के पास जाते हो, फिर
भी ठीक घट जाता है। तुम ठीक कारणों से भी पुरोहितों के पास जाओ, तो भी ठीक नहीं घटता। और तुम गलत कारणों से भी बुद्धों के पास चले जाओ तो कभी-कभी ठीक घट जाता है। कभी अनायास झरोखा खुल जाता है।

आखिर इन मां-बाप को भी इतना तो विचार उठा ही होगा कि हमने पैदा किया इन बच्चों को, हमने बड़ा किया इन बच्चों को, हमने पाला-पोसा, हमारी नहीं सुनते हैं! आखिर इस बुद्ध ने क्या दे दिया होगा! आखिर इस आदमी के पास क्या होगा! हमारे पंडित की नहीं सुनते हैं जो कि शास्त्रों का ज्ञाता है, वेद जिसे कंठस्थ हैं। हमारे धर्मगुरु की नहीं सुनते हैं जो कि इतना अच्छा वक्ता है, इतना अच्छा समझाता है, जिसकी सलाह, इससे और अच्छी सलाह क्या हो सकती है! आखिर इस बुद्ध में ऐसा क्या होगा! और फिर हमने इन्हें मारा, पीटा, लोभ दिया, कुछ भी असर नहीं होता। हो न हो कुछ बात हो भी सकती है। उनके भीतर भी एक सुगबुगी तो उठी होगी। असंभव है कि न उठी हो। एक विचार तो मन में कौंधा होगा बिजली की तरह कि हो न हो हम ही गलत हों! कौन जाने! फिर एकाध बच्चे की बात न थी, बहुत बच्चों की बात थी, ये कई बच्चे पड़ोस के खेलते चले गए थे। फिर ये सब

टिके थे। ये सब कष्ट सहने को तैयार थे, लेकिन बुद्ध के पास नहीं जाएंगे, ऐसी कसम खाने को अब तैयार न थे।
गए तो होंगे क्रोध में ही, गए तो होंगे नाराज, गए तो थे इन बच्चों को छोड़ आने, लेकिन भीतर एक बात तो जग ही गयी थी कि क्या होगा! पता नहीं, इस आदमी में कुछ हो!
इधर रोज ऐसा घटता है। लोग रोकते हैं किसी को आने से कि वहां मत जाना, सम्मोहित हो जाओगे। वहां सम्मोहन का प्रयोग चल रहा है। एक पति का मुझे पत्र मिला--तीन-चार पत्र मिल चुके हैं महीनेभर के भीतर--बड़े पत्र लिखते हैं कि मेरी पत्नी ने आपसे संन्यास ले लिया, मैं बरबाद हो गया। मेरा सब नष्ट-भ्रष्ट हो गया। आपने सम्मोहित कर लिया। आप कृपा करके मेरी पत्नी पर से सम्मोहन हटा लें। आप उसे मुक्त कर दें।
अब मेरा संन्यास न तो किसी को तोड़ता घर से; न पत्नी को तोड़ता पति से, न पति को तो.ड़ता पत्नी से, न पत्नी बच्चे से टूट रही है। मगर बस, पति को भारी अड़चन हो गयी है! अड़चन क्या है?
अड़चन यही है कि अब तक वे पत्नी के परमात्मा बने बैठे थे, अब वह बात न रही। अड़चन यह है कि उनका प्रभुत्व एकदम से क्षीण हो गया। अड़चन यह है कि आज अगर उनकी पत्नी से मैं कुछ कहूं तो वह मेरी मानेगी, उनकी नहीं मानेगी, यह अड़चन--अभी मैंने कुछ कहा भी नहीं है, मैं कभी कहूंगा भी नहीं--बस लेकिन अड़चन, संभावना की अड़चन। यह बात पीड़ा दे रही है। पुरुष के अहंकार को बड़ा कष्ट होता है।
वह मुझे पत्र में लिखते हैं कि मुझमें क्या कमी है, जो मेरी पत्नी आपके पास जाती है? यह तो तुम अपनी पत्नी से पूछो। प्रोफेसर हैं किसी विश्वविद्यालय में, लिखते हैं कि मैं दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर हूं। हर बात जो प्रश्न उठता हो, हर एक का उत्तर मेरे पास है, विद्यार्थियों को पढ़ाता हूं, मेरी पत्नी को क्या पूछना है जो आपके पास जाए? मैं सब बात का उत्तर देने को तैयार हूं।
आप सब बात का उत्तर देने को तैयार हैं, लेकिन अगर पत्नी आपके उत्तरों में आस्था रखने को तैयार नहीं, तो मैं क्या करूं? मैंने पत्नी को बुलाकर समझा भी दिया कि देवी, तू जा! मगर जितना मैं उसे समझाता हूं कि तू जा, उतना वह जाने को राजी नहीं है।
ऐसा निरंतर होता रहा है। ऐसे होने का कारण है। कोई किसी को यहां सम्मोहित नहीं कर रहा है। लेकिन सत्य सम्मोहक है, यह बात सच है। कोई सम्मोहन नहीं कर रहा है, लेकिन सत्य सम्मोहक है। सत्य की एक किरण भी तुम्हारे ख्याल में आ जाए, तो बस, तुम्हारी भांवर पड़नी शुरू हो जाती है। अनजाने यह हो जाता है। गए थे वे मां-बाप बड़ी नाराजगी में, लेकिन बुद्ध के पास गए तो उनके जीवन में भी एक ज्योति जली। जो-जो उनके पंडित-पुजारियों ने अब तक कहा था बुद्ध के संबंध में, वैसा तो कुछ भी न था। पंडित-पुजारी तो ऐसा बता रहे थे कि इससे बड़ा शैतान कोई नहीं है। यह आदमी भ्रष्ट कर रहा है। आखिर कितने ही अंधे रहे हों और दर्पण पर कितनी ही धूल जमी हो, दर्पण फिर भी तो कहीं कोने-कांतर से झलक दे ही देगा। थोड़ा-बहुत तो दर्पण बचा होगा। देखा होगा इस आदमी को, यह आदमी तो ऐसा कुछ शैतान नहीं मालूम होता; देखे होंगे भिक्षु, ये भिक्षु कुछ ऐसे तो पाशविक नहीं मालूम होते। जैसा पंडित-पुजारी कह रहे थे, ऐसा कुछ धूर्त नहीं मालूम होता। इसकी बातें सुनी होंगी, इनमें कुछ धूर्तता नहीं मालूम होती, सीधी-साफ बातें हैं, दो-टूक बातें हैं। शायद दो-टूक हैं इसीलिए अखरती हैं पंडित-पुरोहितों को। तुलना उठी होगी।
उनके जीवन में भी एक ज्योति जली। बुद्ध के पास जाना और बुद्ध के बिना हुए लौट आना संभव भी नहीं है। इन्हीं लोगों से बुद्ध ने ये गाथाएं कही थीं--
अवज्जे वज्जमतिनो वज्जे च वज्जदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छंति दुग्गतिं।।
वज्जतोांत्वा अवज्जंच अवज्जतो।
सम्मादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छंति सुग्गतिं।।

"जो अदोष में दोष-बुद्धि रखने वाले और दोष में अदोष-दृष्टि रखने वाले हैं, वे लोग मिथ्या-दृष्टि को ग्रहण करने के कारण दुर्गति को प्राप्त होते हैं।"
"दोष को दोष, अदोष को अदोष जानकर लोग सम्यक-दृष्टि को धारण करके सुगति
को प्राप्त होते हैं।"
दो छोटी सी बातें, दो छोटे से सूत्र उन्होंने उन लोगों को दिए। उनको कहा कि जो जैसा है उसे वैसा ही देखने से सम्यक-दृष्टि पैदा होती है। और जो जैसा नहीं है, उससे अन्यथा देखने से मिथ्या-दृष्टि पैदा होती है। जो जैसा है, उसे बिना पक्षपात के वैसा ही देखना चाहिए; तो तुम सुगति में जाओगे। जो जैसा नहीं है वैसा उसे देखोगे, जो जैसा है वैसा उसे नहीं देखोगे, तो किसी और की हानि नहीं है, तुम्हीं धीरे-धीरे विकृति में घिरते जाओगे।
"जो अदोष में दोष-बुद्धि रखने वाले हैं।"
और बुद्ध ने कहा कि मैं यहां बैठा हूं, मुझे देखो, पक्षपात लेकर मत आओ; दूसरे क्या कहते हैं, इसे बाहर रख आओ; मेरे पास आओ, मुझे देखो। मुझे देखो निष्पक्ष भाव से, ताकि तुम निर्णय कर सको कि क्या ठीक है और क्या गलत है। फिर तुम्हीं निर्णायक बनो। मगर तुम पहले ही तय कर लो, तुम पहले ही मान लो, आने के पहले ही निर्णय कर लो, आओ ही न, अपने निर्णय को ही मानकर बैठ जाओ आंख बंद करके, फिर तुम्हारी मर्जी! लेकिन तब ध्यान रखना, दुर्गति में पड़ोगे। दुर्गति में पड़ ही गए, क्योंकि तुम अंधे हो गए, जगह-जगह टकराओगे और जीवन-सत्य तुम्हें कभी भी न मिलेगा। और जीवन-सत्य ही मिल जाए, तो सुगति, तो स्वर्ग। और जीवन-सत्य ही खो जाए, तो दुर्गति।
दोष को दोष देखो, अदोष को अदोष जानो, तो सम्यक-दृष्टि उत्पन्न होती है। ठीक-ठीक दृष्टि, ठीक-ठीक आंखें। और बुद्ध का सारा जोर इस बात पर है कि तुम्हारी आंख ठीक हो--बेपर्दा हो, नग्न हो, पक्षपात मुक्त हो, खाली हो, ताकि खाली आंख से तुम देख सको, जो जैसा है वैसा ही देख सको।
अब जो लोग बुद्ध के पास आकर भी चूक जाते होंगे देखने से, एक ही अर्थ है
इस बात का कि उनकी आंखें इतनी भरी होंगी, इतनी भरी होंगी कि वे कुछ का कुछ देख लेते होंगे।
तुमने अक्सर पाया होगा, अगर तुम्हारी कोई दृष्टि हो तो तुम कुछ का कुछ देख लेते हो। सूफी कहानी है--
एक फकीर की अपनी बगिया में काम करते वक्त खुरपी खो गयी। वह कुछ पानी पीने भीतर गया झोपड़े में, लौटकर आया, खुरपी नदारद! पास से एक पड़ोस का छोकरा जा रहा था। उसने उसको देखा, उसने कहा कि यही है चोर, इसकी चाल से साफ मालूम हो रहा है कि चोर है। इसका ढंग देखो, आंख बचाकर जा रहा है, उधर देख रहा है, इसके पैर की आहट बता रही है कि चोर है, यही है। मगर अब एकदम से उसको पकड़ना ठीक भी नहीं। वह जांच रखने लगा। तीन दिन तक देखता रहा, जब भी यह लड़का निकले, इधर-उधर जाए तो वह देखे और उसे बिल्कुल पक्का होता गया कि है चोर यही, हर चीज ने प्रमाण दिया उसको कि यह चोर है। एक तो आंख से आंख नहीं मिलाता, कहीं- कहीं देखता है, चलता है तो डरा-डरा चलता है, चौंका-चौंका सा मालूम पड़ता है, खुरपी इसी ने चुरायी है।
फिर चौथे दिन खोदते वक्त खुरपी उसको मिल गयी झाड़ी में। वह लड़का फिर निकल रहा था, उसने देखा, अरे, कितना भला लड़का है! जरा भी चोर नहीं मालूम होता! अब भी वह वैसे ही चल रहा है, मगर अब दृष्टि बदल गयी।
तुम जरा ख्याल करना, एक आदमी के प्रति तुम एक धारणा बना लो, फिर उस धारणा से देखो, तो तुम पाओगे उसी धारणा का समर्थन करने के लिए तुम्हें बहुत कुछ मिल जाएगा। फिर तुम्हारी धारणा बदल दो, तुम अचानक पाओगे कि वह आदमी बदल गया। क्योंकि अब तुम्हारी नयी धारणा के अनुकूल तुम जो पाना चाहोगे वह मिल जाएगा।
बुद्ध कहते हैं, सम्यक-दृष्टि उसको कहते हैं जो निर्धारणा है। जिसकी कोई धारणा नहीं। अच्छी नहीं, बुरी नहीं। समदृष्टि। न इस तरफ सोचता है, न उस तरफ। तराजू ठीक बीच में कांटा अटका है, न यह पलड़ा भारी है, न वह पलड़ा भारी है। ऐसी समतुल स्थिति का नाम समदृष्टि। जिसने मान ही लिया, बिना खोजे,

बिना सोचे, बिना विचारे, बिना अनुभव किए, वह असम्यक-दृष्टि या मिथ्या- दृष्टि।
बुद्ध ने उनसे इतना ही कहा कि तुम देखना सीखो, अपनी आंख को जरा साफ करो, अन्यथा तुम्हीं भटकोगे, तुम्हीं दुख पाओगे।
दूसरा दृश्यः

भगवान के कौशांबी में विहरते समय की घटना है। बुद्ध-विरोधी धर्मगुरुओं ने गुंडों-बदमाशों को रुपए-पैसे खिला-पिलाकर भगवान का तथा भिक्षुसंघ का आक्रोशन, अपमान करके भगा देने के लिए तैयार कर लिया था। वे भिक्षुओं को देखकर भद्दी गालियां देते थे। नहीं लिखी जा सकें, ऐसी, शास्त्र कहते हैं। जो लिखी जा सकें, वे ये थीं--भिक्षु निकलते तो उनसे कहते, तुम मूर्ख हो, पागल हो, झक्की हो, चोर-उचक्के हो, बैल-गधे हो, पशु हो, पाशविक हो, नारकीय हो, पतित हो, विकृत हो, इस तरह के शब्द भिक्षुओं से कहते। ये तो जो लिखी जा सकें। न लिखी जा सकें तुम समझ लेना।
वे भिक्षुणिओं को भी अपमानजनक शब्द बोलते थे। वे भगवान पर तरह-तरह की कीचड़ उछालते थे। उन्होंने बड़ी अनूठी-अनूठी कहानियां गढ़ रखी थीं। और उन कहानियों में, उस कीचड़ में बहुत से धर्मगुरुओं का हाथ था।
जब बहुत लोग बात कहते हों तो साधारणजन मान लेते हैं कि ठीक ही कहते होंगे। आखिर इतने लोगों को कहने की जरूरत भी क्या है? ठीक ही कहते होंगे। आनंद स्थविर ने भगवान के पास जाकर वंदना करके कहा--भंते, ये नगरवासी
हम लोगों का आक्रोशन करते हैं, गालियां देते हैं, इससे अच्छा है कि हम किसी दूसरी जगह चलें। यह नगर हमारे लिए नहीं। भिक्षु बहुत परेशान हैं, भिक्षुणियां बहुत परेशान हैं। झुंड के झुंड लोग पीछे चलते हैं और अपमानजनक शब्द चीखते-चिल्लाते हैं। एक तमाशा हो गया, यहां तो जीना कठिन हो गया है। फिर आपकी आज्ञा है कि हम इसका कोई उत्तर न दें, धैर्य और शांति रखें, इससे बात और असह्य हुई जाती है। हमें भी उत्तर देने का मौका हो तो हम भी जूझ लें और निपट लें।
क्षत्रिय था आनंद, पुराना लड़ाका था। यह भी एक झंझट लगा दी है कि कुछ कहना मत, कुछ बोलना मत, उत्तर देना मत। तो हम बड़ी मुश्किल में पड़ गए हैं, फांसी लग गयी है। वे फांसी लगा रहे हैं और आप फांसी लगाए हुए हैं। आप कहते हैं, बोलो मत, चुपचाप रहो, शांत रहो, धैर्य रखो। इससे बात बहुत असह्य हो गयी है।
और चुप्पी का अर्थ लोग क्या समझते हैं, आपको पता है, भंते? वे समझते हैं कि हमारे पास जवाब नहीं है, इसलिए चुप हैं। वे सोचते हैं कि है ही नहीं जवाब, नहीं तो जवाब देते न! बातें सच हैं जो आपके खिलाफ प्रचारित की जा रही हैं, इसीलिए तो बुद्ध चुप हैं और बुद्ध के भिक्षु चुप हैं। देखो, कैसे चुपचाप पूंछ दबाकर निकल जाते हैं! शांति का मतलब वे लोग ले रहे हैं कि पूंछ दबाकर निकल जाते हैं। कुछ बोलते नहीं। सत्य होता इनके पास, तो मैदान में आते, जवाब देते।
भगवान हंसे और बोले--आनंद, फिर कहां चलें? आनंद ने कहा--भंते, इसमें क्या अड़चन है, दूसरे नगर को चलें। और वहां के मनुष्यों द्वारा आक्रोशन करने पर कहां जाएंगे? भगवान ने कहा। भंते, वहां से भी दूसरे नगर को चले चलेंगे, नगरों की कोई कमी है, आनंद बोला। पागल आनंद, लेकिन ऐसा सभी जगह हो सकता है। सभी जगह होगा। अंधेरा सभी जगह हमसे नाराज होगा। बीमारियां सभी जगह हमसे रुष्ट होंगी। धर्मगुरु सभी जगह ऐसे ही हैं। और उनके स्वार्थ पर चोट पड़ती है, आनंद, तो वे जैसा यहां कर रहे हैं वैसा वहां भी करेंगे। और हम उनके स्वार्थ पर चोट करना बंद भी तो नहीं कर सकते, आनंद। कसूर तो हमारा ही है, भगवान ने कहा। हम उनके स्वार्थ पर चोट करते हैं, वे प्रतिशोध करते हैं। हम चोट करने से रुक नहीं सकते। क्योंकि अगर हम चोट न करें तो सत्य की कोई हवा नहीं फैलायी जा सकती। और जिन्होंने असत्य को पकड़ रखा है, वे तुम सोचते हो चुप ही बैठे रहेंगे! उनके स्वार्थ मरते, उनके निहित स्वार्थ जलते, टूटते, फूटते, वे बदला लेंगे।

कोई मठाधीश है, कोई महामंडलेश्वर है, कोई शंकराचार्य है, कोई कुछ है, कोई कुछ है, उनके सबके स्वार्थ हैं। यह कोई सत्य-असत्य की ही थोड़ी सीधी लड़ाई है, असत्य के साथ बहुत स्वार्थ जुड़ा है। अगर हम सही हैं, तो उनके पास कल कोई भी न जाएगा। और वे उन्हीं पर जीते हैं। आने वालों पर जीते हैं। तो उनकी लाख चेष्टा तो होगी ही कि वे हमें गलत सिद्ध करें।
फिर उनके पास कोई सीधा उपाय भी नहीं है। क्योंकि वे यह तो सिद्ध नहीं
कर सकते कि जो वे कहते हैं, सत्य है। सत्य का तो उन्हें कुछ पता नहीं है। इसलिए वे उलटा उपाय करते हैं--गाली-गलौज पर उतर आते हैं, अपमान-आक्रोशन पर उतर आते हैं; यह उनकी कमजोरी का लक्षण है। गाली-गलौज की कोई जरूरत नहीं है। हम अपना सत्य निवेदन करते हैं, वे अपना सत्य निवेदन कर दें, लोग निर्णय कर लेंगे, लोग सोच लेंगे। हमने अपनी तस्वीर रख दी है, वे अपनी तस्वीर रख दें। मगर वे अपनी तस्वीर रखते नहीं, उनके पास कोई तस्वीर नहीं है। उनका एक
ही काम है कि हमारी तस्वीर पर कीचड़ फेंकें। यही एक उनके पास उपाय है। तू उनकी तकलीफ भी समझ, आनंद, बुद्ध ने कहा। उनकी अड़चन देख। अपने ही दुख में मत उलझ। हमारा दुख क्या खाक दुख है। गाली दे दी, दे दी। गाली लगती कहां, लगती किस को! तू मत पकड़ तो लगेगी नहीं।
बुद्ध यह हमेशा कहते थे कि गाली तब तक नहीं लगती जब तक तुम लो न। तुम लेते हो, तो लगती है। किसी ने कहा--गधा। तुमने ले ली, तुम खड़े हो गए कि तुमने मुझे गधा क्यों कहा? तुम लो ही मत। आया हवा का झोंका, चला गया हवा का झोंका। झगड़ा क्या है! उसने कहा, उसकी मौज!
मैं अभी एक, कल ही एक छोटी सी कहानी पढ़ रहा था। अमरीका में प्रेसीडेंट
का चुनाव पीछे हुआ, कार्टर और फोर्ड के बीच। एक होटल में--कहीं टेक्सास में--कुछ लोग बैठे गपशप कर रहे थे और एक आदमी ने कहा, यह फोर्ड तो बिल्कुल गधा है। फिर उसे लगा कि गधा जरा जरूरत से ज्यादा हो गया, तो उसने कहा, गधा नहीं तो कम से कम घोड़ा तो है ही। एक आदमी कोई साढ़े छह फीट लंबा एकदम उठकर खड़ा हो गया और दो-तीन घूंसे उस आदमी को जड़ दिए। वह आदमी बहुत घबड़ाया, उसने कहा कि भई, आप क्या फोर्ड के बड़े प्रेमी हैं? उसने कहा कि नहीं, हम घोड़ों का अपमान नहीं सह सकते।
अब तुमसे कोई गधा कह रहा है, अब कौन जाने गधे का अपमान हो रहा है कि तुम्हारा हो रहा है। फिर गधे भी इतने गधे नहीं हैं कि गधे कहो तो नाराज हों। तुम क्यों नाराज हुए जा रहे हो? और वह जो कह रहा है, वह अपनी दृष्टि निवेदन कर रहा है। गधों को गधे के अतिरिक्त कुछ और दिखायी भी नहीं पड़ता। उसे हो सकता है तुममें गधा दिखायी पड़ रहा हो। उसको गधे से ज्यादा कुछ दिखायी ही न पड़ता हो दुनिया में। उसकी अड़चन है, उसकी समस्या है। तुम इसमें परेशान क्यों हो?
बुद्ध कहते थे, तुम लो मत, गाली को पकड़ो मत; गाली आए, आने दो, जाए, जाने दो, तुम बीच में अटकाओ मत। तुम न लोगे, तो तुम्हें गाली मिलेगी नहीं। तुम शांत रहो।
आनंद ने कहा, यह तो बड़ी मुश्किल है! तो हम क्या करें? बुद्ध ने कहा, क्या करें? संघर्ष हमारा जीवन है। और कहीं और जाने से कुछ भी हल न होगा। फिर भी आनंद ने कहा, तो हम करें क्या? आनंद, हम सहें, बुद्ध ने कहा। हम शांति से सहें। सत्य के लिए यह कीमत चुकानी ही पड़ती है। जैसे संग्राम भूमि में गया हाथी चारों दिशाओं से आए हुए बाणों को सहता है, ऐसे ही अपमानों और गालियों को सह लेना हमारा कर्तव्य है। इसमें ही तुम्हारा कल्याण है, इसे अवसर समझो और निराश न होओ। उन गालियां देने वालों का बड़ा उपकार है।
यह बुद्ध की सदा की दृष्टि है। यह बुद्धों की सदा की दृष्टि है। इसमें
भी हमारा उपकार है। न वे गाली देते, न हमें शांति रखने का ऐसा अवसर मिलता। न वे हमारा अपमान करते, न हमारे पास कसौटी होती कि हम अपमान को अभी जीत सके या नहीं? वे खड़ा करें तूफान हमारे चारों तरफ और हम निर्विघ्न, निश्चिंत और अकंप बने रहें। तो उनका उपकार मानो। वे परीक्षा के मौके दे रहे हैं। इन्हीं परीक्षाओं से गुजरकर निखरोगे तुम। इन्हीं परीक्षाओं से गुजरकर मजबूत होगे। अगर वे ये मौके न दें, तो तुम्हें कभी मौका ही नहीं मिलेगा कि तुम कैसे जानो कि तुम्हारे भीतर कुछ सचमुच ही घटा है, या नहीं घटा है! उनकी

कठिनाइयों को कठिनाइयां मत समझो, परीक्षाएं समझो। और तब उनका भी उपकार है।
और जाने से कुछ भी न होगा, बुद्ध ने कहा। इस गांव को छोड़ोगे, दूसरे गांव में यही होगा। दूसरा गांव छोड़ोगे, तीसरे गांव में यही होगा। हर जगह यही होगा। हर जगह धर्मगुरु हैं, हर जगह गुंडे हैं। और हर जगह धर्मगुरुओं और गुंडों के बीच सांठ-गांठ है। वह पुरानी सांठ-गांठ है। राजनीतिज्ञ और धर्मगुरु के बीच बड़ी पुरानी सांठ-गांठ है। राजनीतिज्ञ का अर्थ होता है-- स्वीकृत गुंडे, सम्मानित गुंडे, जो बड़ी व्यवस्था और कानून के ढंग से अपनी गुंडागिरी चलाते हैं। इनके साथ भी पीछे अस्वीकृत गुंडों का हाथ होता है। वे भी पीछे खड़े हैं।
हर कोई जानता है कि तुम्हारा राजनेता जिनके बल पर खड़ा होता है, वह गुंडों की एक कतार है। तुम्हारा राजनेता कुशल डाकू है। और डाकू उसके सहारे के लिए खड़े हैं। और धर्मगुरु, इन दोनों की सांठ-गांठ है। धर्मगुरु सदा से कहता रहा है कि राजा भगवान का अवतार है। और राजा आकर धर्मगुरु के चरण छूता है। जनता खूब भुलावे में रहती है। जनता देखती है कि धर्मगुरु सच्चा होना चाहिए, क्योंकि राजा जिसके पैर छुए! और जब धर्मगुरु कहता है कि राजा भगवान का अवतार है तो ठीक ही कहता होगा। जब धर्मगुरु कहता है तो ठीक ही कहता होगा। यह शड्यंत्र है। यह पुराना शड्यंत्र है। यह पृथ्वी पर सदा से चलता रहा है। धर्मगुरु सहायता देता रहा है राजनेताओं को और राजनेता सहायता देते रहे धर्मगुरुओं को। दोनों के बीच में आदमी कसा रहा है। दोनों ने आदमी को चूसा है।
बुद्ध दोनों के विपरीत एक बगावत खड़ी कर रहे हैं। तो कहते हैं, हर गांव में यही होगा। हर गांव में यही होना है। गांव-गांव में यही होना है। क्योंकि हर गांव की कहानी यही है, व्यवस्था यही है। हम जहां जाएंगे, वहीं अंधेरा हमसे नाराज होगा। हम जहां जाएंगे, वहीं लोग हमसे रुष्ट होंगे। हम जहां जाएंगे, वहीं हमें गालियां मिलेंगी, अपमान मिलेंगे। तुम इनके लिए तैयार रहो। यही हमारा सम्मान है। सत्य की यही कसौटी है।
आनंद को ये बातें कहकर बुद्ध ने ये सूत्र कहे थे, ये गाथाएं--

अहं नागोव संगामे चापतो पतितं सरं।
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं दुस्सीलो हि बहुज्जनो।।
दंतं नयंति समितिं दंतं राजाभिरूहति।
दंतो सेट्ठो मनुस्सेसु योति वाक्यं तितिक्खति।।
नहि एतेहि यानेहि गच्छेय अगतं दिसं।
यथात्तना सुदंतेन दंतो दंतेन गच्छति।।
इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं
येनिच्छकं यत्थ कामं यथासुखं।
तदज्जहं निग्गहेस्सामि योनिसो
हथिप्पभिन्नं विय अंकुसग्गहो।।

"जैसे युद्ध में हाथी गिरे हुए बाण को सहन करता है, वैसे ही मैं कटु वाक्य को सहन करूंगा, क्योंकि बहुजन तो दुःशील ही हैं।"
बहुजन तो दुष्ट प्रकृति के हैं ही। इसे मानकर चलो। सभी जगह यह बहुजन मिलेंगे। फिर जैसे युद्ध में हाथी गिरे हुए बाण को सहन करता है, चारों दिशाओं से आते बाणों को सहन करो। यह स्वीकार करके कि दुनिया में अधिक लोग दुष्ट हैं, बुरे हैं। उनका कोई कसूर भी नहीं, वे बुरे हैं, इसलिए बुरा करते हैं। वे दुष्ट हैं, इसलिए दुष्टता करते हैं। यह उनका स्वभाव है। बिच्छू काटता है, सांप फुफकारता है। बिच्छू काटता है तो जहर चढ़ जाता है। अब इसमें बिच्छू का कोई कसूर थोड़े ही है। ऐसा बिच्छू का स्वभाव है। अधिक लोग मूर्च्छित हैं, मूर्च्छा में जो भी करते हैं वह गलत होगा ही। उनके दीए जले नहीं हैं, अंधेरे में टटोलते हैं, टकराते हैं, संघर्ष करते हैं।

"दान्त--प्रशिक्षित--हाथी को युद्ध में ले जाते हैं, दान्त पर राजा चढ़ता है। मनुष्यों में भी दान्त श्रेष्ठ है जो दूसरों के कटु वाक्यों को सहन करता है।"
राजा हर हाथी पर नहीं चढ़ता। राजा दान्त हाथी पर चढ़ता है। दान्त का मतलब--जो ठीक से प्रशिक्षित है। कितने ही बाण गिरें, तो भी हाथी टस से मस न होगा, राजा उस पर सवारी करता है। भगवान भी उसी पर सवारी करते हैं, जो दान्त है। उस पर जीवन का परम शिखर रखा जाता है।
"दान्त--प्रशिक्षित--हाथी को युद्ध में ले जाते हैं, दान्त पर राजा चढ़ता है। मनुष्यों में भी दान्त श्रेष्ठ है... ।"
जिसने अपने को प्रशिक्षित कर लिया है। और ये सारे लोग अवसर जुटा रहे हैं तुम्हें प्रशिक्षित करने का, ये फेंक रहे हैं बाण तुम्हारे ऊपर, तुम अकंप खड़े रहो इनकी गालियों की वर्षा के बीच; हिलो नहीं; डुलो नहीं; जीवन रहे कि जाए, लेकिन कंपो नहीं; तो राजा तुम पर सवार होगा। राजा यानी चेतना की अंतिम दशा। समाधि तुम पर उतरेगी, भगवान तुम पर विराजेगा, तुम मंदिर बन जाओगे। तुम सिंहासन बनोगे प्रभु के। दान्त पर राजा चढ़ता है, ऐसे ही तुम पर भी जीवन का अंतिम शिखर रखा जाएगा।
"इन यानों में से कोई निर्वाण को नहीं जा सकता।"
यह जो धर्मगुरु और पंडित और जमानेभर के पुरोहित कह रहे हैं, इन मार्गों से कोई कभी निर्वाण को नहीं जा सकता।
"अपने को जिसने दमन कर लिया है, वही सुदान्त वहां पहुंच सकता है।"
सिर्फ एक ही व्यक्ति वहां पहुंचता है, एक ही भांति के व्यक्ति वहां पहुंचते हैं, जिन्होंने अपनी सहनशीलता अपरिसीम कर ली है। जो ऐसे दान्त हो गए हैं कि मौत भी आए तो उन्हें कंपाती नहीं। जो कंपते ही नहीं। ऐसी निष्कंप दशा को कृष्ण ने कहा--स्थितिप्रज्ञ। जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो गयी है।
"यह चित्त पहले यथेच्छ, यथाकाम और यथासुख आचरण करता रहा। जिस तरह भड़के हुए हाथी को महावत काबू में लाता है, उसी तरह मैं अपने चित्त को आज बस में लाऊंगा।"
जब भी कोई गाली दे, तुम एक ही बात ख्याल करना; जब भी कोई अपमान करे, एक
ही स्मरण करना, एक ही दीया जलाना भीतर--
"यह चित्त पहले यथेच्छ, यथाकाम, यथासुख आचरण करता रहा। जिस तरह भ.ड़के हुए हाथी को महावत काबू में लाता है, उसी तरह मैं अपने चित्त को आज बस में लाऊंगा।"
हर अपमान को चित्त को बस में लाने का कारण बनाओ। हर गाली को उपयोग कर लो। हर पत्थर को सी.ढ़ी बनाओ। इस जीवन में जो भी तुम्हें मिलता है, उस सभी का सम्यक उपयोग हो सकता है। गालियां भी मंदिर की सीढ़ियां बन सकती हैं। और ऐसे तो प्रार्थनाएं भी मंदिर की सीढ़ियां नहीं बन पातीं। सब तुम पर निर्भर है। तुम्हारे पास एक सृजनात्मक बुद्धि होनी चाहिए।
बुद्ध का सारा जोर, समस्त बुद्धों का सदा से जोर इस बात पर रहा है--जो जीवन दे, उसका सम्यक उपयोग कर लो। जो भी जीवन दे, उसमें यह फिकर मत करो-- अच्छा था, बुरा था; देना था कि नहीं देना था। जो दे दे।
गाली आए हाथ में तो गाली का उपयोग करने की सोचो कि कैसा उसका उपयोग करूं कि मेरे निर्वाण के मार्ग पर सहयोगी हो जाए? कैसे मैं इसे अपने भगवान के मंदिर की सीढ़ी में रूपांतरित कर लूं? और हर चीज रूपांतरित हो जाती है।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 10
एक सौ एक प्रवचन

हम अनंत के यात्री हैं

पहला प्रश्नः मैं विगत दो-तीन वर्ष से संन्यास लेना चाहता हूं, अब तक नहीं ले पाया। अब जैसी आपकी आज्ञा।

आप तो ऐसे पूछ रहे हैं जैसे मेरी आज्ञा से रुके हों! और जब तीन-चार वर्ष तक झंझट टाल दी है, तो अब झंझट क्यों लेते हैं! जब इतने दिन निकल गए, लेना चाहा और नहीं लिया, थोड़े दिन और हैं, निकल जाएंगे! हिम्मत रखो! हारिए न हिम्मत बिसारिए न राम।
एक आदमी मुल्ला नसरुद्दीन के कंधे पर हाथ रखा और पूछा, अरे मुल्ला, आप
तो गर्मियों में कश्मीर जाने वाले थे, नहीं गए? मुल्ला ने कहा कि कश्मीर! कश्मीर तो हम पिछले साल जाने वाले थे; और उसके भी पहले मनाली जाने वाले थे; इस साल तो हम नैनीताल नहीं गए।
घर बैठे-बैठे मजा लो, जाना-आना कहां है! तीन-चार साल से जा रहे हो, संन्यास ले रहे हो, अब आज ऐसी कौन सी अड़चन आ गयी कि लो ही। ऐसे ही मन को समझाए रखो, भुलाए रखो, इतनी बीती थोड़ी रही, वह भी बीत जाएगी।
फिर मुझ से आज्ञा मांगते हो! जैसे मैं संन्यास का विरोधी हूं। सुबह-शाम यही कहता हूं--संन्यास, संन्यास, संन्यास; तुम मुझे सुनते हो कि सोते हो?
मैंने सुना है, एक देश में संत-विरोधी हवा चल रही थी। हवा तो हवा है। कभी इंदिरा के पक्ष में चलती है, कभी जनता के पक्ष में चलती है। हवा का कोई भरोसा तो है नहीं। किसके पक्ष में चलने लगे, किसके विपक्ष में। उस देश में संतों के खिलाफ चल रही थी। एक पहुंचा हुआ सूफी फकीर पकड़ लिया गया। सरकार उसकी सब तरफ से जांच-पड़ताल कर रही थी। वह पहुंचा हुआ आदमी था, उसकी बातें भी सरकारी अफसरों की समझ में नहीं आती थीं। वैसे ही अफसरों के पास दिमाग ही अगर हो तो अफसर ही क्यों होते! लाख दुनिया में और काम थे, फाइलों से सिर मारते! उनकी कुछ समझ में नहीं आता था तो उन्होंने एक बड़े मनोवैज्ञानिक को बुलाया कि शायद यह समझ ले।
मनोवैज्ञानिक ने कुछ प्रश्न पूछे। पहला ही प्रश्न उसने पूछा कि महाशय, क्या आप अपनी नींद में बात करते हैं? उस फकीर ने कहा कि अपनी नींद में नहीं, दूसरों की नींद में जरूर।
आपके संबंध में ऐसा लगता है कि यही हालत मेरी है। तुम्हारी नींद में मैं बात करता हूं, ऐसा लगता है। तुम रोज सुनते हो; सुबह सुनते, सांझ सुनते, अहर्निश एक ही रटन है कि अब जागो, अब तुम पूछ रहे हो कि अब जैसी आपकी आज्ञा! यह तो ऐसे ही हुआ, पुरानी कहावत है कि रातभर राम की कथा सुनी और सुबह पूछा कि सीता राम की कौन थी? यहां तो सारा स्वाद ही संन्यास का है। ऐसे ही बहुत देर हो गयी, अब और देर न करो।

दूसरा प्रश्नः संत सदा से परिग्रह के विरोध में रहे हैं। लेकिन परिग्रह के बिना तो चलता नहीं। फिर सत्य का खोजी कितना परिग्रह रखे?

संत परिग्रह के विरोध में रहे हैं, ऐसी बात सच नहीं है। परिग्रह भाव
के विरोध में जरूर रहे हैं। कुछ न कुछ तो संत को भी रखना पड़ता है-- भिक्षापात्र ही सही, लंगोटी ही सही।
कुछ न कुछ जीवन में जरूरी है। फिर कितना, यह बात महत्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि आदमी का मन ऐसा है कि चाहे तो लंगोटी से इतना राग बना ले सकता है कि वही नर्क ले जाने के लिए पर्याप्त हो जाए। एक कौड़ी से भी तुम अपना राग ऐसा लगा सकते हो कि दूसरे को कोहिनूर से भी न हो। दूसरा आदमी कोहिनूर को ऐसे छोड़ दे जैसे मिट्टी था और तुम कौड़ी को ऐसे पकड़े रखो जैसे कि तुम्हारा प्राण था। इसलिए वस्तु का सवाल नहीं है, कितनी वस्तु का भी सवाल नहीं है, भाव का सवाल है।

किसी गुरु ने अपने एक युवा संन्यासी को जनक के पास भेजा था। बहुत वर्ष गुरु के पास रहा, कुछ सीखा नहीं। फिर गुरु ने कहा, अब ऐसा कर, तू जनक के पास जा, शायद वे तुझे कुछ सिखा सकें। तो वह बड़ी आशा से गया। वर्षों तक संन्यासियों के बीच रहा था, समझा भला न हो, लेकिन शब्द तो खूब सीख ही गया था। बुद्धि चाहे न जगी हो, स्मृति तो खूब भर ही गयी थी--पंडित हो गया था, प्रज्ञावान न हुआ हो।
जब पहुंचा जनक के दरबार में तो उसने देखा कि सांझ हो गयी है और जनक अपने दरबार में बैठा है, वेश्याएं नाच रही हैं अर्धनग्न, शराब के प्याले ढाले जा रहे हैं; सम्राट बीच में बैठा है, दरबारी आसपास बैठे हैं, बड़े गुलछर्रे चल रहे हैं। वह संन्यासी तो बड़ा हैरान हुआ। उससे तो रहा नहीं गया। उसने कहा, महाराज! हम तो ज्ञान की तलाश में आए थे, यहां तो अज्ञान का नंगा नृत्य हो रहा है। और आप मुझे क्या सिखाएंगे! हद्द हो गयी यह मेरे गुरु की! मालूम होता है मुझे कोई सजा दी। मुझे यहां किसलिए भेजा, यह किन कर्मों का फल कि आपके दर्शन करने भेज दिया? और गुरु के पास नहीं सीख सका, जो कि अपरिग्रही हैं, जिन्होंने सब छोड़ा, तो आप से क्या सीखूंगा, जो कि यहां महल में बैठे राग-रंग के बीच?
जनक ने कहा, महाराज, आ गए हैं तो रात तो आतिथ्य ग्रहण करें। सुबह बात होगी। सुबह जनक ने उठाया, पीछे ही बहती नदी में स्नान करने ले गया कि स्नान कर लें, पूजा कर लें, फिर बैठकर सत्संग होगा। फकीर तो भागा-भागा था, वह तो जल्दी जाना चाहता था। पर उसने कहा, अब सम्राट की बात इनकार भी नहीं की जा सकती--ज्ञानी भला न हो, अज्ञानी तो पक्का है; इनकार करो, कुछ ज्यादा गड़बड़ करो, नाराज हो जाएगा, गर्दन उतरवा दे, कुछ भी कर सकता है! सुन लो इसकी, एकाध दिन गुजार लो। दुष्ट-संग में पड़ गए हैं। ऐसा सोचता हुआ वह जनक के साथ नदी पर गया। दोनों ने वस्त्र किनारे रखे, जनक के वस्त्र बहुमूल्य थे, हीरे- जवाहरात जड़े थे, फकीर की तो एक लंगोटी थी, वह उसने किनारे रख दी, एक लंगोटी पहनकर पानी में उतरा।
जब दोनों स्नान कर रहे थे तब अचानक फकीर चिल्लाया कि अरे देखते हैं, आपके महल में आग लगी है! बड़ी लपटें उठीं, महल धू-धू कर जल रहा है। जनक ने देखा और उसने कहा, हां, लगी है। लेकिन हिला भी नहीं, चला भी नहीं, भागा भी नहीं। फकीर ने कहा, आप खड़े कैसे हैं? अरे दौड़ो, बचाओ! तो जनक ने कहा, महल है, मेरा क्या? जब आया था तो बिना महल के आया था, जब जाऊंगा तो बिना महल के जाऊंगा। और उस फकीर ने कहा, तुम तुम्हारी जानो, मेरी लंगोटी महल के पास ही रखी है, मैं तो चला। वह भागकर उसने कहा कि एक ही लंगोटी मेरे पास, वह कहीं खो न जाए। तब भागते हुए जब उसने लंगोटी उठायी, तब उसे याद पड़ी बात।
वस्तु के परिग्रह का सवाल नहीं है, भाव का सवाल है। मात्रा की मत पूछो, भाव की पूछो। समझ की पूछो।
जीसस के जीवन में उल्लेख हैः और तब ईसा जेरोकम के पास आए। नगरसेठ जेरोकम ने मार्ग में अगणित स्वर्णमुद्राएं बिखराकर कहा--प्रभु, मेरी यह तुच्छ भेंट स्वीकार कीजिए। ईसा ने उस धनराशि के बीच पड़े एक तांबे के सिक्के को उठाकर कहा--यह सबको तू ले जा, जितना मेरे सामर्थ्य में था मैंने ले लिया। इस तांबे के सिक्के का बोझ मुझे अधिक नहीं ढोना पड़ेगा। मैं इसे मल्लाह को दे दूंगा, वह मुझे नदी के पार उतार देगा।
उतना, मात्रा की बात पूछते हो तो उतना, जितने से नदी पार उतर जाओ। यह कहानी बड़ी मीठी है। जेरोकम ने स्वर्णमुद्राएं बिछा दीं रास्तों पर और ईसा से कहा कि आप स्वीकार करें। वह उस समय का बड़े से बड़ा धनी आदमी था जेरोकम। और ईसा ने यहां-वहां नजर डाली--भेंट लाया है तो एकदम इनकार भी न कर सके--एक तांबे का सिक्का उठा लिया और कहा, इतना मेरे लिए पर्याप्त है। सोचा होगा जेरोकम ने, एक तांबे के सिक्के से करोगे क्या? एक तांबे के सिक्के से होता क्या है? पूछा होगा, क्या करिएगा? तो जीसस ने कहा कि नदी पर मल्लाह मिलेगा, उसको मैं यह दे दूंगा, वह मुझे नदी के पार उतार देगा। नदी पार उतरने के लिए इतना काफी है। इसका ज्यादा देर तक बोझ मुझे ढोना न पड़ेगा, बस नदी तक। फिर मल्लाह को दे दूंगा, उस पार हो जाऊंगा।

यह बड़ी प्रतीकात्मक कहानी है। ऐसी घटी हो, न घटी हो, यह सवाल नहीं है।
बस इतना ही परिग्रह जितने से इस जीवन की नदी को पार हो जाओ। मगर ध्यान रखना कि असली सवाल भाव का है। तांबे के एक सिक्के को भी तुम इतने जोर से पकड़ ले सकते हो कि वही तुम्हारी फांसी बन जाए। तुमने जितने जोर से पकड़ा, उसी में तुम्हारी फांसी है। ढीला पकड़ना। और जैसे ही छोड़ने का मौका आ जाए, एक क्षण भी झिझकना मत।
और यह भी तुमसे नहीं कह रहा हूं कि आज छोड़कर भाग जाओ। कहां भागकर जाओगे? कहीं तो छप्पर बनाओगे? तो तुम्हारा छप्पर कुछ बुरा नहीं है। किन्हीं के साथ तो रहोगे? तो तुम्हारे पत्नी-बच्चे बुरे नहीं हैं। कहां जाओगे भागकर! सब जगह संसार है। छोड़ने की दौड़ में मत पड़ना।
दो तरह की दौड़ें हैं दुनिया में और दो तरह के पागल हैं दुनिया में। एक,
और ज्यादा हो जाए इसकी दौड़ में लगे हैं। और एक, और कम हो जाए इसकी दौड़ में लगे हैं। एक भोगी हैं--कितना बढ़ जाए। एक योगी हैं, त्यागी हैं--इतना और घट जाए! मगर दोनों अतृप्त हैं। जो है, उससे अतृप्त हैं। भोगी कहता है, और ज्यादा हो तो सुख मिलेगा। त्यागी कहता है, और कम हो तो सुख मिलेगा। लेकिन जो है उससे दोनों में से कोई भी सुखी नहीं है।
जिन्होंने पूछा है उनका नाम है--भोगीलाल भाई। तुम छोड़-छाड़कर भग जाओ,
तो मैं तुम्हें नाम दूंगा--योगीलाल भाई। और क्या करूंगा? मगर तुम तुम ही रहोगे। तुम्हारे भीतर की भाव की बात है।
तुम पकड़ते थे पहले, फिर तुम छोड़ने लगोगे; मगर तृप्त तुम तब भी न होओगे। संन्यस्त मैं उसे कहता हूं, जो है उसके साथ राजी है। जेहि विधि राखें राम, तेहि विधि रहिए। जो दे दिया है, जैसा है, राजी है। ले ले प्रभु, तो आज देने को राजी हैं। और दे दे, तो और भी लेने को राजी हैं, ना-नुच नहीं है। और बरसा दे छप्पर तोड़कर अशर्फियां, तो इनकार नहीं करेंगे, कि मैं भोगी नहीं हूं मैं त्यागी हूं, यह क्या कर रहे हैं! क्या अन्याय हो रहा है! या सब ले जाए घर से लूटकर आज--लुटेरा तो है ही भगवान, इसीलिए तो हम उसको हरि कहते हैं; हरि का मतलब होता है चोर, चुरा ले जो, हर ले जो--चोर तो है ही, इधर देता है, उधर छीन भी लेता है। आज दिया, कल ले लेगा। और बीच में तुम बड़ी झंझटों में पड़ जाओगे। मुफ्त झंझटों में पड़ जाओगे।
एक सूफी कहानी है। एक फकीर के दो बड़े प्यारे बेटे थे, जुड़वां बेटे थे। नगर की शान थे। सम्राट भी उन बेटों को देखकर ईर्ष्या से भर जाता था।
सम्राट के बेटे भी वैसे सुंदर नहीं थे, वैसे प्रतिभाशाली नहीं थे। उस गांव में रोशनी थी उन दो बेटों की। उनका व्यवहार भी इतना ही शालीन था, भद्र था।
वह सूफी फकीर उन्हें इतना प्रेम करता था, उनके बिना कभी भोजन नहीं करता था, उनके बिना कभी रात सोने नहीं जाता था।
एक दिन मस्जिद से लौटा प्रार्थना करके, घर आया, तो आते ही से पूछा, बेटे कहां हैं? रोज की उसकी आदत थी। उसकी पत्नी ने कहा, पहले भोजन कर लें, फिर बताऊं, थोड़ी लंबी कहानी है। पर उसने कहा, मेरे बेटे कहां हैं? उसने कहा कि आपसे एक बात कहूं? बीस साल पहले एक धनपति गांव का हीरे-जवाहरातों से भरी हुई एक थैली मेरे पास अमानत में रख गया था। आज वापस मांगने आया था। तो मैं उसे दे दूं कि न दूं? फकीर बोला, पागल, यह भी कोई पूछने की बात है? उसकी अमानत, उसने दी थी, बीस साल वह हमारे पास रही, इसका मतलब यह तो नहीं कि हम उसके मालिक हो गए। तूने दे क्यों नहीं दी? अब मेरे से पूछने के लिए रुकी है? यह भी कोई बात हुई! उसी वक्त दे देना था। झंझट टलती। तो उसने कहा, फिर आप आएं, फिर कोई अड़चन नहीं है।
वह बगल के कमरे में ले गयी, वे दोनों बेटे नदी में डूबकर मर गए थे। नदी में तैरने गए थे, डूब गए। उनकी लाशें पड़ी थीं, उसने चादर उढ़ा दी थी, फूल डाल दिए थे लाशों पर। उसने कहा, मैं इसीलिए चाहती थी कि आप पहले भोजन कर लें। बीस साल पहले जिस धनी ने ये हीरे-जवाहरात हमें दिए थे, आज वह वापस मांगने आया था और आप कहते हैं कि दे देना था, सो मैंने दे दिए।
यही भाव है। उसने दिया, उसने लिया। बीच में तुम मालिक मत बन जाना। मालकियत नहीं होनी चाहिए। मिल्कियत कितनी भी हो, मालकियत नहीं होनी चाहिए। बड़ा राज्य हो, मगर तुम उस राज्य में ऐसे ही जीना जैसे तुम्हारा कुछ

भी नहीं है। तुम्हारा है भी नहीं कुछ। जिसका है उसका है। सबै भूमि गोपाल की। वह जाने। तुम्हें थोड़ी देर के लिए मुख्त्यार बना दिया, कि सम्हालो। तुमने थोड़ी देर मुख्त्यारी कर ली, मालिक मत बन जाओ। भूलो मत। जिसने दिया है, ले लेगा। जितनी देर दिया है, धन्यवाद! जब ले ले, तब भी धन्यवाद! जब दिया, तो इसका उपयोग कर लेना, जब ले ले, तो उस लेने की घड़ी का भी उपयोग कर लेना, यही संन्यासी की कला है, यही संन्यास की कला है।
न तो छोड़ना है संन्यास, न पकड़ना है संन्यास। न तो भोग, न त्याग। संन्यास दोनों से मुक्ति है। संन्यास सभी कुछ प्रभु पर समर्पित कर देने का नाम है। मेरा कुछ भी नहीं, तो मैं छोडूंगा भी क्या? तो जो है उसका उपयोग कर लेना। और उपयोग में यह एक ध्यान रहे कि जिससे तुम नदी पार हो सको।

तीसरा प्रश्नः आमतौर से आप भीड़ की आलोचना करते हैं। लेकिन भगवान बुद्ध के संघ के समर्थन में आपने गुरजिएफ का हवाला देकर समूह-शक्ति को बहुत महत्व दिया। कृपाकर संघ-शक्ति, समूह और भीड़ के भेद को समझाइए।

ऊपर से भेद दिखायी चाहे न पड़े, भीतर बड़ा भेद होता है।
संघ का अर्थ होता है--जिस भीड़ के बीच में एक जाग्रतपुरुष खड़ा हो केंद्र पर। बुद्ध के बिना संघ नहीं होता। संघ के कारण संघ नहीं होता, बुद्ध के कारण संघ होता है। तो संघ शब्द का अर्थ समझ लेना। बहुत से बुझे दीए रखे हैं और एक दीया बीच में केंद्र पर जल रहा है, तो संघ। ये बहुत से बुझे दीए सरक रहे हैं धीरे-धीरे जले दीए के पास। ये जले दीए के पास आए ही इसलिए हैं कि जल जाएं, यही अभीप्सा इन्हें पास ले आयी है। ये बुझे दीए एक-दूसरे से नहीं जुड़े हैं, इनका कोई संबंध अपने पड़ोसी बुझे दीए से नहीं है। इनकी सबकी नजरें उस जले दीए पर लगी हैं, इन सबका संबंध उस जले दीए से है। मेरे पास इतने संन्यासी हैं। उनका कोई संबंध एक-दूसरे से नहीं है। अगर एक-दूसरे के पास हैं, तो सिर्फ इसी कारण कि दोनों मेरे पास हैं--और कोई कारण नहीं है। तुम यहां बैठे हो, कितने देशों के लोग यहां बैठे हैं। तुम्हारे पास बैठा है कोई इंग्लैंड से है, कोई ईरान से है, कोई अफ्रीका से है, कोई जापान से है, कोई अमरीका से है, कोई स्वीडन से है, कोई स्विट्जरलैंड से है, कोई फ्रांस से, कोई इटली से। तुम्हारा पड़ोस में बैठे आदमी से कोई भी संबंध नहीं है, न पास में बैठी स्त्री से कोई संबंध है। तुम्हारा संबंध मुझसे है, उसका भी संबंध मुझसे है। तुम दोनों की नजर मुझ पर लगी है। यद्यपि तुम सब साथ बैठे हो, लेकिन तुम्हारा संबंध सीधा नहीं है।
संघ का अर्थ होता है--जहां एक जला हुआ दीया है और सब बुझे दीयों की नजर जले दीए पर लगी है; उस केंद्र की तरफ वे सरक रहे हैं, आहिस्ता-आहिस्ता, लेकिन सुनिश्चित कदमों से। एक-एक इंच, लेकिन बढ़ रहे हैं। एक-एक बूंद, लेकिन जग रहे हैं। जिस क्षण बहुत करीब आ जाएंगी दोनों की बातियां, उस दिन छलांग होगी। जले हुए दीए से ज्योति बुझे दीए में उतर जाएगी। ज्योति से ज्योति जले। जले दीए की ज्योति जरा भी कम नहीं होगी, बुझे दीए की ज्योति जग जाएगी। बुझे को मिल जाएगी, जले की कम न होगी।
यही सत्संग है। जो देता है, उसका कम नहीं होता। और जिसे मिलता है, उसके मिलने का क्या कहना, कितना मिल जाता है!
उपनिषद कहते हैं, पूर्ण से पूर्ण निकाल लो तो भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। सत्संग में यह रोज घटता है। ईशावास्य के इस अपूर्व वचन का निर्वचन रोज सत्संग में होता है। सत्संग का अर्थ होता है--कोई पूर्ण हो गया है, उससे तुम पूर्ण भी निकाल लो तो भी वह पूर्ण का पूर्ण ही रहता है। वहां कुछ कमी नहीं आती। तुम सूने थे, पूरे हो जाते हो; तुम खाली थे, भर जाते हो; तुम्हारा पात्र लबालब हो जाता है, छलकने लगता है। और ऐसी-वैसी छलकन नहीं, ऐसी छलकन कि अब तुमसे कोई पूरा ले ले, तो भी तुम खाली नहीं होते।
संघ का अर्थ होता है--केंद्र पर जाग्रतपुरुष हो, बुद्ध हो, जिन हो, कोई जिसने स्वयं को जीता और जो स्वयं में जागा, भगवत्ता हो केंद्र पर, तो उसके आसपास जो बुझे हुए लोग इकट्ठे हो जाते हैं, सोए-सोए लोग। माना कि सोए हैं, लेकिन उनके जीवन में भी जागने का कम से कम सपना तो पैदा हो गया। जागे नहीं

हैं, सच, लेकिन जागने का सपना तो पैदा हो गया है, जागने की तरफ बढ़ने तो लगे हैं, टटोलने लगे हैं। अंधेरे में टटोल रहे हैं, अभी टटोलने में बहुत व्यवस्था भी नहीं हो सकती, लेकिन आभास मिलने लगे हैं।
कभी सुबह देखते हैं न, नींद टूटी नहीं है, जागे भी नहीं हैं, ऐसी दशा होती है कभी। हल्की-हल्की नींद भी है अभी और हल्की-हल्की जाग भी आ गयी--दूध वाला दूध दे रहा है द्वार पर खड़ा, यह सुनायी पड़ता सा मालूम भी पड़ता है, पत्नी चाय इत्यादि बनाने लगी है चौके में, आवाज बर्तनों की सुनायी भी पड़ती है; बच्चे स्कूल जाने की तैयारी करने लगे हैं, उनका लड़ाई-झगड़ा, उनका कोलाहल भी सुनायी पड़ता है; यह सब सुनायी पड़ता है, और तुम जागे भी नहीं हो, और तुम सोए भी नहीं हो। यह बीच की दशा है, जिसको योग में तंद्रा कहा है--जागरण और निद्रा के जो बीच में है दशा।
संघ का अर्थ होता है--बिल्कुल सोए हुए आदमी जो गहरी अंधेरी रात में पड़े हैं, वे तो बुद्धों के पास आते नहीं; जो जाग गए हैं, उन्हें आने की जरूरत नहीं है... जो जाग ही गया, जो स्वयं ही बुद्ध हो गया, वह क्यों आए! किसलिए आए! कोई प्रयोजन नहीं। जो गहरा सोया है कि उसे होश ही नहीं है, वह कैसे आए! वह बुद्ध के पास से निकल जाता है और उसे रोमांच नहीं होता। वह बुद्ध की हवा से गुजर जाता है और उसे हवा का स्पर्श भी नहीं होता। वह गहरा सोया है। लेकिन इन दोनों के बीच की दशा वाले लोग भी हैं, जो जागे भी नहीं हैं कि बुद्ध हो गए हों और इतने सोए भी नहीं हैं कि बुद्ध होने की आकांक्षा न हो। उन तंद्रा से भरे लोगों, उन जलने की आकांक्षा से भरे बुझे दीयों से संघ बनता है।
लेकिन संघ का मौलिक आधार होता है, बुद्धपुरुष। केंद्र में बुद्ध हों,
तो ही संघ बनता है।
दूसरा शब्द है, संगठन। जिस दिन बुद्ध विदा हो जाते हैं, जला दीया विलीन हो जाता है, निर्वाण को उपलब्ध हो जाता है, लेकिन उस जले दीए ने जो बातें कही थीं, जो व्यवस्था दी थी, जो अनुशासन दिया था; उस शास्ता ने जो कहा था, जो देशना दी थी, उसका शास्त्र रह जाता है; उस शास्त्र के आधार पर जो बनता है, वह संगठन। संघ की खूबी तो इसमें न रही। संघ के प्राण तो गए। संगठन मरा हुआ संघ है। कुछ-कुछ भनक रह गयी, कभी जाना था किसी जाग्रतपुरुष का सान्निध्य, कभी उसके पास उठे-बैठे थे, कभी उसकी सुगंध नासापुटों में भरी थी, कभी उसकी बांसुरी की मनमोहक तान हमारी तंद्रा में हमें सुनायी पड़ गयी थी, कभी किसी ने हमें प्रमाण दिया था अपने होने से कि ईश्वर है, कभी किसी की वाणी हमारे हृदय को गुदगुदा गयी थी, बंद कलियां खुली थीं; कभी कोई बरसा था सूरज की भांति हम पर और हम भी अंकुरित होने शुरू हुए थे, याद रह गयी, श्रुति रह गयी, स्मृति रह गयी, शास्त्र रह गया--शास्ता गया, शास्त्र रह गया। शास्ता और शास्त्र शब्द का संबंध समझ लेना, वही संबंध संघ और संगठन का है। शास्ता जीवंत था। जो कहता था, वैसा था भी। फिर वाणी रह गयी, संग्रह रह गया, संहिता रह गयी। कहने वाला गया, अब तुम नए प्रश्न पूछोगे तो उत्तर न मिलेंगे; अब तो तुम पुराने प्रश्न, जिनके उत्तर दिए गए हैं, वे ही पूछो तो उत्तर मिल जाएंगे। अब नया संवेदन नहीं होता, अब नयी वाणी जाग्रत नहीं होती, अब नयी तरंग नहीं उठती, अब नयी बांसुरी नहीं बजती--रेकार्ड रह गया। शास्त्र यानी रेकार्ड। गायक तो जा चुका, रेकार्ड रह गया। ग्रामोफोन पर रखोगे, तो गायक जैसा ही लगता है--जैसा! लेकिन रेकार्ड रेकार्ड है। और अगर जीवित व्यक्ति तुम्हें न बदल सका तो रेकार्ड तुम्हें कैसे बदलेगा?
संघ जब मर जाता अर्थात जब शास्ता विदा हो जाता, तो संगठन पैदा होता है। शास्ता के वचन रह जाते हैं। जैसे सिक्खों के दस गुरु हुए। जब तक दस गुरु थे, तब तक सिक्ख-धर्म संघ था। जिस दिन अंतिम गुरु ने तय किया कि अब कोई गुरु नहीं होगा और गुरुग्रंथ ही गुरु होगा, उसी दिन से संगठन। जब तक बुद्ध थे, तब तक संघ। जब बुद्ध जा चुके, भिक्षु इकट्ठे हुए और उन्होंने अपनी-अपनी स्मृतियों को उंडेलकर रेकार्ड तैयार किया कि बुद्ध ने किससे कब क्या कहा था, किसने कब बुद्ध को क्या कहते सुना था, सब भिक्षुओं ने अपनी स्मृतियां टटोलीं और सारी स्मृतियों का संग्रह किया, तीन शास्त्र बने--त्रिपिटक।

सारे भिक्षुओं ने अपनी स्मृति उंडेलकर, जो-जो बुद्ध ने कहा था, जिसने जैसा समझा था वैसा इकट्ठा कर दिया, तब संगठन बना। बुद्ध तो गए, याद रह गयी।
फिर एक घड़ी ऐसी आती है कि बीच में शास्ता तो होता ही नहीं, शास्त्र भी नहीं होता, तब उस स्थिति को हम कहते हैं--समूह। हम ही आपस में तय करते हैं कि हमारा अनुशासन क्या हो। हम कैसे उठें, कैसे बैठें, कैसे एक-दूसरे से संबंध बनाएं।
फर्क समझना।
जब बुद्ध जीवित थे, सबकी नजरें बुद्ध पर लगी थीं, सब बुद्ध से जुड़े थे, तार बुद्ध से जुड़े थे, आपस में अगर पास भी थे तो भी इससे कुछ लेना-देना न था, कोई संग न था। संग बुद्ध के साथ था। आपस में साथ थे, क्योंकि सब एक दिशा में जाते थे, इसलिए साथ हो लिए थे; और कोई साथ न था--संयोग था साथ।
बुद्ध गए, शास्त्र बचा, अब संबंध बुद्ध से तो नहीं रह जाएगा, बुद्ध के शब्द से रहेगा। स्वभावतः, बुद्ध के शब्द को जो लोग ठीक से समझा सकेंगे, बुद्ध के शब्द की जो ठीक से व्याख्या कर सकेंगे--पंडित और पुरोहित-- महत्वपूर्ण हो जाएंगे। व्याख्याकार महत्वपूर्ण हो जाएंगे। और व्याख्याकार एक नहीं होंगे, अनेक होंगे।
बुद्ध के मरते ही बुद्ध का संघ अनेक शाखाओं में टूट गया। टूट ही जाएगा। क्योंकि किसी ने कुछ व्याख्या की, किसी ने कुछ व्याख्या की। अब तो व्याख्या करने वाले स्वतंत्र हो गए, अब बुद्ध तो मौजूद न थे कि कहते कि नहीं, ऐसा मैंने नहीं कहा, कि मेरे कहने का ऐसा अर्थ है। बुद्ध के मौजूद रहते ये व्याख्याकार सिर भी उठा नहीं सकते थे। क्योंकि जब बुद्ध ही मौजूद हैं तो कौन उनकी सुनेगा कि बुद्ध ने क्या कहा! बुद्ध के हटते ही बड़े दार्शनिक खड़े हो गए, पंडित खड़े हो गए, अलग-अलग व्याख्याएं, अलग-अलग संप्रदाय बन गए; बड़े भेद, बड़े विवाद। एक ही आदमी की वाणी के इतने भेद, इतने विवाद!
और निश्चित ही जिसको जिसकी बात ठीक लगी, वह उसके साथ हो लिया। अब बुद्ध से तो संबंध न रहा, बुद्ध के व्याख्याकारों से संबंध हो गया। बुद्ध तो जाग्रतपुरुष थे, इसलिए जाग्रत का और सोए का संबंध हो तो कुछ लाभ होता। अब ये जो व्याख्याकार हैं, ये इतने ही सोए हुए हैं जितने तुम सोए हुए हो, यह सोए से सोए का संबंध है, तो बनता है संगठन।
मगर फिर भी ये जो व्याख्या करते हैं, कम से कम बुद्ध के वचनों की करते हैं। दूर की ध्वनि सही, बहुत दूर की ध्वनि, बुद्ध को पुकारे समय हो गया, लेकिन शायद इन्होंने बुद्ध की बात सुनी थी, उसको विकृत भी कर लिया होगा, उसको काटा-छांटा भी होगा, तोड़ा-मरोड़ा भी होगा, फिर भी कुछ बुद्ध की बात तो उसमें शेष रह ही जाएगी, कुछ रंग तो रह ही जाएगा।
तुम इस बगीचे से गुजर जाओ, घर पहुंच जाओ, बगीचा दूर रह गया, वृक्ष दूर
रह गए, फूल दूर रह गए, फिर भी तुम पाओगे, तुम्हारे वस्त्रों में थोड़ी सी गंध चली आयी। वस्त्र याद दिलाएंगे कि बगीचे से होकर गुजरे हो। थोड़े रंगे रह गए, तो संगठन।
जब यह रंग भी खो जाता है, जब व्याख्याकारों की भी व्याख्या होने लगती है, जब व्याख्याकार भी मौजूद नहीं रह जाते, जिन्होंने बुद्ध को देखा, सुना, समझा; अब इनको सुनने, समझने वाले व्याख्या करने लगते हैं--तो फिर बहुत दूरी हो गयी, तब स्थिति हो जाती है समूह की। अब तो सोए-सोए अंधे अंधों को मार्ग दिखाने लगते हैं।
समझो कि बुद्ध के पास आंख थी, बुद्ध के व्याख्याकारों के पास कम से कम चश्मा था, ये जो व्याख्याकारों के व्याख्याकार हैं, इनके पास चश्मा भी नहीं। ये ठीक तुम जैसे अंधे हैं। शायद तुमसे ज्यादा कुशल हैं बोलने में, शायद तुमसे ज्यादा कुशल हैं तर्क करने में, शायद तुमसे अच्छी इनकी स्मृति है, शायद तुमसे ज्यादा इन्होंने अध्ययन किया है, पर और कोई भेद नहीं है, चेतनागत कोई भेद नहीं है। इतना भी भेद नहीं है कि ये बुद्ध के सान्निध्य में रहे हों। इतना भी भेद नहीं है, तो समूह।

फिर एक ऐसा समय भी आता है, जब ये भी नहीं रह जाते, जब कोई व्यवस्था नहीं
रह जाती, व्यवस्थामात्र जब शून्य हो जाती है और जब अंधे एक-दूसरे से टकराने लगते हैं, उसका नाम भीड़ है।
इन चार शब्दों का अलग-अलग अर्थ है। संघ, शास्ता जीवित है। संगठन, शास्ता की वाणी प्रभावी है। समूह, शास्ता की वाणी भी खो गयी लेकिन अभी कुछ व्यवस्था शेष है। भीड़, व्यवस्था भी गयी; अब सिर्फ अराजकता है।
मैं संघ के पक्ष में हूं। संगठन के पक्ष में नहीं। समूह के तो होऊंगा कैसे! भीड़ की तो बात ही छोड़ो!!
जब तुम्हें कभी कोई जीवित जाग्रतपुरुष मिल जाए, तो डूब जाना उसके संघ में। ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं पृथ्वी पर, कभी-कभी आते हैं, उसको चूकना मत। उसको चूके तो बहुत पछताना होता है। और फिर पछताने से भी कुछ होता नहीं। फिर पछताए होत का, जब चिड़िया चुग गयी खेत। फिर सदियों तक लोग रोते हैं।
कई दफे तुम्हारे मन में भी आता होगा--काश, हम भी बुद्ध के समय में होते! काश, हम भी महावीर के साथ चले होते उनके पदचिह्नों पर! काश, हमने भी जीसस को भर-आंख देखा होता! या काश, मोहम्मद के वचन सुने होते! कि कृष्ण के आसपास हम भी नाचे होते उस मधुर बांसुरी को सुनकर! यह पछतावा है।
तुम भी मौजूद थे, तुम जरूर मौजूद थे, क्योंकि तुम बड़े प्राचीन हो। तुम उतने ही प्राचीन हो जितना प्राचीन यह अस्तित्व है--तुम सदा से यहां रहे हो। तुमने न मालूम कितने बुद्धपुरुषों को अपने पास से गुजरते देखा होगा, लेकिन देख नहीं पाए। फिर पछताने से कुछ भी नहीं होता। जो गया, गया। जो बीता, सो बीता। अभी खोजो कि यह क्षण न बीत जाए। इस क्षण का उपयोग कर लो। इसलिए बुद्ध बार-बार कहते हैं, एक पल भी सोए-सोए मत बिताओ। जागो, खोजो। अगर प्यास है, तो जल भी मिल ही जाएगा। अगर जिज्ञासा है, तो गुरु भी मिल ही जाएगा। अगर खोजा, तो खोज व्यर्थ नहीं जाती। परमात्मा की तरफ उठाया कोई भी कदम कभी व्यर्थ नहीं जाता है।

चौथा प्रश्नः मेरे मन में कभी-कभी आपके प्रति बड़ा विद्रोह भड़कता है
और मैं जहां-तहां आपकी छोटी-मोटी निंदा भी कर बैठती हूं। कहा गया है कि गुरु की निंदा करने वाले को कहीं ठौर नहीं। मैं क्या करूं?

पूछा है कृष्णप्रिया ने।
जहां तक कृष्णप्रिया को मैं समझता हूं, इसमें कुछ गलतियां हैं प्रश्न में, वह ठीक कर दूं।
कहा है, "मेरे मन में कभी-कभी आपके प्रति बड़ा विद्रोह उठता है।"
ऐसा मुझे नहीं लगता। मुझे तो लगता है, विद्रोह स्थायीभाव है। कभी-कभी शायद मेरे प्रति प्रेम उमड़ता हो। लेकिन कभी-कभी विद्रोह उमड़ता है, यह बात सच नहीं है। विद्रोह तुम्हारी स्थायी दशा है। और वह जो कभी-कभी प्रेम उमड़ता है, वह इतना न्यून है कि उसके होने न होने से कुछ बहुत फर्क पड़ता नहीं।
और कृष्णप्रिया की दशा कुत्ते की पूंछ जैसी है। रखो बारह साल पोंगरी में, जब पोंगरी निकालो, फिर तिरछी की तिरछी। कभी-कभी मुझे भी लगता है कि शायद कृष्णप्रिया के संबंध में मुझे भी निराश होना पड़ेगा--होऊंगा नहीं, वैसी मेरी आदत नहीं है--लेकिन कृष्णप्रिया के ढंग देखकर कभी-कभी मुझे भी लगने लगता है कि यह पूंछ सीधी होगी? यह भी मुझे ख्याल आता है कि कृष्णप्रिया यह पूंछ तिरछी रहे, इसमें मजा भी ले रही है। इससे विशिष्ट हो जाती है। इससे लगता है--कुछ खास है, औरों जैसी नहीं है। खास होने के लिए कोई और अच्छा ढंग चुनो। यह भी कोई खास होने का ढंग है!
राबर्ट रिप्ले ने बहुत सी घटनाएं इकट्ठी की हैं सारी दुनिया से। उसकी बड़ी प्रसिद्ध किताबों की सीरीज हैः बिलीव इट आर नाट, मानो या न मानो। उसने सब ऐसी बातें इकट्ठी की हैं जिनको कि तुम पहली दफा सुनकर कहोगे, मानने योग्य नहीं। मगर मानना पड़ेगी, क्योंकि वह तथ्य है। उसने एक आदमी का उल्लेख किया है जो सारे अमरीका में अपनी छाती के सामने एक आईना रखकर उलटा चला।

कारण! बड़ी मेहनत का काम था उलटा चलना। पूरा अमरीका उलटा चला। कारण जब पूछा गया तो उसने कहा कि मैं प्रसिद्ध होना चाहता हूं। वह प्रसिद्ध हो भी गया। एक आदमी प्रसिद्ध होना चाहता था, तो उसने अपने आधे बाल काट डाले, एक तरफ के बाल काट डाले, आधी खोपड़ी साफ कर ली और घूम गया न्यूयार्क में। तीन दिन घूमता रहा, अखबारों में खबरें छप गयीं, टेलीविजन पर आ गया, पत्रकार उसके पीछे आने लगे कि भई, यह बात क्या है? और वह चुप्पी रखता था। तीन दिन बाद वह बोला कि मुझे प्रसिद्ध होना था।
मगर ऐसे अगर प्रसिद्ध भी हो गए तो सार क्या? यह कोई बड़ी सृजनात्मक बात
तो न हुई!
ऐसा लगता है कि कृष्णप्रिया सोचती है कि इस तरह की बातें करने से कुछ विशिष्ट हुई जा रही है। यहां विशिष्ट होने के हजार उपाय तुम्हें दे रहा हूं--ध्यान से विशिष्ट हो जाओ, प्रेम से विशिष्ट हो जाओ, प्रार्थना से विशिष्ट हो जाओ। कुछ सृजनात्मक करो, विशिष्टता ही का कोई मूल्य नहीं होता। नहीं तो मूढ़ता से भी आदमी विशिष्ट हो जाता है।
जाओ, रास्ते पर जाकर शीर्षासन लगाकर खड़े हो जाओ, विशिष्ट हो गए। पूना हेराल्ड का पत्रकार पहुंच जाएगा, फोटो ले लेगा। नंगे घूमने लगो, प्रसिद्ध हो जाओगे। मगर उससे तुम्हारी आत्मा को क्या लाभ होगा? कहां तुम्हारा विकास होगा? कई बार ऐसा हो जाता है कि हम गलत उपाय चुन लेते हैं विशिष्ट होने के, रुग्ण उपाय चुन लेते हैं। कृष्णप्रिया ने रुग्ण उपाय चुने हुए हैं।
वैसे मैं यह नहीं कहता कि अगर इसमें ही तुम्हें आनंद आ रहा हो तो बदलो। मैं किसी के आनंद में दखल देता ही नहीं। अगर इसमें ही आनंद आ रहा है, तुम्हारी मर्जी! मेरे आशीर्वाद। इसको ऐसा ही जारी रखो।
तुम कहती हो कि "मैं छोटी-मोटी निंदा आपकी कर बैठती हूं।"
फिर छोटी-मोटी क्या करनी! फिर ठीक से ही करो। जब मजा ही लेना हो, तो छोटा-मोटा क्या करना! जब चोरी ही करनी हो, तो फिर कौड़ियों की क्या करनी! फिर ठीक से निंदा करो। फिर दिल खोलकर निंदा करो और मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है, इसलिए चिंता की कोई जरूरत नहीं है।
"और कहा गया है कि गुरु की निंदा करने वाले को कहीं ठौर नहीं।"
वह किसी डरे हुए गुरु ने कहा होगा, मैं नहीं कहता। मैं तो कहता हूं, फिक्र छोड़ो, ठौर मैं हूं तुम्हारी। तुम करो निंदा जितनी तुम्हें करनी हो, मैं तुम पर नाराज नहीं हूं, और कभी नाराज नहीं होऊंगा। अगर तुम्हें इसी में मजा आ रहा है, अगर यही तुम्हारा स्वभाव है, अगर यही तुम्हारी सहजता है कि इससे ही तुम्हें कुछ मिलता मालूम पड़ता है, तो मैं बाधा न बनूंगा; फिकर छोड़ो कि गुरु की निंदा करने वाले को कहीं ठौर नहीं। मैं तुमसे कहता हूं, मैं हूं ठौर तुम्हारा। तुम्हें जितनी निंदा करनी हो, करो। वह जिन्होंने कहा होगा, कमजोर गुरु रहे होंगे। निंदा से डरते रहे होंगे।
मेरी निंदा से मुझे कोई भय नहीं है। तुम्हारी निंदा से मेरा कुछ बनता- बिगड़ता नहीं है। और पराए तो मेरी निंदा करते ही हैं, अपने करेंगे तो कम से कम थोड़ी कुशलता से करेंगे--यह भी आशा रखी जा सकती है। करो!
मगर एक बात ख्याल रखना, इससे तुम्हारा विकास नहीं होता है। इसलिए मुझे दया आती है। इससे तुम्हें कोई गति नहीं मिलती। मेरी निंदा करने से तुम्हें क्या लाभ होगा? इस पर ध्यान करो। थोड़े स्वार्थी बनो। थोड़ी अपनी तो सोचो कि मुझे क्या लाभ होगा? यह समय मेरा व्यर्थ जाएगा। अब कृष्णप्रिया यहां वर्षों से है, और मैं समझता हूं, वह यहां न होती तो कुछ हानि नहीं थी-- कुछ लाभ उसे हुआ नहीं; व्यर्थ ही यहां है; यहां होने न होने से कुछ मतलब नहीं है।

कृष्णप्रिया का ही दूसरा प्रश्न हैः

मैं कभी-कभी आश्रम से भागना चाहती हूं, लेकिन आपसे नहीं भागना चाहती। व्यवस्था जो अनुशासन हम पर लादती है, वह मुझे सहन नहीं होता। क्या यह आरोपित अनुशासन आत्मानुशासन के विकास में बाधा नहीं है?

"मैं कभी-कभी आश्रम से भागना चाहती हूं, लेकिन आपसे नहीं भागना चाहती।"
मेरा कोई कसूर! मेरी कोई भूल-चूक! मेरा कोई कर्मों का लेना-देना है! और फिर अगर मुझसे नहीं भागना चाहती तो कोई अड़चन नहीं, मुझे अपने हृदय में रखो और कहीं भी रहो। यह आश्रम भी तुम भाग जाओगी तो इतना ही प्रसन्न होगा, जितनी तुम प्रसन्न होओगी। तुम्हारे होने से यहां कोई भी प्रसन्न नहीं है, यह ख्याल में ले लो। तुम खुद ही प्रसन्न नहीं हो तो कोई और कैसे प्रसन्न होगा?
तुम यहां होकर अगर प्रसन्न हो, तो ही कोई दूसरा तुम्हारे होने से प्रसन्न हो सकता है। प्रसन्नता तुम्हारे भीतर से प्रगट होती है। तुम अगर आनंदित हो, तो ही इस आश्रम के वासी तुम्हारे होने से आनंदित होंगे। अगर तुम दुखी हो और परेशान हो और यहां तुम्हें भला नहीं लगता, तो तुम्हारे कारण यहां कोई प्रसन्न नहीं है। तुम्हारी बड़ी कृपा होगी तुम चली जाओ तो! कोई तुमसे कह भी नहीं सकता है कि तुम चली जाओ, कोई तुमसे कह भी नहीं रहा है। लेकिन अगर तुम्हारे मन में यह बार-बार बात उठती है, तो तुम कृपा करो! तुम कोई युगांडा की प्रेसीडेंट तो हो नहीं--इदी अमीन तो हो नहीं--कि पूरा इंग्लैंड कह रहा है, कृपा करके आप न आएं, मगर वह सज्जन हैं कि जा ही रहे हैं। इंग्लैंड ने उनको खबर भेजी है कि कामनवेल्थ की सभा में हम आपका स्वागत करने में असमर्थ हैं, मगर वह जा ही रहे हैं!
कोई तुमसे कहता नहीं कि तुम भाग जाओ, कोई तुम्हें रोक भी नहीं रहा है, ख्याल रखना। कोई तुम्हारा हाथ पकड़कर रोक भी नहीं रहा है कि तुम यहां रहो। तुम्हारे जाने से हलकापन ही होगा। और तुम जो जगह भरे हो, वहां कोई दूसरा आदमी विकसित होने लगेगा। तुम तो विकसित होती मालूम नहीं होती, तुम्हारा होना न होना बराबर है। मैं नहीं कह रहा हूं कि चली जाओ, मैं इतना ही कह रहा हूं कि अगर तुम्हारे मन में यह भागने का भाव बार-बार उठता है, तो इस भाव को सुनो, इसका अनुकरण करो। यह तुम्हारे ही अंतरात्मा की आवाज है। कौन जाने यही अंतरात्मा की आवाज तुम्हें ठीक रास्ते पर ले जाए, तुम्हारा रास्ता कहीं और हो, तुम्हारा गुरु कहीं और हो!
रही मेरी बात, सो मुझे तुम अपने हृदय में रखना जहां भी रहो, और जहां भी रहो छोटी-मोटी या बड़ी, जैसी निंदा बने करते रहना। मुझे तुम माफ न कर सकोगी, यह मुझे मालूम है। इसलिए जहां रहो वहीं, जो काम यहां करती हो वहां करना। इसमें अड़चन क्या है? मेरे पास रहकर कर ही क्या रही हो यहां? छोटी-मोटी निंदा करती हो--कहती हो--मैं कहता हूं, बड़ी भी करो। पूना रहीं कि पटना, पटना में चलाना यही काम। तो मेरे से तो संग-साथ बना ही रहेगा, आश्रम तुमसे मुक्त हो जाएगा, तुम आश्रम से मुक्त हो जाओगी।
ख्याल रखो, आश्रम में जो व्यवस्था है, वह मेरे निर्देश से है। जिनका मुझसे लगाव है, वे उस व्यवस्था को स्वीकार करेंगे। जो इस व्यवस्था को अस्वीकार करते हैं, उनका मुझसे लगाव नहीं है। क्योंकि वह व्यवस्था मेरी है। यहां किसी और की व्यवस्था नहीं है। यह कोई लोकतंत्र नहीं है यहां, यह तो बिल्कुल तानाशाही है। यहां कोई लोग तय नहीं कर रहे हैं कि क्या हो, यहां जो मैं तय कर रहा हूं वही हो रहा है, वैसा ही हो रहा है, रत्ती-रत्ती वैसा हो रहा है।
इसलिए जिनका मुझसे लगाव है, वे बेईमानियां न करें। वे इस तरह की बेईमानी में न पड़ें कि आपसे तो हमारा लगाव है, आश्रम, आश्रम से हम परेशान हैं! तो तुम मुझसे ही परेशान हो। तो तुम्हारा मुझसे लगाव कोरा है, थोथा है, हवाई है, बातचीत का है, उसका कोई मूल्य नहीं है, उसमें कुछ यथार्थ नहीं है। जिनका मुझसे लगाव है, वे आश्रम में लीन हो गए हैं। उनको यह अड़चन नहीं पैदा होती। इस तरह के प्रश्न वे लिख-लिखकर नहीं भेजते, न इस तरह की बातें करते हैं। वे परम आनंदित हैं। आश्रम की व्यवस्था में डूबकर उन्होंने मेरे तरफ समर्पण का रास्ता खोजा है। वह समर्पण का रास्ता है।
तो आश्रम की व्यवस्था अगर तुम्हें ठीक नहीं लगती, तो तुम ठीक से समझ
लो कि मेरी व्यवस्था तुम्हें ठीक नहीं लगती। इससे मुझसे दूर ही रहना

अच्छा है। जब ठीक लगने लगे, तब आ जाना। अगर मैं रहा, तो तुम्हारा स्वागत होगा। नहीं रहा, तो तुम्हारी तुम जानो!
"और क्या यह आरोपित अनुशासन आत्मानुशासन के विकास में बाधा नहीं है?"
यह तुम निर्णय कर लो। जब भी हम किसी संघ में सम्मिलित होते हैं, तो हम इसीलिए सम्मिलित होते हैं कि अकेले-अकेले हमसे आत्म-विकास नहीं हो रहा है। कृष्णप्रिया, तुम्हारे पास आत्मा अभी है कहां! जिसका तुम अनुशासन कर लोगी। आत्मा के नाम से सिर्फ धोखा दोगी। तुम्हारे पास अभी विवेक कहां है? अभी तुम्हारा होश जागा कहां है? अनुशासन कौन देगा? तुम्हारी निद्रा में तुम जो भी अनुशासन दोगी, तुम्हें और गड्ढे में ले जाएगा। जिस दिन आत्मानुशासन जग जाएगा, उस दिन तो मैं भी तुमसे नहीं कहूंगा कि किसी और अनुशासन को मानो। यह और अनुशासन उसी अनुशासन को जगाने की दिशा में प्रयास है। मैं तुम्हें तभी तक अनुशासन दूंगा, जब तक मुझे लगता है, तुम्हारी आत्म-चेतना अभी जागी नहीं। जिस दिन देखूंगा, तुम्हारा दीया जल गया, उस दिन तुमको कहूंगा कि अब तुम मुक्त हो, अब तुम्हें जैसा लगे वैसा करो। क्योंकि तब तुम वही करोगी, जो ठीक है।
अभी तुम जो करोगी, वह गलत ही होने वाला है। अभी तुमसे ठीक हो सकता होता
तो मेरे पास आने की जरूरत क्या थी? अभी तुम्हारा विवेक बुझा-बुझा है। आत्मानुशासन का यही अर्थ हुआ--एक आंख वाले आदमी का अंधा आदमी हाथ पकड़ता है। फिर जब अंधा आदमी आंख वाले का हाथ पकड़ता है तो श्रद्धापूर्वक चलना होता है। अंधा बीच-बीच में कहने लगे कि मैं बाएं जाना चाहता हूं--मैं तो आत्मानुशासन में मानता हूं--और तुम मुझे दाएं खींच रहे हो! अब आंख वाला देखता है कि बाएं गड्ढा है, लेकिन अंधा कहता है कि तुम मुझे दाएं खींचोगे, मैं दाएं नहीं जाना चाहता। यह तो तुम ऊपर से मेरे ऊपर आरोपित कर रहे हो, तुम मेरी स्वतंत्रता छीन रहे हो, मुझे बाएं जाना है, मैं तो अपनी आत्मा की आवाज मानूंगा। मगर आंखें भी तो होनी चाहिए! तो जाओ बाएं! तो गिरो गड्ढे में! फिर मेरा कसूर मत मानना।
अब यह बड़ी मुश्किल की बात है। अगर गड्ढे में गिरोगी, तो मेरा कसूर, कि भगवान मौजूद थे, मैं उनके पास थी, उन्होंने क्यों ध्यान न दिया? अगर मैं ध्यान दूं, तो तुम्हारे आत्मानुशासन में बाधा पड़ती है।
तुम तय कर लो। अगर इस संघ के हिस्से होकर रहना है, तो यह आत्मानुशासन इत्यादि की बातें छोड़ दो। तुम अभी आत्मवान नहीं हो। इसलिए तुम कोई आत्मानुशासन देने में समर्थ नहीं हो। अभी तुम अपने सब इस अहंकार की घोषणा को बंद करो--यह सिर्फ अहंकार की घोषणा है, आत्मा की नहीं। आत्मा अभी है कहां? आत्मा जग जाए, इसलिए सारा अनुशासन दे रहा हूं। जिस दिन जग जाएगी, उस दिन मैं तुमसे खुद ही कहूंगा कि कृष्णप्रिया, अब तू जा, औरों को जगा! अभी यह नहीं कह सकता। अभी इसका कोई उपाय कहने का नहीं है।
सोच लो, एक दफा ठीक निर्णय कर लो, यहां रहना हो तो पूरे रहो, यहां से जाना हो तो पूरे भाव से चली जाओ। ऐसा बीच-बीच में त्रिशंकु होकर रहना ठीक नहीं है।

पांचवां प्रश्नः पश्चात्ताप का आध्यात्मिक विकास में क्या मूल्य है?

पश्चात्ताप और पश्चात्ताप में फर्क है। एक तो पश्चात्ताप होता है जो व्यर्थ की चिंता है, तुम लौट-लौटकर पीछे देखते हो और सोचते हो--ऐसा न किया होता, वैसा किया होता; ऐसा हो जाता, ऐसा न होता; तो अच्छा होता। यह पश्चात्ताप जो है, यह व्यर्थ का रुदन है। जो दूध गिर गया और बिखर गया फर्श पर, अब उसको इकट्ठा नहीं किया जा सकता। और यह इकट्ठा भी कर लो, तो पीने के काम का नहीं है। जो गया, गया। उसी घाव को खुजलाते रहना बार-बार किसी मूल्य का नहीं है।
अगर तुम्हारा पश्चात्ताप से यही अर्थ हो कि पीछे लौट-लौटकर देखना और रोना और बिसूरना और कहना कि ऐसा न किया होता तो अच्छा था... मगर जो हो गया, हो गया, अब उसको नहीं करने का कोई भी उपाय नहीं है। अतीत में कोई बदलाहट नहीं की जा सकती, इसे स्मरण रखो। यह एक बुनियादी सिद्धांत है, अतीत में कोई

बदलाहट नहीं की जा सकती। जैसा हो गया, अंतिम रूप से हो गया। अब इसमें न तो तुम एक लकीर जोड़ सकते, न एक लकीर घटा सकते। अब यह हमारे हाथ में नहीं रहा। यह बात हमारे हाथ से सरक गयी। यह तीर हमारे हाथ से निकल गया, इसे अब तरकस में वापस नहीं लौटाया जा सकता। इसलिए इसके लिए रोने से तो कोई सार नहीं है।
अगर तुम्हारा पश्चात्ताप का यही अर्थ हो--जो कि अक्सर होता है। लोग कहते हैं, पछता रहे हैं, खूब पछता रहे हैं; ऐसा नहीं करते, फलां को गाली दे दी, न देते; यह लाटरी की टिकट खरीदने का मन था और यही नंबर की टिकट मिल रही थी और न खरीदी, आज लखपति हो गए होते; कि इस घोड़े पर लगा दिया होता दांव; कि ऐसा कर लिया होता, कि वैसा कर लिया होता, कि इस बार जनता की टिकट पर खड़े ही हो गए होते। अतीत को तुम अगर बार-बार सोचते हो, इससे कुछ लाभ नहीं है, इसके कारण नुकसान है, क्योंकि इसके कारण तुम भविष्य को नहीं देख पाते और वर्तमान को नहीं देख पाते, तुम्हारी आंखें धुएं से भरी रहती हैं। अतीत को तो जाने दो। आंखें खुली रखो, साफ रखो, जो हो गया, हो गया; जो अभी नहीं हुआ, उसमें कुछ किया जा सकता है।
तो इस अर्थ में तो पश्चात्ताप कभी मत करना, अतीत का चिंतन मत करना।
लेकिन एक पश्चात्ताप का और भी अर्थ होता है कि अतीत से सीख ली, अतीत के अनुभव को निचोड़ा, अतीत से ज्ञान की थोड़ी किरण पायी; जो-जो अतीत में हुआ है, उसको ऐसे ही नहीं हो जाने दिया, जो भी हुआ, उससे कुछ पाठ लिए, उस पाठ के अनुसार आगे जीवन को गति दी, उस पाठ के अनुसार अगले कदम उठाए।
यह छोटी सी कहानी सुनो--
एक सूफी संत थे, बड़े ईश्वरभक्त। पांच दफे नमाज पढ़ने का उनका नियम था।
एक रोज थके-मांदे थे, सो गए। जब नमाज का वक्त आ गया तो किसी ने आकर उन्हें जगाया, हिलाकर कहा, उठो-उठो, नमाज का वक्त हो गया है। वे तत्काल ही उठ बैठे और बड़े कृतज्ञ हुए, कहने लगे, भाई, तुमने मेरा बड़ा काम किया, मेरी इबादत रह जाती तो क्या होता! अच्छा अपना नाम तो बताओ। उस आदमी ने कहा, अब नाम रहने दो, उससे झंझट होगी। लेकिन संत ने कहा, कम से कम नाम तो जानूं, तुम्हें धन्यवाद तो दूं। तो उसने कहा, पूछते ही हो तो कह देता हूं, मेरा नाम इबलीस है।
इबलीस है शैतान का नाम। संत तो हैरान हुए, बोले, इबलीस? शैतान? अरे, तुम्हारा काम तो लोगों को इबादत से, धर्म से रोकना है, फिर तुम मुझे जगाने क्यों आए? यह बात तो बड़ी अटपटी है। सुनी नहीं, पढ़ी नहीं; न आंखों देखी, न कानों सुनी, शास्त्रों में कहीं उल्लेख नहीं कि इबलीस और किसी को जगाता हो कि उठो-उठो, नमाज का वक्त हो गया। तुम्हें हो क्या गया है? क्या तुम्हारा दिल बदल गया है?
शैतान ने कहा, नहीं भैया, इसमें मेरा ही फायदा है। एक बार पहले भी तुम ऐसे ही सो गए थे; नमाज का वक्त बीत गया तो मैं बहुत खुश हुआ था, लेकिन जब तुम जागे तो इतना रोए, इतने दुखी हुए, इतने हृदय से तुमने ईश्वर को पुकारा और इतनी तुमने कसमें खायीं कि अब कभी नहीं सोऊंगा, अब कभी भूल नहीं करूंगा, अब मुझे क्षमा कर दो। तब से वर्षों बीत गए हैं, तब से तुम सोए नहीं, तब से तुम नमाज ही नहीं चूके। अब मैंने देखा कि आज तुम फिर सो गए हो, अगर मैं तुम्हें न जगाऊं तो और कठिनाई होगी, तुम इससे भी कुछ पाठ लोगे। तो मैंने सोचा एक दफे नमाज पढ़ लो, वही ज्यादा ठीक है। उसमें मेरी कम हानि है। क्योंकि पिछली दफे तुम चूके, उससे तुम्हें जितना लाभ हुआ, उतना तुमने जितनी नमाजें जिंदगीभर की थीं उनसे भी न हुआ था।
इस फर्क को समझना।
तुम जिंदगीभर नमाज पढ़ते रहे, रोज सुबह-सांझ पांच बार, उससे तुम्हें इतना लाभ नहीं हुआ था, जितना पिछली बार सो गए थे और जब जागे थे तो जिस ढंग से तुम पछताए थे, जिस ढंग से तुम पीड़ित हुए थे, जैसे तुम रोए थे, जैसे तुम जार-जार होकर तड़फे थे, तुम फर्श पर घिसटे थे, तुमने सिर पटका था, तुमने प्रभु को ऐसा याद किया था, उस दिन तुम्हारी नमाज, उस दिन तुम्हारी प्रार्थना परमात्मा तक पहुंच गयी थी! और तब से वर्षों बीत गए, मैंने तुम्हें बहुत सुलाने की कोशिश की, सब किया, लेकिन तुम कभी नहीं सोए, तुम हर

हालत में भी नमाज पढ़ते रहे। आज तुम सो गए थके-मांदे, मैं डरा कि कहीं आज फिर तुम सोए रहे, तब तो तुम पता नहीं कितना लाभ ले लोगे उस प्रायश्चित्त से, उस पश्चात्ताप से!
पश्चात्ताप पश्चात्ताप का फर्क है। सिर्फ रोने की ही बात नहीं है, सीखने की बात है। सीखो तो बड़ा लाभ है; जो भूलें तुमने की हैं, वे सभी भूलें काम की हो जाती हैं। सभी भूलें सोने की, अगर सीख लो। अगर न सीखो, तो तुमने जो ठीक भी किया वह भी मिट्टी हो जाता है।
इस गणित को ख्याल में लेना। भूल भी सोना हो जाती है, अगर उससे सीख लो।
और गैर-भूल भी मिट्टी हो जाती है, अगर कुछ न सीखो। अनुभव तो जिंदगी में सभी को होते हैं, थोड़े से लोग उनसे सीखते हैं। जो सीखते हैं, वे ज्ञानी हो जाते हैं। अधिक लोग उनसे सीखते नहीं। अनुभव तो सभी को बराबर होते हैं, अच्छे के, बुरे के, लेकिन कुछ लोग अनुभवों की राशि लगाकर बैठे रहते हैं, उसकी माला नहीं बनाते। थोड़े से लोग हैं जो अनुभव के फूलों को सीख के धागे से पिरोते हैं और माला बना लेते हैं। वे प्रभु के गले में हार बन जाते हैं।
पाठ ख्याल में रखो--जो हुआ, हुआ। वह अन्यथा हो नहीं सकता। लेकिन उसके होने के कारण तुम अन्यथा हो सकते हो। ख्याल लेना, गलत पश्चात्ताप उसे कहता हूं मैं जब तुम सोचते हो--जो मैंने किया वैसा न किया होता, अन्यथा हो जाता, कुछ तरकीब हो जाती, ऐसा हो जाता, वैसा हो जाता, क्यों मैंने ऐसा किया, किसी से पूछ लेता, जरा सी बात थी, क्यों चूक गया; इस तरह के पछतावे से कोई लाभ नहीं, क्योंकि तुम अतीत को बदलना चाह रहे हो, तो पश्चात्ताप व्यर्थ।
अगर अतीत में ऐसा हुआ, इससे तुम एक अनुभव लो कि मैं अपने को बदल लूं-- तुम अपने को बदल सकते हो, तुम भविष्य हो, तुम अभी हुए नहीं, हो रहे हो, इस में बदलाहट हो सकती है--अगर तुम बदल जाओ तो पश्चात्ताप बड़ा बहुमूल्य है। नमाज से ज्यादा नमाज न हुई उसका पश्चात्ताप है।

छठवां प्रश्नः भगवान बुद्ध ने आनंद से कहा कि स्थान बदलने से समस्या
हल होने वाली नहीं है। फिर आप क्यों बार-बार स्थान बदल रहे हैं?

पहली तो बात, भगवान बुद्ध एक स्थान पर दो-तीन सप्ताह से ज्यादा नहीं रहते थे। मैं एक-एक जगह चार-चार, पांच-पांच साल टिक जाता हूं, सो यह तुम दोष मुझ पर न लगा सकोगे कि मैं बार-बार स्थान क्यों बदल रहा हूं। भगवान बुद्ध तो जिंदगीभर बदलते रहे। लेकिन उन्होंने भी समस्या के कारण नहीं बदला और मैं भी समस्या के कारण नहीं बदल रहा हूं। जब आनंद ने कहा उनसे कि हम दूसरे गांव चले चलें, क्योंकि इस गांव के लोग गालियां देते हैं, तो उन्होंने नहीं बदला। इस कारण नहीं बदला। उन्होंने कहा, इस कारण बदलने से क्या सार! इसका मतलब यह मत समझना कि वह स्थान नहीं बदलते थे। स्थान तो बदलते ही थे, बहुत बदलते थे, लेकिन इस कारण उन्होंने कहा स्थान बदलना गलत है।
उस स्थान से भी बदला उन्होंने, आखिर गए उस जगह से, लेकिन तब तक न गए जब
तक यह समस्या बहुत कांटे की तरह चुभ रही थी और भिक्षु बदलना चाहते थे--तब तक नहीं गए। जब भिक्षुओं ने उनकी बात सुन ली और समझ ली और भिक्षु राजी हो गए और धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने लगे, जब भिक्षुओं के मन में यह बात ही नहीं रही कि कहीं और चलें, तब चले गए। मगर वे समस्या के कारण नहीं गए।
मैं भी समस्या के कारण नहीं बदलता। समस्या तो सब जगह बराबर है। सच तो बात यह है कि जहां दो-चार-पांच साल रह जाओ, वहां समस्याएं कम हो जाती हैं। लोग राजी हो जाते हैं--क्या करोगे!
मैं वर्षों जबलपुर था, लोग धीरे-धीरे राजी हो गए थे, वे समझते थे कि होगा, दिमाग खराब होगा इनका। जिनको सुनना था, सुनते थे; जिनको नहीं सुनना था, नहीं सुनते थे; बात तय हो गयी थी कि ठीक है, अब क्या करोगे इस आदमी का! शोरगुल मचा लिया, अखबारों में खिलाफ लिख लिया, जुलूस निकाल लिए, क्या करोगे फिर, आखिर कब तक चलाते रहोगे! और भी काम हैं दुनिया में, धर्म कोई एक ही काम तो नहीं, फुर्सत किसको है! जिनको प्रार्थना करने की फुर्सत नहीं, उन्हें मेरा विरोध करने की फुर्सत भी कितनी देर तक रहेगी, यह तो सोचो! आखिर

वे राजी हो गए कि ठीक है, अब छोड़ो, भूलो! जिस दिन वे राजी हो गए, उसी दिन मैंने जबलपुर छोड़ दिया। फिर कोई सार न रहा वहां रहने का।
फिर मैंने बंबई में अड्डा जमा लिया। फिर धीरे-धीरे बंबई के लोग भी राजी होने लगे कि ठीक है, तब मैं पूना आ गया। अब पूना के लोग भी राजी होने के करीब आ रहे हैं--अब मैं क्या करूं! जाने का वक्त करीब आ गया। अब पूना में कोई नाराज नहीं है। मुझे पत्र आते हैं मित्रों के, पूना के संन्यासियों के कि अब आप छोड़ते हैं, जब कि सब ठीक-ठाक हुआ जा रहा है! अब लोग नाराज भी नहीं हैं, उतना विरोध भी नहीं कर रहे हैं।
लोगों की सीमा है। अगर तुम धैर्य रखे रहो, तो वे हार जाते हैं, क्या करेंगे! कब तक सिर फोड़ेंगे! मगर जैसे ही यह बात हो जाती है, फिर बदलने का वक्त आ जाता है। अब कहीं और जाएंगे, कहीं और जहां लोग सिर फोड़ेंगे, वहां जाएंगे।
समस्या के कारण नहीं बदली जाती हैं जगहें। समस्याएं हल हो जाती हैं,
तो फिर बदल लेते हैं--अब यहां करेंगे भी क्या, मरीज न रहे! जितने लोगों को लाभ हो सकता था, उन्होंने लाभ ले लिया; जो अभागे हैं, उनके लिए बैठे रहने से कुछ लाभ नहीं। अब कहीं और, किसी और कोने से! कहीं और भी लोग प्रतीक्षा करते हैं। यही उचित है।
काफी समय रह लिया यहां। जो ले सकते थे लाभ, उन्होंने ले लिया, उनके कंठ
भर गए। जिनके लिए आया था, उनका काम पूरा हो गया। ऐसे तो बहुत भीड़ है पूना में, उससे मेरा कोई लेना-देना नहीं, उनके लिए मैं आया भी नहीं था; उनके लिए मैं आया भी नहीं, उनके लिए मैं यहां रहा भी नहीं। यहां दुनिया में कोने- कोने से लोग आ रहे हैं, लेकिन यहां पड़ोस में लोग हैं जो यहां नहीं आए। जिनके लिए मैं आया था, उनका काम पूरा हुआ। अब कहीं और!
समस्या के कारण कोई बदलता नहीं--कोई बुद्ध नहीं बदलता समस्या के कारण।

सातवां प्रश्नः मैंने सुना है कि अपात्र व्यक्तियों को संन्यास की दीक्षा नहीं दी जाती है। ऐसा क्यों? क्या अपात्र सदगुरु की करुणा के हकदार नहीं हैं?

इस छोटी सी कहानी को समझो--
अंगार ने ऋषि की आहुतियों का घी पीया, और हव्य के रस चाटे। कुछ देर बाद
वह ठंडा होकर राख हो गया और कूड़े की ढेरी पर फेंक दिया गया। ऋषि ने जब दूसरे दिन नए अंगार पर आहुति अर्पित की तो राख ने पुकारा, क्या आज मुझसे रुष्ट हो, महाराज! ऋषि की करुणा जाग उठी और उन्होंने पात्र को पोंछकर एक आहुति राख को भी अर्पित की। तीसरे दिन ऋषि जब नए अंगार पर आहुति देने लगे, तो राख ने गुर्राकर कहा, अरे, तू वहां क्या कर रहा है, अपनी आहुतियां यहां क्यों नहीं लाता? ऋषि ने शांत स्वर में उत्तर दिया, ठीक है राख, आज मैं तेरे अपमान का ही पात्र हूं, क्योंकि कल मैंने मूर्खतावश तुझ अपात्र में आहुति अर्पित करने का पाप किया था।
अपात्र को भी सदगुरु तो देने को तैयार होता है, लेकिन अपात्र लेने को तैयार नहीं। अपात्र का मतलब ही यह होता है कि जो लेने को तैयार नहीं। तो देने से ही थोड़े ही कुछ हल होता है। मैं देने को तैयार हूं, अगर तुम लेने को तैयार न हो, तो मेरे देने का क्या सार होगा? तुम जब तक तैयार नहीं हो, तुम्हें कुछ भी नहीं दिया जा सकता। स्थूल चीजें नहीं दी जा सकतीं, तो सूक्ष्म की तो बात ही छोड़ दो। मैं कोई स्थूल चीज तुम्हें भेंट दूं--फूलों का एक हार भेंट दूं--और तुम फेंक दो। स्थूल चीज भी नहीं दी जा सकती। तो सूक्ष्म--मैं तुम्हें संन्यास दूं, मैं तुम्हें ध्यान दूं, मैं तुम्हें प्रेम दूं--तुम उसे भी फेंक दोगे।
अपात्र का अर्थ ख्याल रखना। अपात्र का अर्थ यह है, जो लेने को तैयार नहीं। जो पात्र नहीं है अभी। जो अभी पात्र बनने को राजी नहीं है। पात्र का अर्थ होता है, जो खाली है और भरने को तैयार है। अपात्र का अर्थ होता है जो बंद है और भरने से डरा है और खाली ही रहने की जिद्द किए है। फिर अगर अपात्र

को दो तो वह फेंकेगा। और अपात्र को अगर दो तो वह दुर्व्यवहार करेगा--हीरों के साथ कंकड़-पत्थरों जैसा दुर्व्यवहार करेगा।
इसलिए तुम्हारे प्रश्न को समझने की कोशिश करो।
"मैंने सुना है कि अपात्र व्यक्तियों को संन्यास की दीक्षा नहीं दी जाती।"
ऐसा नहीं कि सदगुरु नहीं देना चाहते, देना चाहते हैं, मगर अपात्र लेते नहीं। और कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि अपात्र ऊपर से कहता हो कि मैं लेना चाहता हूं। लेकिन सदगुरु तुम्हारे भीतर देखता है, तुम्हारे ऊपर की बात नहीं है। तुम्हारी वाणी की बात नहीं है, तुम्हारे प्राण की बात है। वह देखता है, तुम भीतर से तैयार हो कि ऊपर से? ऊपर से तुम किसी और कारण से लेने को राजी हो गए होओ।
यहां मेरे पास लोग आ जाते हैं। वे कहते हैं, संन्यास चाहिए। जब मैं उनसे जरा बात करता हूं कि किसलिए चाहिए? क्या बात है? क्या कारण है? तो कारण ऐसे मिलते हैं जिनका संन्यास से कोई भी संबंध नहीं हो सकता।
एक युवक संन्यास लेने आया। पूछा, कारण क्या है? वह कहता है, नौकरी नहीं लगती। अब नौकरी नहीं लगती तो उसने सोचा कि चलो, किसी आश्रम में ही रहेंगे। मगर यह संन्यास के लिए पर्याप्त कारण मानते हो इसे? नौकरी नहीं लगती। मैंने उससे कहा, और अगर नौकरी लग जाए? तो उसने कहा, अगर आप लगवा दें तो बड़ी कृपा! फिर मैंने कहा, फिर संन्यास का क्या करोगे? तो उन्होंने कहा, अगर नौकरी लगवा दें तो फिर संन्यास की कोई जरूरत ही नहीं है। मैं तो आया ही इसीलिए हूं कि अब कहीं लगती नहीं, ठोकरें खा-खाकर परेशान हो गया, रोजगार दफ्तरों के सामने खड़े-खड़े सुबह से सांझ हो जाती है, नौकरी लगती नहीं; लगवा दें आप, तो फिर क्या जरूरत संन्यास की!
अब बात सीधी-साफ है। कोई बीमार है, सोचता है शायद संन्यास... एक स्त्री अपने बेटे को लेकर आ गयी--वह बचपन से ही पागल है, मस्तिष्क उसका विकसित नहीं हुआ--इसको संन्यास दे दें। वह उसे घसीटती है, इसे संन्यास दे दें। मैं उसे पूछता हूं, इसको लेना है? वह कहती है, इसको तो कुछ होश ही नहीं, यह क्या लेगा-देगा! तो मैंने कहा, तू इसके क्यों पीछे पड़ी है?
तो वह कहती है, शायद संन्यास से इसकी बुद्धि ठीक हो जाए। शायद इसका मस्तिष्क खराब है--चिकित्सक तो हार गए, मनोवैज्ञानिक कहते हैं कुछ हो नहीं सकता, इसमें बुद्धि के तंतु ही नहीं हैं--तो शायद... ।
अब इस तरह संन्यास नहीं घटता। संन्यास इस जगत की सबसे अनूठी घटना है। संगीत सीख सकता है अपात्र, अगर थोड़ी मेहनत करे। कविता भी रच सकता है अपात्र, अगर थोड़ी भाषा मांजे, तुकबंदी साधे। नाच भी सीख सकता है--लंगड़ा भी नाच सीख सकता है--अगर थोड़ा अभ्यास करे। लेकिन संन्यास? संन्यास तो सर्वांग सौंदर्य है। संन्यास तो आखिरी बात है। संन्यास तो आखिरी समन्वय है। संन्यास तो समाधि है। इस पर तो जो सारे जीवन को निछावर कर दे--वे भी अगर पा लें तो धन्यभागी हैं!
तो तुम पूछते हो कि "सुना है मैंने अपात्र व्यक्तियों को संन्यास की दीक्षा नहीं दी जाती।"
दीक्षा देने में सदगुरु को कोई कंजूसी नहीं, कोई कृपणता नहीं है, लेकिन अपात्र लेने को राजी नहीं है। अपात्र लेता नहीं है।
पूछते हो, "ऐसा क्यों?"
यह बात सीधी-साफ है।
"और क्या अपात्र सदगुरु की करुणा के हकदार नहीं हैं?"
हकदार शब्द ही गलत है। यह कोई अधिकार नहीं है जिसका तुम दावा करो। यह हकदार शब्द ही अपात्र के मन की दशा की सूचना दे रहा है। संन्यास का कोई हकदार नहीं होता। यह कोई कानूनी हक नहीं है कि इक्कीस साल के हो गए तो वोट देने का हक है। तुम जन्मों-जन्मों जी लिए हो, फिर भी हो सकता है संन्यास के हकदार न होओ। यह हक अर्जित करना पड़ता है। यह हक हक कम है और कर्तव्य ज्यादा है। यह तो तुम्हें धीरे-धीरे कमाना पड़ता है। यह कोई कानूनी नहीं है कि मैं चाहता हूं संन्यास लेना, तो मुझे संन्यास दिया जाए। यह तो प्रसाद-रूप मिलता है। तुम प्रार्थना कर सकते हो, हक का दावा नहीं। तुम प्रार्थना कर

सकते हो, हाथ जोड़कर तुम चरणों में बैठ सकते हो कि मैं तैयार हूं, जब आपकी करुणा मुझ पर बरसे, या आप समझें कि मैं योग्य हूं, तो मुझे भूल मत जाना, मैं अपना पात्र लिए यहां बैठा हूं। तुम प्रार्थना कर सकते हो, हक की बातें नहीं कर सकते। हक की बात भी अपात्रता का हिस्सा है।
जीवन में जो महत्वपूर्ण है, सुंदर है, सत्य है, उस पर दावे नहीं होते।
हम उसके लिए निमंत्रण दे सकते हैं, हम परमात्मा को कह सकते हैं, तुम आओ तो मेरे दरवाजे खुले रहेंगे। तुम पुकारोगे तो मुझे जागा हुआ पाओगे। मैंने घर-द्वार सजाया है, धूप-अगरबत्ती जलायी है, फूल रखे हैं, तुम्हारी सेज-शय्या तैयार की है, पलक-पांवड़े बिछाए मैं प्रतीक्षा करूंगा, तुम आओ तो मैं धन्यभागी; तुम न आओ, तो समझूंगा अभी मैं पात्र नहीं। यह पात्र का लक्षण है। तुम आओ, तो मैं धन्यभागी! तुम आओ, तो समझूंगा कि प्रसाद है। न आओ, तो समझूंगा अभी पात्र नहीं।
अपात्र की हालत उलटी है। तुम आओ, तो वह समझेगा आ गए, ठीक है! मेरा हक ही था, आना ही था, न आते तो मजा चखाता। आना ही पड़ता, यह मेरा हक है, यह मेरा अधिकार है। न आओ, तो वह नाराज होता है कि बड़ा अन्याय हो रहा है; संसार में अन्याय है, किसी को मिल रहा है, किसी को नहीं मिल रहा है; ज्यादती हो रही है, पक्षपात हो रहा है, भाई-भतीजावाद हो रहा है। अपात्र की भाषा होती है एक। पात्र की भी एक भाषा होती है। परमात्मा आता है तो पात्र कहता है-- प्रसाद। मेरी तो कोई योग्यता न थी, फिर तुम आए! यह पात्र की भाषा है, जरा समझना, बड़ी उलटी भाषा है। पात्र कहता है, मैं तो अपात्र था और तुम आए! मेरी तो कोई योग्यता न थी, मैं मांग सकूं ऐसा तो मेरा कोई आधार न था, सिर्फ तुम्हारी करुणा, तुम्हारा प्रेम, तुम्हारी दया; तुम रहीम हो, तुम रहमान हो, तुम महाकरुणावान हो, इसलिए आए। हक के कारण नहीं। मैं धन्यभागी हूं, अनुगृहीत हूं, यह ऋण चुकाया नहीं जा सकता, मुझ अपात्र पर कृपा की! मुझ अयोग्य की तरफ आंख उठायी! यह पात्र की भाषा है।
अपात्र कहता है, मैं पात्र, मुझसे ज्यादा पात्र और कौन है? और अभी तक नहीं आए? इतनी देर लगा रहे हो? अन्याय मालूम होता है। अपात्र अपनी योग्यता की घोषणा करता है--हक तो योग्यता की घोषणा है।
नहीं, संन्यास तो जीवन का परम फूल है, यह सहजता में खिलता है, यह प्रसादरूप खिलता है। तुम निमंत्रण भेजो और प्रतीक्षा करो। सदगुरु के पास जाओ, निमंत्रण दे दो, निवेदन कर दो, कि आप पुकारेंगे तो मैं तैयार हूं। मेरे पास आते हैं इतने लोग, उसमें तीन तरह के लोग होते हैं। उसमें जो श्रेष्ठतम होता है, वह मुझसे आकर कहता है कि मैं तैयार हूं, अगर आप मुझे पात्र समझें तो संन्यास दे दें। अगर आप समझें! अगर आप समझें कि अभी मेरी तैयारी नहीं, तो मैं प्रतीक्षा करूंगा। आप पर छोड़ता हूं। जो श्रेष्ठतम है वह कहता है, आप पर छोड़ता हूं। जो उससे नंबर दो है, दोयम है, वह कहता है, मैंने तय कर लिया कि मुझे संन्यास लेना है, आप मुझे संन्यास दें। फिर एक नंबर तीन भी है, वह कहता है, आप संन्यास देना चाहते हैं? अगर आप दें तो मैं विचार करूं कि लूं या न लूं। इस पर मैं विचार करूंगा।
इसमें पहला तो बहुत करीब है भगवान के मंदिर के, द्वार पर खड़ा है। दूसरा ज्यादा दूर नहीं है। तीसरा बहुत दूर है। और चौथे भी लोग हैं, जो आते ही नहीं। उनको तो पता ही नहीं कि भगवान का कोई मंदिर भी होता है, कि संन्यास जैसी भी एक जीवन की दशा होती है; कि चैतन्य का एक नृत्य भी होता है, एक संगीत भी होता है, एक काव्य भी होता है।

आठवां प्रश्नः क्या बुद्ध के पूर्व भी और बुद्ध हुए हैं? और क्या बुद्ध के बाद भी और बुद्ध हुए हैं?

बुद्धत्व चेतना की परमदशा का नाम है। इसका व्यक्ति से कोई संबंध नहीं है। जैसे जिनत्व चेतना की अंतिम दशा का नाम है, इससे व्यक्ति का कोई संबंध नहीं है। जिन अवस्था है। वैसे ही बुद्ध अवस्था है।
गौतम बुद्ध हुए, कोई गौतम पर ही बुद्धत्व समाप्त नहीं हो गया। गौतम के पहले और बहुत बुद्ध हुए हैं। खुद गौतम बुद्ध ने उनका उल्लेख किया है। और

गौतम बुद्ध के बाद बहुत बुद्ध हुए। स्वभावतः, गौतम बुद्ध उनका तो उल्लेख नहीं कर सकते। बुद्धत्व का अर्थ है--जाग्रत। होश को आ गया व्यक्ति। जिसने अपनी मंजिल पा ली। जिसको पाने को अब कुछ शेष न रहा। जिसका पूरा प्राण ज्योतिर्मय हो उठा। अब जो मृण्मय से छूट गया और चिन्मय के साथ एक हो गया। इस छोटी सी झेन-कथा को समझो--
एक दिन सदगुरु पेन ची ने आश्रम में बुहारी दे रहे भिक्षु से पूछा, भिक्षु, क्या कर रहे हो? भिक्षु बोला, जमीन साफ कर रहा हूं, भंते। सदगुरु ने तब एक बहुत ही अदभुत बात पूछी--झेन फकीर इस तरह की बातें पूछते भी हैं, पूछा--यह बुहारी देना तुम बुद्ध के पूर्व कर रहे हो, या बुद्ध के पश्चात? अब यह भी कोई बात है! बुद्ध को हुए हजारों साल हो गए, अब यह सदगुरु जो स्वयं बुद्धत्व को उपलब्ध है, यह बुहारी देते इस भिक्षु से पूछता है कि यह बुहारी देना तुम बुद्ध के पूर्व कर रहे हो, या बुद्ध के पश्चात? प्रश्न पागलपन का लगता है। मगर परमहंसों ने कई बार पागलपन की बातें पूछी हैं, उनमें बड़ा अर्थ है।
जीसस से किसी ने पूछा है कि आप अब्राहम के संबंध में क्या कहते हैं? अब्राहम यहूदियों का परमपिता, वह पहला पैगंबर यहूदियों का। इस बात की बहुत संभावना है कि अब्राहम राम का ही दूसरा नाम है--अब राम का। अब सिर्फ आदर-सूचक है, जैसे हम श्रीराम कहते हैं, ऐसे अब राम; अब राम से अब्राहम बना, इस बात की बहुत संभावना है। लेकिन अब्राहम पहला प्रोफेट है, पहला पैगंबर, पहला तीर्थंकर है यहूदियों का, मुसलमानों का, ईसाइयों का। उससे तीनों धर्म पैदा हुए।
तो किसी ने जीसस से पूछा कि आप अब्राहम के संबंध में क्या कहते हैं? तो जीसस ने कहा, मैं अब्राहम के भी पहले हूं। हो गयी बात पागलपन की! जीसस कहां हजारों साल बाद हुए हैं, लेकिन कहते हैं, मैं अब्राहम के भी पहले हूं।
इस झेन सदगुरु पेन ची ने इस भिक्षु से पूछा, यह बुहारी देना तुम बुद्ध
के पूर्व कर रहे हो या बुद्ध के पश्चात? पर भिक्षु ने जो उत्तर दिया, वह गुरु के प्रश्न से भी गजब का है! भिक्षु ने कहा, दोनों ही बातें हैं, बुद्ध के पूर्व भी और बुद्ध के पश्चात भी। बोथ, बिफोर एंड आफ्टर। गुरु हंसने लगा। उसने पीठ थपथपायी।
इसे हम समझें। बुद्ध को हुए हो गए हजारों वर्ष, वह गौतम सिद्धार्थ बुद्ध हुआ था, पर बुद्ध होना उस पर समाप्त नहीं हो गया है। आगे भी बुद्ध होना जारी रहेगा। इस बुहारी देने वाले भिक्षु को भी अभी बुद्ध होना है। इसलिए प्रत्येक घटना दोनों है--बुद्ध के पूर्व भी, बुद्ध के पश्चात भी। बुद्धत्व तो एक सतत धारा है। एस धम्मो सनंतनो। हम सदा बीच में हैं। हमसे पहले बुद्ध हुए हैं, हमसे बाद बुद्ध होंगे, हमको भी तो बुद्ध होना है। गौतम पर ही थोड़े बात चुक गयी।
लेकिन हमारी नजरें अक्सर सीमा पर रुक जाती हैं। हमने देखा गौतम बुद्ध हुआ, दीया जला, हम दीए को पकड़कर बैठ गए--ज्योति को देखो, ज्योति तो सदा से है। इस दीए में उतरी, और दीयों में उतरती रही है, और दीयों में उतरती रहेगी।
तो जीसस ठीक कहते हैं कि अब्राहम के पहले भी मैं हूं। यह मेरी जो ज्योति है, यह कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है, यह तो शाश्वत है, यह सनातन है, अब्राहम बाद में हुआ, इस ज्योति के बाद हुआ, इस ज्योति के कारण ही हुआ, जिस ज्योति के कारण मैं हुआ हूं। यह परम ज्योति है। यह परम ज्योति शाश्वत है। न इसका कोई आदि है, न इसका कोई अंत है।
बुद्ध ने अपने पिछले जन्मों के बुद्धों का उल्लेख किया है--चौबीस बुद्धों का उल्लेख किया है। एक उल्लेख में कहा है कि उस समय के जो बुद्धपुरुष थे, उनके पास मैं गया। तब गौतम बुद्ध नहीं थे। झुककर बुद्धपुरुष के चरण छुए। उठकर खड़े हुए थे कि बहुत चौंके, क्योंकि बुद्ध ने झुककर उनके चरण छू लिए। तो वे बहुत घबड़ाए, उन्होंने कहा, मैं आपके चरण छुऊं, यह तो ठीक है; अंधा आंख वाले के सामने झुके, यह ठीक है; लेकिन आपने मेरे चरण छुए, यह कैसा पाप मुझे लगा दिया! अब मैं क्या करूं?

वे बुद्ध हंसने लगे। उन्होंने कहा, तुझे पता नहीं, देर-अबेर तू भी बुद्ध हो जाएगा। हम शाश्वत में रहते हैं, क्षणों की गिनती हम नहीं रखते; मैं आज हुआ बुद्ध, तू कल हो जाएगा, क्या फर्क है? आज और कल तो सपने में हैं। आज और कल के पार जो है--शाश्वत--मैं वहां से देख रहा हूं।
फिर तो जब बुद्ध को स्वयं बुद्धत्व प्राप्त हुआ--गौतम को बुद्धत्व प्राप्त हुआ--तो पता है उन्होंने क्या कहा? उन्होंने कहा कि जिस दिन मुझे बुद्धत्व प्राप्त हुआ, उस दिन मैंने आंख खोली और तब मैं समझा उस पुराने बुद्ध की बात, ठीक ही तो कहा था, जिस दिन मुझे बुद्धत्व उपलब्ध हुआ उस दिन मैंने देखा कि सबको बुद्धत्व की अवस्था ही है--उनको पता नहीं है लोगों को, लेकिन है तो अवस्था। अब मेरे पास अंधे लोग आते हैं, लेकिन मैं जानता हूं, आंखें बंद किए बैठे हैं। आंखें उनके पास हैं--उन्हें पता न हो, उन्होंने इतने दिन तक आंखें बंद रखी हैं कि भूल ही गए हों, कभी शायद खोलीं ही नहीं, शायद बचपन से ही बंद हैं, शायद जन्मों से बंद हैं।
बुद्ध कहते हैं, अब मेरे पास कोई आता है, तो वह सोचता है कि उसे कुछ पाना है; और मैं उसके भीतर देखता हूं कि ज्योति जली ही हुई है, जरा नजर भीतर ले जानी है। जरा अपने को ही तलाशना और अपने को ही खोजना और टटोलना है।

और आखिरी प्रश्नः सत्य की खोज का अंत कहां है?

सत्य का अर्थ ही होता है, अनंत। सत्य की खोज का कोई अंत नहीं होता। सत्य की खोज का प्रारंभ तो होता है, अंत नहीं होता है। यात्रा शुरू तो होती है, पूरी नहीं होती। पूरी हो नहीं सकती। क्योंकि पूरी अगर यात्रा हो जाए, तो उसका अर्थ होगा कि सत्य भी सीमित है। तुम आ गए आखिरी सीमा पर, फिर उसके पार क्या होगा?
नहीं, सत्य असीम है। यही तो हमने बार-बार अनेक-अनेक ढंगों से कहा है-- परमात्मा अनंत है, असीम है, अपार है, उसका विस्तार है, विराट है। जैसे तुम सागर में उतर जाओ, तो सागर में उतर गए यह तो सच है, लेकिन पूरे सागर को थोड़े ही तुमने पा लिया, अभी सागर बहुत शेष है। तुम तैरते रहो, तैरते रहो, सागर शेष है, और शेष है--तुम जितना पार करते जाओ उतना पार करते जाओ, सागर शेष है। फिर सागर तो शायद चुक भी जाए--हमारे सागर बहुत बड़े हैं, लेकिन बहुत बड़े
तो नहीं, चुक ही जाएंगे; अगर कोई तैरता ही रहे, तैरता ही रहे, तो दूसरा किनारा भी आ जाएगा। परमात्मा का कोई दूसरा किनारा नहीं है। परमात्मा का कोई किनारा ही नहीं है। इसीलिए असीम कहते हैं।
सत्य असीम है, अनंत है। इसलिए सत्य की खोज का अंत! नहीं, कोई अंत नहीं होता।
इस छोटी सी घटना को समझो--
अमरीका का एक बहुत बड़ा मनीषी हुआ--जान डैबी। वह कहा करता था, जीवन जीवन में रुचि का नाम है। जिस दिन वह गयी कि जीवन भी चला गया। सत्य की खोज खोज में रुचि है। सत्य में उतना सवाल नहीं है, जितना खोज में है। मजा मंजिल का नहीं है, यात्रा का है। मजा मिलन का कम है, इंतजारी का है।
इस जान डैबी से उसकी नब्बेवीं वर्षगांठ पर बातचीत करते समय एक डाक्टर मित्र ने कहा, फिलासफी, दर्शन, दर्शन में रखा क्या है! बताइए, आप ही बताइए, दर्शन में रखा क्या है, उस डाक्टर ने पूछा! डैबी ने शांतिपूर्वक कहा, दर्शन का लाभ है, उसके अध्ययन के बाद पहाड़ों पर चढ़ाई संभव हो जाती है। डाक्टर ने समझा नहीं। फिर भी उसने कहा, अच्छा, मान लिया; मान लिया, सही कि दर्शन का यही लाभ है कि पहाड़ों पर चढ़ाई संभव हो जाती है। लेकिन पहाड़ों पर चढ़ने से कौन सा लाभ है? डैबी हंसा और बोला, लाभ यह है कि एक पहाड़ पर चढ़ने के बाद दूसरा ऐसा ही पहाड़ दिखायी पड़ना आरंभ हो जाता है कि जिस पर चढ़ना कठिन प्रतीत होता है। उसके पार होने पर तीसरा। उसके पार होने पर चौथा। और जब तक यह क्रम है और चुनौती है, तब तक जीवन है।
जिस दिन चढ़ने को कुछ शेष नहीं, आकर्षण, चुनौती नहीं, उसी दिन मृत्यु घट जाएगी। और मृत्यु नहीं है, जीवन ही है। एक पहाड़ तुम चढ़ते हो, शायद तुम इसी आशा में चढ़ते हो कि अब चढ़ गए, बस आखिरी आ गया, अब इसके पार कुछ नहीं है, अब तो

आराम करेंगे, चादर ओढ़कर सो जाएंगे। पहाड़ पर चढ़ते हो, तब पाते हो कि दूसरा पहाड़ सामने प्रतीक्षा कर रहा है। इससे भी बड़ा, इससे भी विराट, इससे भी ज्यादा स्वर्णमयी! अब फिर तुम्हारे भीतर चुनौती उठी। अब फिर तुम चले। सोचोगे कि अब इस पर पड़ाव डाल देंगे। जिस दिन शिखर पर पहुंचोगे--शिखर पर पहुंचते ही आगे का दिखायी पड़ता है, उसके पहले दिखायी नहीं पड़ता--तब दिखायी पड़ता है और बड़ा पहाड़, मणि-कांचनों से चमकता, रुकना मुश्किल है! ऐसे पहाड़ के बाद पहाड़।
सत्य की खोज अनंत खोज है। यात्रा है और ऐसी यात्रा कि कभी समाप्त नहीं होती। समाप्त नहीं होती, यह शुभ भी है। समाप्त हो जाए तो जीवन समाप्त हो गया।
हम अनंत के यात्री हैं। एस धम्मो सनंतनो।
आज इतना ही।

एस धम्मो सनंतनो, भाग 10
एक सौ दो प्रवचन

जीवन का परम सत्य: यहीं, अभी, इसी में

अप्पमादरता होथ स-चित्तमनुरक्खथ।
दुग्गा उद्धरथत्तानं पंके सत्तोव कुंजरो।। 269।।

सचे लभेथ निपकं सहायं सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा।। 270।।

नो चे लभेथ निपकं सहायं सिद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
राजाव रट्ठं विजितं पहाय एको चरे मातंगरोंंव नागो।। 271।।

एकस्स चरितं सेय्यो नत्थि बाले सहायता।
एको चरे न च पापानि कयिरा।
अप्पोस्सुक्को मातंगरोंंव नागो।। 272।।

सुखं याव जरा सीलं सुखा सद्धा पतिट्ठिता।
सुखो पांंय पटिलाभो पापानं अकरणं सुखं।। 273।।

जीवन में जो छोटी-छोटी बातों में विराट के दर्शन पा ले, वही बुद्धिमान है। जो अणु में असीम की झलक पा ले, वही बुद्धिमान है। क्षुद्र में जिसे क्षुद्रता न दिखायी पड़े, क्षुद्र में भी उसे देख ले जो सर्वात्मा है, वही बुद्धिमान है।
जीवन के सत्य कहीं दूर आकाश में नहीं छिपे हैं। जीवन के सत्य यहीं लिखे पड़े हैं चारों तरफ। पत्ते-पत्ते पर और कण-कण पर जीवन का वेद लिखा है। देखने वाली आंख हों तो वेदों में पढ़ने की जरूरत ही नहीं है, क्योंकि महावेद तुम्हारे चारों तरफ उपस्थित हुआ है। तुम्हारे ही जीवन की घटनाओं में सत्य ने हजार-हजार रंग-रूप लिए हैं। किसी अवतार के जीवन में जाने की जरूरत नहीं है। तुम्हारे भीतर भी परमात्मा अवतरित हुआ है।
अगर तुम ठीक से देखना शुरू करो--जिसे बुद्ध सम्यक-दृष्टि कहते हैं, ठीक-ठीक देखना--तो ऐसे बूंद-बूंद इकट्ठे करते-करते तुम्हारे भीतर भी अमृत का सागर इकट्ठा हो जाएगा। और बूंद-बूंद ही सागर भरता है। बूंद को इनकार मत करना, नहीं तो सागर कभी नहीं भरेगा। यह सोचकर बूंद को इनकार मत कर देना कि बूंद में क्या रखा है! हम सागर चाहते हैं, बूंद में क्या रखा है! जिसने बूंद को अस्वीकारा, वह सागर से भी वंचित रह जाएगा, क्योंकि सागर बनता बूंद से है।
जीवन के छोटे-छोटे फूलों को इकट्ठा करना ही काफी नहीं है, इन्हें बोध
के धागे में पिरोओ कि इनकी माला बने। कुछ लोग इकट्ठा भी कर लेते हैं जीवन के अनुभव को, लेकिन उस अनुभव से कुछ सीख नहीं लेते। तो ढेर लग जाता है फूलों का, लेकिन माला नहीं बनती। जब तुम्हारे जीवन के बहुत से अनुभवों को तुम एक ही धागे में पिरो देते हो, जब तुम्हारे जीवन के बहुत से अनुभव एक ही दिशा में इंगित करने लगते हैं, तब तुम्हारे जीवन में सूत्र उपलब्ध होता है।
इसलिए अगर हम बुद्ध-वचनों को सूत्र कहते हैं, तो उसका कारण है। यह अनेक अनुभवों के भीतर छिपा हुआ धागा है। यह एकाध अनुभव से निचोड़ा नहीं गया है। यह बहुत अनुभवों के फूलों को भीतर अपने में सम्हाले हुए है।
और ख्याल करना, जब माला बनती है तो फूल दिखायी पड़ते हैं, धागा नहीं दिखायी पड़ता। जो नहीं दिखायी पड़ता वही सम्हाले हुए है। वह जो अदृश्य है, उसको पकड़ लेने के कारण इन गाथाओं को सूत्र कहते हैं।
फिर माला बना लेने से भी बहुत कुछ नहीं होता। दुनिया में तीन तरह के लोग हैं। एक तो जो फूलों का ढेर लगाए जाते हैं, जो कभी माला नहीं बनाते। उनके जीवन में भी वही घटता है जो बुद्धों के जीवन में घटा। बूंदें उनके

जीवन में आती हैं, लेकिन बूंदों में उनको सागर दिखायी नहीं पड़ता। और एक-एक बूंद आती है, और बूंद के कारण वे इनकार करते चले जाते हैं। इसलिए सागर से कभी मिलन नहीं होता। दूसरे वे हैं, जो हर बूंद का सत्कार करते हैं। हर बूंद को संगृहीत करते हैं। उनको अनुभव के धागे में जोड़ते हैं। उनके जीवन में बुद्धिमत्ता पैदा होती है।
मगर एक और इससे भी ऊपर बोध है, जो बुद्धिमत्ता से भी पार है, जिसको हम प्रज्ञा कहते हैं। फूलों को इकट्ठा कर लो, ढेर लगाओ, तो भी सड़ जाएंगे। और माला बनाओ, तो भी सड़ जाएंगे। फूल क्षणभंगुर हैं। इनको सम्हालने का यह ढंग नहीं है। इनको बचाने का यह ढंग नहीं है। फूल तो समय में खिलते हैं। इनके भीतर से शाश्वत को खोजना जरूरी है। ताकि इसके पहले कि फूल कुम्हला जाएं, तुम्हारे हाथ में ऐसा इत्र आ जाए जो कभी नहीं कुम्हलाता।
फूलों को संगृहीत करने से कुछ लाभ नहीं--ढेर लगाने से तो जरा भी लाभ नहीं है, नुकसान ही है, क्योंकि जिनसे आज गंध उठ रही है, उन्हीं से कल दुर्गंध उठने लगेगी। फूल अगर इकट्ठे किए तो सड़ेंगे। यहां हर चीज सड़ती है। इसलिए बुद्धिमान आदमी फूल इकट्ठे नहीं करता। इसके पहले कि फूल सड़ जाएं, उनकी माला बनाता है। लेकिन मालाएं भी इकट्ठी नहीं करता, इसके पहले कि मालाएं सड़ जाएं, उनसे इत्र निचोड़ता है। इत्र निचोड़ने का अर्थ होता है, असार-असार को अलग कर दिया, सार-सार को सम्हाल लिया। हजारों फूलों से थोड़ा सा इत्र निकलता है। फिर फूल कुम्हलाते हैं, इत्र कभी नहीं कुम्हलाता। फिर फूल समय के भीतर पैदा हुए, समय के भीतर ही समा जाते हैं, इत्र शाश्वत में समा जाता है। इत्र शाश्वत है। एस धम्मो सनंतनो।
जीवन के छोटे-छोटे अनुभव के फूल, इनसे जब तुम असार को छांट देते हो और सार को इकट्ठा कर लेते हो, तो तुम्हारे हाथ में धर्म उपलब्ध होता है-- शाश्वत धर्म, सनातन धर्म। तुम्हारे हाथ में जीवन का परम नियम आ जाता है। मूढ़ ढेर लगाता है, बुद्धिमान माला बनाता है, और जिसे बुद्धत्व की कला
आ गयी--प्रज्ञावान--असार को छोड़ देता है, सार को इकट्ठा कर लेता है। दृश्य को पकड़ता नहीं, अदृश्य को पकड़ लेता। देखता, फूल में गंध का सूत्र क्या है, उसी को बचा लेता। और बहुत कुछ है, उसका कोई मूल्य नहीं है। हजारों फूल में बूंदभर इत्र निकलता है, लेकिन वही इत्र फूलों की गंध था। फूलों में तो कुछ भी न था, वही इत्र हजारों में फैला था तो गंध बनी थी, उसे निचोड़ लिया। समय के भीतर से शाश्वत को निचोड़ लिया। यही इत्र निर्वाण है। यही इत्र मुक्तिदायी है। यही तुम्हारे जीवन को परम सुगंध से भर जाता है।
ये जो बुद्ध की छोटी-छोटी कहानियां मैं तुमसे कह रहा हूं, इसे इस नजर
से देखना। छोटी-छोटी घटनाएं हैं, तुम्हारे जीवन में भी घटती हैं, सबके जीवन में घटती हैं। जीवन घटनाओं का जोड़ है। घटनाएं ही घटनाएं हैं, रोज घट रही हैं। तुम भी इन्हीं घटनाओं के भीतर से गुजरते हो--सुबह-सांझ; दफ्तर में, बाजार में, घर में, खेत में, खलिहान में; भीड़ में, अकेले में; यही घटनाएं घट रही हैं--लेकिन तुम अभी तक इनसे इत्र निचोड़ने की कला नहीं सीख पाए। या तो तुमने घटनाओं के ढेर लगा लिए हैं, उनसे सिर्फ बोझ बढ़ जाता है। और फिर घटनाएं सड़ जाएंगी और दुर्गंध देंगी। और अतीत सड़ा हुआ तुम्हारे पीछे लगा रहता है, मरा हुआ अतीत तुम्हारे सिर पर सवार रहता है, वह तुम्हें ठीक से जीने भी नहीं देता। तुम जीओगे कैसे, तुम्हारा मरा हुआ अतीत, जो भूत हो गया अब, वह तुम्हारी छाती पर चढ़ा हुआ है, वह तुम्हें जीने नहीं देता। तो बजाय इसके कि तुमने अतीत से इत्र निचोड़ा होता, अतीत की प्रेतात्माएं तुम्हारे जीवन में अड़चन डालती हैं, उठने-बैठने में सब तरफ से परतंत्रता बन जाती है। उन्हीं अड़चनों का नाम संसार है। तुम्हारा अतीत ही तुम्हारा संसार है। और वही अतीत तुम्हारे भविष्य को उकसाता है। मुर्दा अतीत फिर से दोहरना चाहता है, फिर से पैदा होना चाहता है, तो जिन वासनाओं के कारण तुम अतीत में कुछ घटनाओं में गुजरे, उन्हीं में तुम भविष्य में भी गुजरोगे। तुम्हारा आने वाला कल करीब-करीब तुम्हारे बीते कल की ही पुनरुक्ति होगी।
फिर जीने में कुछ अर्थ नहीं है। कल तो बीत चुका, उससे कुछ पाना होता तो
पा लिया होता, उसी को कल फिर दोहराओगे--न उससे मिला कुछ, न आगे कुछ मिलेगा।

ऐसे खाली के खाली आते और खाली के खाली चले जाते; भिक्षापात्र तुम्हारा कभी भरता नहीं, तुम्हारा भिखमंगापन कभी मिटता नहीं।
जीवन के वे ही अनुभव जो तुम बुद्ध की इन कहानियों में देख रहे हो, तुम्हारे पास से गुजरते हैं, कभी-कभी तुम्हें भी लगा होगा कि ये कहानियां कोई बहुत ऐसी तो नहीं हैं कि दूर आकाश की हों, यहीं पृथ्वी की हैं। लेकिन बुद्ध की कला क्या है? वे तत्क्षण एक छोटी सी घटना को पकड़ते हैं, उसमें से इत्र निचोड़ लेते हैं। और इत्र जब तुम देखते हो, तब तुम चकित हो जाते हो। आज का सूत्र-संदर्भ--

कौशल-नरेश के पास बद्धरेक नाम का एक महाबलवान हाथी था। उसके बल और पराक्रम की कहानियां दूर-दूर तक फैली थीं। लोग कहते थे कि युद्ध में उस जैसा कुशल हाथी कभी देखा ही नहीं गया था। बड़े-बड़े सम्राट उस हाथी को खरीदना चाहते थे, पाना चाहते थे। बड़ों की नजरें लगी थीं उस हाथी पर। वह अपूर्व योद्धा था हाथी। युद्ध से कभी किसी ने उसको भागते नहीं देखा। कितना ही भयानक संघर्ष हो, कितने ही तीर उस पर बरस रहे हों, और भाले फेंके जा रहे हों, वह अडिग चट्टान की तरह खड़ा रहता था। उसकी चिंघाड़ भी ऐसी थी कि दुश्मनों के दिल बैठ जाते थे। उसने अपने मालिक कौशल के राजा की बड़ी सेवा की थी। अनेक युद्धों में जिताया था।
लेकिन, फिर वह वृद्ध हुआ और एक दिन तालाब की कीचड़ में फंस गया। बुढ़ापे
ने उसे इतना दुर्बल कर दिया था कि वह कीचड़ से अपने को निकाल न पाए। उसने बहुत प्रयास किए, लेकिन कीचड़ से अपने को न निकाल सका सो न निकाल सका। राजा के सेवकों ने भी बहुत चेष्टा की, पर सब असफल गया।
उस प्रसिद्ध हाथी की ऐसी दुर्दशा देख सभी दुखी हुए। तालाब पर बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी। वह हाथी पूरी राजधानी का चहेता था। गांवभर में उसके प्रेमी थे, बाल-वृद्ध सभी उसे चाहते थे। उसकी आंखों और उसके व्यवहार से सदा ही बुद्धिमानी परिलक्षित होती थी।
राजा ने अनेक महावत भेजे, पर वे भी हार गए। कोई उपाय ही न दिखायी देता था। तब राजा स्वयं गया। वह भी अपने पुराने सेवक को इस भांति दुख में पड़ा देख बहुत दुखी था। राजा को आया देख तो सारी राजधानी तालाब पर इकट्ठी हो गयी।
फिर राजा को बद्धरेक के पुराने महावत की याद आयी। वह भी अब वृद्ध हो गया था। राज्य की सेवा से निवृत्त हो गया था और निवृत्त होकर भगवान बुद्ध के उपदेशों में डूबा रहता था। उसके प्र्रति भी राजा के मन में बहुत सन्मान था। सोचा, शायद वह बूढ़ा महावत ही कुछ कर सके। जन्म-जन्म का जैसे इन दोनों का साथ था--इस हाथी का और महावत का। बुद्ध ने अपनी कहानियों में कहा भी है कि तू इस बार ही इस हाथी के साथ नहीं है, पहले भी रहा है। यहां सब जीवन जुड़ा हुआ है। फिर इस जीवन तो पूरे जीवन वह हाथी के साथ रहा था। हाथी उसी के साथ बड़ा हुआ था, उसी के साथ जवान हुआ था, उसी के साथ बूढ़ा हो गया था। हाथी को हर हालत में देखा था--शांति में और युद्ध में, और हाथी की रग-रग से परिचित था। राजा को याद आयी, शायद वह बूढ़ा महावत ही कुछ कर सके।
उसे खबर दी गयी। वह बूढ़ा महावत आया। उसने अपने पुराने अपूर्व हाथी को कीचड़ में फंसे देखा। वह हंसा, खिलखिलाकर हंसा और उसने किनारे से संग्राम-भेरी बजवायी। युद्ध के नगाड़ों की आवाज सुन जैसे अचानक बूढ़ा हाथी जवान हो गया और कीचड़ से उठकर किनारे पर आ गया। वह जैसे भूल ही गया अपनी वृद्धावस्था और अपनी कमजोरी। उसका सोया योद्धा जाग उठा और यह चुनौती काम कर गयी। फिर उसे क्षण भी देर न लगी।
अनेक उपाय हार गए थे, लेकिन यह संग्राम-भेरी, ये बजते हुए नगाड़े, उसका सोया हुआ शौर्य जाग उठा। उसका शिथिल पड़ गया खून फिर दौड़ने लगा। वह भूल गया एक क्षण को--यादें आ गयी होंगी पुरानी--फिर जवान हो उठा।
क्षण की भी देर न लगी--सुबह से सांझ हुई जा रही थी, सब उपाय हार गए थे--
और वह ऐसी मस्ती और ऐसी सरलता और सहजता से बाहर आया कि जैसे न वहां कोई कीचड़ हो और न वह कभी फंसा ही था। किनारे पर आकर वह हर्षोन्माद में ऐसे

चिंघाड़ा जैसा कि वर्षों से लोगों ने उसकी चिंघाड़ सुनी ही नहीं थी। वह हाथी बड़ा आत्मवान था। वह हाथी संकल्प का मूर्तरूप था।
भगवान के बहुत से भिक्षु भी उस बूढ़े महावत के साथ यह देखने तालाब के किनारे पहुंच गए थे। उन्होंने सारी घटना भगवान को आकर सुनायी। और जानते हैं भगवान ने उनसे क्या कहा?
भगवान ने कहा--भिक्षुओ, उस अपूर्व हाथी से कुछ सीखो। उसने तो कीचड़ से अपना उद्धार कर लिया, तुम कब तक कीचड़ में फंसे रहोगे? और देखते नहीं कि मैं कब से संग्राम-भेरी बजा रहा हूं? भिक्षुओ, जागो और जगाओ अपने संकल्प को। वह हाथी भी कर सका। वह अति दुर्बल बूढ़ा हाथी भी कर सका। क्या तुम न कर सकोगे? मनुष्य होकर, सबल होकर, बुद्धिमान होकर क्या तुम न कर सकोगे? क्या तुम उस हाथी से भी गए-बीते हो? चुनौती लो उस हाथी से, तुम भी आत्मवान बनो और एक क्षण में ही क्रांति घट सकती है। एक क्षण में ही। एक पल में ही। स्मरण आ जाए, भीतर जो सोया है जग जाए, तो न कोई दुर्बलता है, न कोई दीनता है। स्मरण आ जाए, तो न कोई कीचड़ है, न तुम कभी फंसे थे, ऐसे बाहर हो जाओगे। भिक्षुओ, अपनी शक्ति पर श्रद्धा चाहिए। त्वरा चाहिए भिक्षुओ, तेजी चाहिए। एक क्षण में काम हो जाता है, वर्षों का सवाल नहीं है। लेकिन सारी शक्ति एक क्षण में इकट्ठी लग जाए, समग्रता से, पूर्णरूपेण।
और बुद्ध ने फिर कहा--और सुनते नहीं, मैं संग्राम-भेरी कब से बजा रहा हूं? तभी उन्होंने ये गाथाएं कही थीं।
यह छोटी सी घटना, रोज ऐसी घटनाएं घटती हैं, लेकिन बुद्ध ने बड़ा इत्र खींचा। बड़ा इत्र निचोड़ा! पहले तो इस छोटी सी कहानी को ठीक-ठीक हृदयंगम हो जाने दें।
यह हाथी साधारण हाथी न था। महाबलवान था। तो ख्याल रखना, महाबलवान की
भी ऐसी दशा हो जाती है। इसलिए बल से कभी धोखा मत खाना। आज बलवान हो, कल निर्बल हो जाओगे। आज बड़ी शक्ति है, कल सब शक्ति क्षीण हो जाएगी। आज जवान हो, कल बूढ़े हो जाओगे।
एक बूढ़ा आदमी रास्ते से जा रहा था। बुद्ध एक वृक्ष के नीचे बैठे थे।
उस बूढ़े के जर्जर शरीर को, उसके कंपते हाथ को, पैर को देखकर एक भिक्षु हंसने लगा--जवान था अभी। बुद्ध ने कहा--भिक्षुओ, हंसो मत, नहीं तो लोग फिर तुम पर हंसेंगे। यही दशा तुम्हारी हो जाएगी, यह तुम्हारा भविष्य है। इस बूढ़े को इस भांति चलते देखकर हंसो मत। इसके पहले कि यह दशा तुम्हारी हो जाए, कुछ कर लो।
हंसी में तो कहीं यह भाव छिपा ही है कि यह मेरे साथ कभी नहीं होगा। देखते नहीं, किसी को हारा देखते हो, तुम हंसते हो। तुम यह कभी सोचते नहीं कि जो हार आज इस आदमी की हो गयी, कल यह भी जीता हुआ था। आज जो चारों खाने चित्त पड़ा है, कल न मालूम कितने लोगों को इसने चारों खाने चित्त किया था। तुम आज हो सकता है किसी की छाती पर बैठे हो, यह सदा रहेगी नहीं बात। यहां सदा कुछ भी नहीं रहता, यहां चीजें रोज बदलती हैं, प्रतिपल बदलती हैं। आज जो शक्ति में है, कल शक्तिहीन हो जाता है। आज जो सत्ता में है, कल सत्ता के बाहर हो जाता है। और मजा यह है इस दुनिया का, अंधापन ऐसा है कि जो भी सत्ता में आता है वह यही सोचता है कि अब आ गया, अब कभी बाहर नहीं होना है। इतने लोगों को बाहर जाते देखता है, फिर भी यह चूक बनी ही रहती है।
तुम आज जवान हो, कल बूढ़े हो जाओगे। और यह मत सोचना कि तुम्हारे साथ जगत
का नियम कोई अपवाद का व्यवहार करेगा। यहां अपवाद होता ही नहीं। जगत के नियम निरपवाद हैं। आज जीते हो, कल मरोगे। अर्थी देखकर दया मत खाना, क्योंकि वह अर्थी तुम्हारी ही है। अर्थी देखकर जागो, दया खाने से क्या होगा? यह मत कहो कि बेचारा मर गया! जब तुम कहते हो कि बेचारा मर गया, तो उसमें कहीं यह भाव छिपा ही होता है कि हम भले, अभी तो नहीं मरे; कहीं दूर यह ध्वनि होती है कि हमको नहीं मरना है, यह बेचारा मर गया!
तुम्हें अपने बेचारेपन की याद आती है जब कोई मरता है? अगर नहीं याद आती, तो तुम फूलों की ढेरी लगा रहे हो, माला नहीं बना रहे। नहीं तो हर रोज जो अर्थी तुम्हारे द्वार के बाहर से निकलती, उसका हर फूल तुम्हारी माला

में सजता जाए। और इसके पहले कि मौत आए, मौत तुम्हारे सामने साक्षात हो जाए। उसी मौत के साक्षात्कार से संन्यास का जन्म होता है।
बुद्ध ने कहा है, जिसने मृत्यु को देख लिया, वह संन्यस्त न हो, यह कैसे संभव है? संन्यास का अर्थ इतना ही है कि मौत तुम से जो छीन लेगी, हम उसे स्वेच्छा से दे देते हैं। हम कहते हैं, ठीक है, यह छिन ही जाने वाला है, इसको पकड़ रखने में व्यर्थ परेशानी क्यों लेनी? पहले पकड़ने की परेशानी लो, फिर छीने जाने का दुख भोगो, हम अपनी मौज से दे देते हैं! हम दान कर देते हैं। हम त्याग कर देते हैं। मौत जब ले ही जाएगी तो मौत को यह अवसर क्यों दें? हम अपनी ही मर्जी से दे डालें। संन्यास का इतना ही अर्थ होता है कि जो मौत करेगी, वह हम खुद ही कर देते हैं, ताकि मौत को झंझट बचे। मौत को मेहनत क्यों करवाएं?
और ख्याल रखना, बड़ा क्रांतिकारी फर्क है। जो आदमी गृहस्थ की तरह मरता
है वह रोते-झींखते मरता है, क्योंकि उसका सब छीना जा रहा है। उसने जो-जो अपना माना था, सब हाथ से खिसका जा रहा है। और जो व्यक्ति संन्यस्त की तरह मरता है, वह अपूर्व आनंद से मरता है। उसके पास छीने जाने को कुछ भी नहीं, उससे कोई कुछ भी नहीं छीन सकता। उसने तो वह सब पहले ही मान लिया था कि मेरा नहीं है, जो मौत छीन लेगी। जो मौत छीन लेगी, वह मेरा नहीं है। यही तो कसौटी है मेरे होने की। मेरा वही है जो मौत नहीं छीन पाएगी।
उसने तो वही बचाया जो मौत नहीं छीन पाएगी। उसने ध्यान बचाया, धन नहीं बचाया। उसने प्रेम बचाया, पद नहीं बचाया। उसने प्रार्थना बचायी, पूजा बचायी, अर्चना बचायी, उसने प्रभु-स्मरण बचाया, उसने समाज की प्रतिष्ठा और सम्मान और आदर और कूड़ा-करकट नहीं बचाया, क्योंकि वह तो सब मौत छीन लेती। जो मौत छीन लेती है, उसने बचाया ही नहीं। उसने वही बचाया, जिस पर मौत का कोई बस नहीं है।
मौत शरीर को तो मार देती है, इसलिए उसने शरीर से मोह न रखा। न हन्यते हन्यमाने शरीरे, उसने तो उसकी तरफ देखा जो शरीर के मारे जाने से भी नहीं मरता। उसने तो प्रेम उससे जोड़ा, उसने तो चाहत उसकी की, जो शरीर के छूट जाने पर भी नहीं छूटता। उसने मिट्टी के दीयों में आसक्ति नहीं लगायी, उसने तो ज्योति में आसक्ति बांधी--जो सदा रहेगी, सदा थी। उसने समय के भीतर शाश्वत को निचोड़ा। उसने फूल नहीं पकड़े, उसने इत्र; उसने जल्दी-जल्दी इत्र निचोड़ा। इत्र साथ जाएगा, फूल यहीं पड़े रह जाते हैं। ध्यान साथ जाएगा, धन यहीं पड़ा रह जाता है। उसने सिकंदर नहीं बनना चाहा, उसने बुद्ध बनना चाहा, महावीर बनना चाहा, कृष्ण बनना चाहा। उसने चाहत विराट की की। संन्यास का इतना ही अर्थ होता है।
उसने देख लिया लोगों को बूढ़ा होते। अगर जवान आदमी के पास दृष्टि हो,
तो वह यह देखकर कि कोई बूढ़ा हो रहा है, समझ लेगा कि मुझे बूढ़ा होना है; इसलिए अभी से सोचकर चलो। अभी से इस हिसाब से चलो कि यह बुढ़ापा आए भी तो मुझसे कुछ छीन न पाए। जिसने होश से देखा, वह मुर्दा को देखकर जान लेता है कि मेरी भी मौत आ रही है--चल पड़ी है, आती ही होगी, आज-कल की बात है, समय, थोड़ा देर-अबेर की बात है, आती ही होगी--इसकी आ गयी, मेरी भी आती होगी; तो इसके पहले मैं घर तैयार कर लूं। मैं कुछ ऐसा बना लूं जो मौत मुझसे नहीं छीन पाएगी।
तो बुद्ध ने उस हंसते भिक्षु को कहा--मत हंस, भिक्षु, तू भी ऐसा ही बूढ़ा
हो जाएगा।
च्वांग्त्सू निकलता था एक मरघट से। एक खोपड़ी पड़ी थी, उसका पैर लग गया-- सुबह थी, धुंधलका था, अभी रोशनी हुई नहीं थी, सूरज निकला नहीं था--उसने झुककर प्रणाम किया उस खोपड़ी को, साष्टांग लेटकर नमस्कार किया। उसके शिष्यों ने कहा, आप यह क्या करते हैं? इस खोप.ड़ी को नमस्कार कर रहे हैं! उसने कहा, ऐसी ही मेरी खोपड़ी पड़ी रहेगी, लोगों के पैर लगेंगे, मैं इसको नमस्कार कर रहा हूं, इसने मुझे याद दिला दी कि अपनी क्या दशा हो जाएगी। इसने मुझे बड़ा बोध दिया, इसलिए धन्यवाद दे रहा हूं।
और फिर ख्याल रखो, उसने अपने शिष्यों से कहा, यह खोपड़ी किसी साधारण आदमी की खोपड़ी नहीं--क्योंकि वह मरघट बड़े लोगों का मरघट था, जैसे दिल्ली

में राजघाट, ऐसा बड़ा मरघट था, वहां खास-खास लोग ही दफनाए जाते थे--तो उसने कहा, यह कोई छोटे-मोटे आदमी की खोपड़ी नहीं है, अगर यह जिंदा होता और इसके सिर में पैर लग गया होता, तो आज अपनी खैर नहीं थी! यह बड़ों की यह हालत हो गयी, तो च्वांग्त्सू ने कहा, मैं फकीर, मेरी क्या हालत होगी, जरा सोचो तो! उसने खोपड़ी उठा ही ली। उसने फिर जिंदगीभर खोपड़ी को साथ रखा। वह जहां जाता खोपड़ी को अपने पास रखता। लोग जरा पूछते भी कि यह खोपड़ी किसलिए लिए फिरते हैं, यह जरा अच्छी नहीं मालूम होती, देखकर भय भी लगता है, वीभत्स है! वह कहता कि यही अपनी हालत हो जाएगी, इसको देखकर अपनी याद बनी रहती है। इसको देखकर चलने लगा हूं, यह मेरी गुरु हो गयी है।
ऐसी छोटी-छोटी घटनाओं से जो निचोड़ता चले इत्र को, वही ज्ञानवान है।
वह हाथी बूढ़ा हो गया था। सबको बूढ़ा हो जाना है। महाबलवान ठीक निर्बल दशा में पहुंच जाते हैं। महाधनवान ठीक दीन दशा में पहुंच जाते हैं। बड़े शक्तिशाली ऐसी शक्ति खो देते हैं कि तुम्हें भरोसा ही न आए।
नेपोलियन जब हार गया और उसे सेंट हेलेना के द्वीप में कैद कर दिया गया, तो एक सुबह वह घूमने निकला है। छोटा सा द्वीप है जहां उसे कैद किया गया, द्वीप से भाग भी नहीं सकता, इसलिए उसे द्वीप पर घूमने-फिरने की सुविधा है। एक घसियारिन घास की एक गठरी सिर पर लिए हुए आ रही थी। पगडंडी है छोटी, और नेपोलियन का डाक्टर उसके साथ है--सम्राट था नेपोलियन, कैद में था तो भी डाक्टर उसको दिया गया था जो उसके साथ रहे, उसकी तीमारदारी करे--डाक्टर ने घसियारिन को आते देखा तो वह चिल्लाया कि ओ घसियारिन! रास्ता छोड़! देखती नहीं कौन आ रहा है? लेकिन नेपोलियन ने उसका हाथ पकड़ा और कहा, क्षमा करें, डाक्टर, तुम्हें होश नहीं है, वे दिन गए। हम रास्ता छोड़ दें। वे दिन गए जब मैं आल्प्स पर्वत से कहता कि हट जा, तो आल्प्स पर्वत भी मेरा रास्ता छोड़ देता। आज घसियारिन भी मेरा रास्ता क्यों छोड़े? आज कोई कारण नहीं है। और नेपोलियन किनारे हटकर खड़ा हो गया, घसियारिन को रास्ता दे दिया।
समझदार आदमी रहा होगा। ऐसी दशा हो जाती है कि जिनके लिए हिमालय रास्ता दे देता, उनके लिए घास वाली भी शायद रास्ता न दे। और यह दशा सब की हो जाती है। यह दशा होनी ही है। यहां कुछ भी थिर नहीं है। इसलिए यहां जिसने थिरता का बोध बनाया, वह नासमझ है।
तो पहली तो बात, वह महाशक्तिवान हाथी, जिसकी कहानियां दूर-दूर तक फैली थीं, बूढ़ा हो गया था। और एक दिन तालाब की कीचड़ में फंस गया। जो युद्धों में नहीं फंसा था कभी, जिसको फंसाने के लिए न मालूम कितने शड्यंत्र और जाल किए गए थे, न मालूम कितने व्यूह रचे गए थे कि मार डाला जाए--क्योंकि वह कौशल-नरेश की ताकत था, उसकी वजह से कौशल-नरेश जीते थे युद्धों में--जो हाथी सैकड़ों हाथियों के बीच भी घिरकर फंसा नहीं था कभी, वह आज एक साधारण से तालाब की गंदी कीचड़ में फंस गया है। हाथी फंसाने को आए थे, तो न फंसा पाए थे, आज कीचड़ फंसाने को उत्सुक भी नहीं है, कीचड़ को कुछ लेना-देना भी नहीं है और फंस गया है। ऐसी दीन दशा हो जाती है। सभी की हो जाती है।
तुम्हारा मन तुमसे कहेगा--नहीं, अपनी नहीं होगी। सावधान रहना। मन की सुनना मत, मन सभी से ऐसा कहता है। मन सभी को ऐसा धोखा देता है। मन मूढ़ता का सूत्र है। मन की जिसने सुनी, वह मूढ़ रह गया। मन की जिसने मानी, वह कभी जान नहीं पाया। मन न जानने की दिशा में ले जाता है। मन आंखों को धुएं से भरता है। मन यही कहेगा कि ठीक है, हो गया होगा कमजोर, लेकिन हम विटामिन लेंगे, इंजेक्शन लेंगे, दवा जारी रखेंगे, डाक्टर हैं, अब तो मेडिकल साइंस इतनी बढ़ गयी, अब कोई ऐसा दुर्बल होने की जरूरत है!
कितनी ही मेडिकल साइंस बढ़े और कितने ही तुम विटामिन लो और कितनी ही दवाइयां पीते रहो और कितने ही टानिक खाते रहो, कुछ फर्क न पड़ेगा, देर-अबेर तुम ऐसे ही कमजोर हो जाओगे! कमजोर हो जाना ही पड़ेगा, क्योंकि जो शक्ति दी गयी है, वह क्षणभंगुर है। वह विदा होगी। दो-चार साल आगे कि पीछे, उससे कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। आखिरी हिसाब में उससे कुछ अंतर नहीं आता है।
आज कीचड़ में फंस गया है वह महाबलवान हाथी। बुढ़ापे ने उसे अति दुर्बल
कर दिया है। उसने बहुत प्रयास किए, लेकिन कीचड़ से अपने को न निकाल सका सो न निकाल सका।

उसकी पीड़ा समझो। और ख्याल रखना, अगर यह जवान होता हाथी तो यह कीचड़ से अपने को निकाल लेता। इसमें एक बात और, बात में बात छिपी है--
जब तक तुम जवान हो, तब तक संसार से निकलना आसान है। जब बूढ़े हो जाओगे,
तो कीचड़ से निकलना मुश्किल हो जाएगा। आमतौर से लोग उलटा तर्क लिए बैठे हैं। लोग सोचते हैं, बूढ़े जब हो जाएंगे तब राम-नाम जप लेंगे, अभी क्या जल्दी है? बूढ़े जब हो जाएंगे, तब संन्यास ले लेंगे, अभी क्या जल्दी है? अभी तो जवान हैं! अभी तो जिंदगी है! अभी तो राग-रंग है! अभी तो भोग लें। जब मौत करीब आने लगेगी और हाथ-पैर जर्जर होने लगेंगे और जरा द्वार खटखटाने लगेगी, तब हो जाएंगे, संन्यस्त हो जाएंगे।
मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि आप जवान आदमी को संन्यास दे देते हैं! संन्यास तो बूढ़ों के लिए है।
किसने तुमसे कहा? तुम्हारे मन ने कहा होगा। अगर मन की सुनो तो मन तो यह कहता है कि संन्यास मुर्दों के लिए है। बूढ़ों के लिए भी नहीं, मन कहता है, जब अर्थी पर चढ़ जाओ तब ले लेना संन्यास।
एक स्त्री मेरे पास आती थी। सामाजिक कार्यकर्त्री थी, बंबई में उसका बड़ा नाम था। वह संन्यास लेना चाहती थी। उम्र उसकी थी कोई पैंसठ साल, मगर वह कहती थी, अभी? स्त्रियां तो पैंसठ साल में भी शायद अपने को जवान ही समझती हैं। स्त्रियां तो बूढ़ी होतीं ही नहीं। हो जाएं तो भी नहीं होतीं। मानती नहीं।
कोई किसी से पूछ रहा था अमरीका में कि स्त्री अमरीका की प्रेसीडेंट क्यों नहीं हो सकती? तो उन्होंने कहा, कठिनाई है, क्योंकि प्रेसीडेंट को कम से कम चालीस साल के ऊपर होना चाहिए। कोई स्त्री चालीस साल के ऊपर होती ही नहीं।
मैं उस वृद्धा को कहा कि अब और कब? पैंसठ साल की तू हो गयी! उसने कहा, हां, हो गयी, लेकिन अभी मैं मजबूत हूं और कमजोर भी नहीं हूं, आप देखते नहीं? अभी तो पच्चीस साल जिंदा रहूंगी कम से कम। मैंने कहा, आदमी जवानी में भी मर जाता है, आदमी बचपन में भी मर जाता है, तू पैंसठ साल के बाद भी यह सपना सम्हाले हुए है?
और संयोग की बात कि दूसरे दिन वह मुझे मिलने ही आ रही थी और एक कार से टकरा गयी। मैं उसके लिए राह ही देख रहा था, वह तो नहीं आयी, उसके बेटे की खबर आयी अस्पताल से कि हालत बहुत खराब है। और चौबीस घंटे बाद वह मर गयी। मरते वक्त बेटे को कह गयी कि कुछ भी हो, मुझे संन्यास तो दिलवा ही देना। मरते वक्त! बेटा भागा हुआ आया, कहने लगा, मां तो चल बसी, लेकिन वह कह गयी है कि गैरिक वस्त्र पहनवा देना, माला गले में डलवा देना। मैंने कहा, तुम्हारी मर्जी! तो माला यह रही, ले जाओ, अब मरे हुए आदमी की बात को क्यों इनकारना, मगर इसका कोई मूल्य नहीं है!
संन्यास मरकर लिया! लेकिन अधिकतर लोगों का तर्क यही है कि जब मरने के करीब आ जाएंगे, तब, तब फिकर कर लेंगे।
इस छोटी सी बात में यह ख्याल रखना। अगर यह हाथी जवान होता और कीचड़ में फंसा होता तो सहजता से निकल आया होता। क्योंकि जो ऊर्जा संसार में काम आती है, वही ऊर्जा संन्यास में भी काम आती है। ऊर्जा तो वही है।
अक्सर लोग सोचते हैं कि जवानी में तो बड़ी कठिनाई होगी, क्योंकि वासना प्रबल होगी। माना, जवानी में वासना प्रबल होती है, लेकिन वासना से छूटने की शक्ति भी उतनी ही प्रबल होती है। बुढ़ापे में एक बड़ी दुर्घटना घट जाती है। वासना से छूटने की शक्ति तो निर्बल हो जाती है और वासना उतनी की उतनी प्रबल रहती है। वासना कभी छोटी होती नहीं, निर्बल होती ही नहीं। बूढ़े से बूढ़े आदमी के भीतर वासना वैसी ही जलती है, जैसे जवान आदमी के भीतर जलती है। उसका शरीर साथ नहीं देता, उसकी शक्ति साथ नहीं देती, लेकिन भीतर वासना वैसी ही जलती है। वासना में कभी बुढ़ापा नहीं आता। वासना बूढ़ी होती ही नहीं। ऊर्जा जवान होती है, ऊर्जा बूढ़ी होती है, वासना सदा जवान रहती है। तो जब ऊर्जा भी जवान हो, तब चाहे वासना से बाहर निकल आओ तो निकल आओ। जब ऊर्जा बूढ़ी हो जाए और वासना तो जवान रहेगी ही, तब निकलना बहुत मुश्किल हो जाएगा।

इसलिए बुद्ध और महावीर ने एक महाक्रांति इस देश में की। ब्राह्मणों
की संस्कृति में बूढ़े के संन्यास की व्यवस्था थी--पचहत्तर साल के बाद। एक तो पचहत्तर साल के बाद कोई बचता नहीं, कोई भूल-चूक से बच गए, तो संन्यस्त हो जाएंगे। संन्यास तब लेने की व्यवस्था थी जब संसार तुम्हें खुद ही छोड़ दे, जब संसार खुद ही तैयारी करने लगे कि तुम्हें जाकर कबाड़खाने में कहीं फेंक आए, किसी अस्पताल में डाल दें, कि किसी वृद्धाश्रम में भरती करवा दें। जब किसी कबाड़खाने में फेंकने की संसार की ही इच्छा हो जाए, जब तुम्हारे बेटे ही सोचने लगें कि अब जाओ भी, अब बहुत हो गया, अब और न सताओ, तब संन्यास ले लेना। पचहत्तर साल! सौ साल का हिसाब बांधकर रखा था।
सौ साल कोई भी कभी जीता नहीं। उन दिनों में भी नहीं जीते थे लोग। वह सिर्फ आशा है। कभी-कभी, कभी-कभार कोई आदमी सौ साल जीआ है। आज भी नहीं जीता, उन दिनों का तो सवाल ही नहीं है। उन दिनों की जितनी खोजबीन की गयी है-- किताबों को छोड़ दो--जो अस्थि-पंजर मिले हैं सारी दुनिया पर, वह इस बात के सबूत हैं कि चालीस साल से ज्यादा, पचास साल से ज्यादा उन दिनों आदमी जीआ ही नहीं। वह शतायु होने की तो कामना थी। आशीर्वाद था कि सौ वर्ष जीओ। वह कुछ होता नहीं था। लेकिन उस कामना पर यह सारा का सारा शास्त्र निर्मित हुआ था। पच्चीस साल तक ब्रह्मचर्य, पचास साल तक गृहस्थ, पचहत्तर साल तक वानप्रस्थ, फिर पचहत्तर साल से सौ साल तक संन्यास। वह संन्यास घटता नहीं था। या कभी- कभी घटता था, कुछ लोग जो शतजीवी होते थे।
इसलिए बुद्ध और महावीर ने तो एक महाक्रांति का सूत्रपात किया।
उन्होंने इस पूरे गणित को बदला। उन्होंने कहा, संन्यास तो जवान की बात है।
जब ऊर्जा प्रखर है, जब ऊर्जा जलती है लपट के साथ, वासना भी तेज है, जीवन की ऊर्जा भी तेज है, फंसने का डर भी है, निकलने की शक्ति भी है, तभी निकल जाना।
क्योंकि पीछे शक्ति तो कम होती जाएगी और कीचड़ वैसी की वैसी रहेगी।
इस तालाब में कीचड़ तब भी थी, जब यह हाथी जवान था। अब हाथी तो बूढ़ा हो गया, तालाब की कीचड़ अब भी वैसी की वैसी है। कीचड़ में कोई फर्क नहीं पड़ रहा है। वासना की कीचड़ सदा वैसी की वैसी रहती है। शायद कभी जवानी में इस तालाब पर स्नान करने आया भी हो--आया ही होगा, नहीं तो बुढ़ापे में क्यों आता? हम उसी तालाब पर तो जाते हैं, जिसमें जवानी में भी गए हों। जहां जवानी में गए हैं, वहीं तो हम बुढ़ापे में भी जाते हैं--आदत, पुराने संस्कार! इसी तालाब पर नहाता रहा होगा। हालांकि कोई कहानी नहीं है इसके फंसने की, क्योंकि तब जवान था, निकल-निकल गया होगा। अब बूढ़ा हो गया है, कीचड़ तो वैसी की वैसी है, लेकिन अब निकलने की शक्ति क्षीण हो गयी है।
इसके पहले कि बुढ़ापा तुम्हें दीन-दुर्बल कर जाए, अपनी ऊर्जा को ध्यान में उंडेल देना। इसके पहले कि मौत तुम्हारी छाती पर बैठने लगे, तुम समाधि को निमंत्रण दे देना। इसके पहले कि संसार तुम्हें फेंकने लगे, तुम संन्यास की दुनिया में प्रवेश कर जाना। यह अपमानजनक है कि संसार तुम्हें फेंके, यह सम्मानजनक है कि तुम संसार को कहो कि मैंने हाथ अलग कर लिए। इसमें बड़ा सम्मान है।
इसीलिए हमने संन्यासी को इतना सम्मान दिया। सम्मान का कारण क्या है, कोई पूछे! कारण यही है कि जिसको हम मरते दम तक नहीं छोड़ पाते, उसे संन्यासी ने जीते जी, जीवन की परम शक्ति के क्षणों में भी छोड़ दिया। जिसमें हम फंसे ही रहते हैं, उससे संन्यासी ने मुंह मोड़ लिया।
वासना की कीचड़ से तभी अलग हो जाना, जब तुम्हारे पास धमनियों में रक्त बहता हो, हृदय में बल हो, बुद्धि में प्रखरता हो। जवानी का उपयोग कर लेना। परमात्मा तक जाना हो तो जवानी का उपयोग कर लेना। क्योंकि उसके मंदिर में भी नाचते हुए जाना पड़ता है, उत्सव से भरे जाना पड़ता है। वहां मुर्दे और लाशों की तरह मत पहुंचना। स्ट्रेचर पर पड़े हुए मत पहुंचना। नहीं तो वे मंदिर के द्वार भी तुम्हारे लिए नहीं खुलेंगे। भगवान का मंदिर कोई अस्पताल नहीं है! वह महोत्सव है।
जो तुमने जीवन-ऊर्जा वासना की बलिवेदी पर चढ़ायी है, वही वासना की वेदी
पर चढ़ायी गयी ऊर्जा जिस दिन तुम प्रार्थना की वेदी पर चढ़ाते हो, उसी दिन

धार्मिक हो पाते हो। ऊर्जा वही है, वेदियां बदल जाती हैं। संसार का देवता है, फिर भगवान है, ऊर्जा वही है।
इसलिए तुम अक्सर पाओगे कि जैसे कोई मजनू लैला के लिए दीवाना होता है, वैसा ही कोई चैतन्य कृष्ण के लिए दीवाना हो जाता है। दीवानगी वही है। जैसे कोई शीरीं फरहाद के लिए पागल होती है, वैसे ही कोई मीरा कृष्ण के लिए पागल हो जाती है। पागलपन वही है। अगर तुम मनोवैज्ञानिक को पूछो--खासकर फ्रायडियन मनोवैज्ञानिक को--तो वह तो कहेगा कि यह वासना का ही प्रक्षेपण है। इसमें कुछ बहुत भेद नहीं है। क्योंकि मीरा कृष्ण से वही तो बातें कर रही है जो आमतौर से स्त्रियां अपने प्रेमी से चाहती हैं--कि मैंने सेज सजायी है, देखो कितने फूल सेज पर बिछाए हैं और तुम अभी तक नहीं आए! यह भाषा तो कामना की है, वासना की है।
सच, प्रार्थना की भाषा भी कामना की ही भाषा है, सिर्फ मंदिर का देवता बदल गया है। प्रार्थना उतनी ही प्रज्वलित होती है, जितनी वासना। यह वही तेल है, जो वासना में जलता है और वासना के दीए में जलता है, यह वही तेल है जो प्रार्थना के दीए में भी जलता है।
इसलिए अगर मीरा कहती है कि सेज मैंने सजायी है, फूल बिछाए हैं, आंखें बिछाए तुम्हारे रास्ते पर बैठी हूं और तुम अभी तक नहीं आए! और मैं तुम्हें पुकार रही हूं, मेरे प्राण-प्यारे, तुम आओ! मैं तुम्हारे लिए नाच रही हूं। आओ हम संग-संग खेलें, संग-संग नाचें! आओ हम रास रचाएं! यह भाषा तो वासना की ही है। कोई विरहिणी जैसे अपने पति के लिए पुकारती हो, या अपने प्रेमी के लिए पुकारती हो। इस भाषा में और उस भाषा में कोई भेद नहीं है। परमात्मा है भी हमारा प्रेमी, हम हैं उसके प्रेमी। सत्य को जब कोई उतनी ही त्वरा से पुकारता है जितनी त्वरा से उसने अपनी कामना के विषयों को पुकारा था, तभी सत्य तक पुकार पहुंचती है।
तुम्हारी प्रार्थना अगर तुम्हारी वासना से कमजोर है, तो कभी सफल नहीं होगी। तुम्हारी प्रार्थना ऐसी होनी चाहिए कि तुम्हारी सारी वासनाओं की जीवन-ऊर्जा उसमें प्रविष्ट हो जाए। सारी वासनाएं इकट्ठी होकर जब प्रार्थनारत होती हैं, तभी कोई पहुंचता है।
यह बूढ़ा हाथी फंसा बड़ा कीचड़ में। कीचड़ तुम्हारे भी चारों तरफ है। तुम कीचड़ के ही भरे तालाब में बार-बार स्नान करने जाते हो। आशा यही रखते हो कि शायद कीचड़ में स्नान करने से स्वच्छ हो जाओगे। कीचड़ में स्नान करने से कोई स्वच्छ नहीं होता। और हाथी तो बड़े आदमियों जैसे ही नासमझ होते हैं। शायद इसीलिए आदमी हाथियों को समझदार भी कहता है, क्योंकि दोनों की समझदारी मिलती-जुलती होती है, एक सी होती है। समझदार कहो या नासमझ, मगर दोनों में कुछ बात एक सी होती है।
हाथी को कभी नहाते देखा! जब वह नहा लेता है तालाब में और बाहर निकलता
है तो अपनी सूंड़ से धूल को अपने ऊपर फेंककर घर आ जाता है। बड़ा आदमी जैसा है। नहा भी लिए किसी भूल-चूक से, तो उनका चित्त नहीं मानता। बाहर निकलता है तालाब से, सूंड़ में भर लेता है धूल, अपने सारे शरीर पर फेंक लेता है। फिर हो गए जैसे के तैसे।
यही तो तुम मंदिर में जाकर करते हो। किसी तरह प्रार्थना कर भी ली, तो बाहर निकल भी नहीं पाते कि धूल फिर फेंकने लगते हो। अक्सर तो ऐसा होता है कि प्रार्थना कर रहे होते हो, तभी धूल फेंकने लगते हो। मंदिर में हाथ जोड़े खड़े थे, परमात्मा की तरफ आंखें उठायी थीं, एक सुंदर स्त्री आ गयी, भूल गए परमात्मा-वरमात्मा को! प्रार्थना तो कहते रहे परमात्मा की, लेकिन मन किसी और ही बात से भर गया। और अक्सर ऐसा हो जाएगा कि इस स्त्री की मौजूदगी के कारण तुम और जोर-जोर से प्रार्थना करने लगोगे, और हिलने-डुलने लगोगे--अब इसको प्रभावित भी करना है। परमात्मा तो प्रभावित हों या न हों, किसको पता है! मगर यह स्त्री को कम से कम ख्याल आ जाए कि बड़े धार्मिक हैं, सत्पुरुष हैं, संत हैं। कीचड़ वहीं डाल लेते हैं हम। हमारी प्रार्थना में ही कहीं वासना आ जाती है।
हम प्रार्थना भी करते हैं तो कुछ मांगते हैं परमात्मा से। परमात्मा
को छोड़कर हम सब मांगते हैं--धन मिल जाए, पद मिल जाए, प्रतिष्ठा मिल जाए, कुछ

मिल जाए, कि लाटरी का टिकट लग जाए। हम परमात्मा से क्षुद्र मांगते हैं, व्यर्थ मांगते हैं, असार मांगते हैं। परमात्मा से तो सार वही मांगता है जो परमात्मा के सिवाय और कुछ भी नहीं मांगता। जो कहता है कि सब मेरा खो जाए, लेकिन मैं जान लूं कि तुम कौन हो! सब मेरा मिट जाए, दांव पर लग जाए, लेकिन एक पहचान की किरण उतर आए, एक दफा झलक मिल जाए कि क्या है यह जीवन! मैं कौन हूं! और यह क्या है! इस रहस्य का पर्दा उठ जाए।
उस बूढ़े हाथी ने बड़े प्रयास किए, लेकिन कीचड़ से अपने को न निकाल सका सो
न निकाल सका। राजा के सेवकों ने भी बहुत चेष्टा की, सब असफल हुआ।
महावत भेजे गए। नए महावत होंगे। हाथी तो बूढ़ा था, महावत नए होंगे। उन्होंने सब नयी-नयी विधियां उपयोग में लायी होंगी, लेकिन उस हाथी से उनका कोई संपर्क नहीं था, पहचान न थी। उस हाथी का उन्हें कोई अनुभव न था। उस हाथी के भीतर की जीवन-ऊर्जा किस ढंग से काम करती है, इसका उन्हें पता नहीं था।
इसलिए अक्सर ऐसा हो जाता है, अगर तुम ऐसे आदमी से सलाह लिए जिसे जीवन
का ठीक-ठीक अनुभव न हो, ऐसे आदमी से सलाह लिए जो तुम्हारे जीवन के अनुभव से परिचित न हो, तो भूल हो जाएगी, तो चूक हो जाएगी।
जैनों और बौद्धों ने इस संबंध में भी एक महाक्रांति की। हिंदू कहते हैं, कृष्ण और राम भगवान के अवतार हैं। वे ऊपर से नीचे आते हैं--अवतार का मतलब होता है, ऊपर से नीचे आते हैं। वे ठेठ भगवान के हृदय से आते हैं। लेकिन इसका तो मतलब यह हुआ कि वे कभी आदमी नहीं थे। तो आदमी के जीवन-अनुभव उनके अनुभव नहीं हैं। यह बात बड़ी सोचने जैसी है। वे सीधे भगवान के घर से आते हैं। और हम तो, हम तो लंबे-लंबे जन्मों की अंधेरी रातों से गुजरते आ रहे हैं। न मालूम कितने रास्तों पर भटके हैं, न मालूम कितनी ठोकरें खायी हैं, न मालूम कितने खाई-खड्डों में गिरे हैं, न मालूम कितनी भूलें-चूकें की हैं। हमारा जीवन तो महापाप की लंबी यात्रा है। और वे आते हैं पवित्र मंदिर से सीधे!
जैनों और बौद्धों ने यह बात बदल दी। उन्होंने बुद्ध को और महावीर को अवतार नहीं कहा, तीर्थंकर कहा। तीर्थंकर का अर्थ होता है कि वे भी हमारे साथ ही इस अंधेरे की यात्रा से आ रहे हैं। हमारे ही जैसे रास्तों से गुजरे हैं, हमारे ही जैसे वासना से तड़फे हैं, हमारे जैसे ही रत्ती-रत्ती परेशान हुए हैं, हमारे जैसे ही कीचड़ में फंसे हैं, हमें पहचानते हैं। हमसे कुछ ज्यादा हैं, लेकिन जो भी हम हैं वह तो वे रहे ही हैं। उन्हें हमारी पहचान है।
इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि गीता से उतने लोगों को निर्वाण उपलब्ध नहीं हुआ, जितने लोगों को धम्मपद से निर्वाण उपलब्ध हुआ। गीता आकाशी मालूम पड़ती है। हवाई मालूम पड़ती है। शुद्ध दार्शनिक मालूम पड़ती है। धम्मपद बहुत व्यावहारिक है। आदमी को देखकर कहे गए वचन हैं। उपनिषद आकाश में हैं, आकाश-कुसुम जैसे। पृथ्वी पर उनकी कोई जड़ें नहीं मालूम होतीं। बुद्ध और महावीर के वचन पृथ्वी पर जमे हुए वृक्षों की तरह हैं।
भेद समझना। बुद्ध और महावीर तुम्हारे जैसे ही आदमी हैं। उनका भगवान होना आकाश से अवतरण नहीं है, ऊर्ध्वगमन है। वे तुम्हारी ही तरह धक्के खाते, परेशान होते, टटोलते-टटोलते, धीरे-धीरे आंखों को उपलब्ध हुए हैं। उनका अतीत और तुम्हारा अतीत एक जैसा है। इसलिए उनके वचन तुम्हारे लिए बहुत कारगर होंगे। वे जो कह रहे हैं, तुम्हें जानकर कह रहे हैं। वे तुमसे भलीभांति परिचित हैं, क्योंकि वे अपने से परिचित हैं। वे तुम्हें जानते हैं, क्योंकि वे अपने को जानते हैं। उनकी तुम पर महाकरुणा होगी, क्योंकि वे जानते हैं, कैसी अड़चन है! कैसी कठिनाई है! जब आदमी वासना में फंसा होता है, तो निकलना कितना मुश्किल है, यह उन्हें अपने अनुभव से पता है।
बुद्ध बार-बार कहते हैं अपने भिक्षुओं को कि पिछले जन्म में मैं भी ऐसा ही फंसा था। उसके पहले मैं भी ऐसा ही उलझा था। भिक्षुओ, तुम निराश न होओ, हताश न होओ। मैं पहुंच गया देखो, ऐसे ही उलझा था। मैं निकल गया देखो, ऐसे ही उलझा था! तुमसे भी ज्यादा मेरी उलझन थी। तुमसे भी बड़ा मेरा पाप था।

तुमसे भी बड़ी मेरी नासमझी थी। तुम हताश मत होओ। अगर मैं निकल आया, तो तुम भी निकल आओगे। मेरे निकल आने में तुम्हारे निकल आने का सबूत है, क्योंकि मैं तुम जैसा आदमी हूं।
हिंदू और बौद्धों की भगवान की धारणा भिन्न है। हिंदू समझते हैं, भगवान का मतलब होता है जिसने दुनिया बनायी। बौद्ध कहते हैं, भगवान का अर्थ होता है जिसने दुनिया को जान लिया। बनाने-वनाने का सवाल नहीं है, बनायी तो किसी ने भी नहीं है, जिसने दुनिया को जान लिया। जिसने यह जान लिया कि दुनिया कैसे काम कर रही है। जो इस रहस्य से परिचित हो गया, वह भगवान है। हिंदू कहते हैं, भगवान पहले, फिर दुनिया। बौद्ध कहते हैं, पहले दुनिया, फिर भगवान। भगवान दुनिया के अनंत-अनंत अनुभवों के बीच उठा हुआ शिखर है। इत्र है। बहुत देखा, भटका, पाप किया, सब तरह की भूलें; सब नरकों में गए, सब स्वर्गों में गए; सुख देखे, दुख जाने; सब तरफ से, सब दिशाओं से जीवन को टटोला, और टटोलते-टटोलते-टटोलते एक दिन वह घड़ी आयी कि इस जीवन के पार उठ गए, ऊपर उठ गए, इस जीवन से मुक्त हो गए। इस मुक्ति का नाम भगवत्ता। इसलिए हिंदू और बौद्धों के बीच भगवान शब्द में कभी भी पर्यायवाची मत मान लेना, वे पर्यायवाची नहीं हैं। जब हिंदू कहते हैं राम भगवान, उनका अर्थ अलग है। उनका अर्थ यह है कि उन्होंने कभी पाप देखा नहीं। उन्होंने कभी पाप किया नहीं। वे शुद्ध उतरते हैं आकाश से--निर्मल, निष्कलुष। जब बुद्ध कहते हैं कि मैं भगवान हूं, तो बुद्ध का अर्थ यह है, मैंने पाप देखा, जैसा तुम देख रहे हो। तुमसे भी ज्यादा देखा, लेकिन मैंने गौर से देखा, तुमने गौर से नहीं देखा, बस इतना ही फर्क है। तुम भी गौर से देख लो-- सम्मादिट्ठि--तुम भी सम्यकरूपेण देख लो तो तुम भी मुक्त हो जाओगे। जिसने पाप को गौर से देख लिया, वह पाप के बाहर हो जाता है।
यह हाथी जाता रहा होगा उसी तालाब पर जवानी में, अब भी गया है। अनेक महावत आए--नए थे। उन्हें इस हाथी का कोई अनुभव न था। शायद उन्होंने इस बूढ़े हाथी को मारा-पीटा हो, बरछे चुभाए हों, सताया हो कि किसी तरह बाहर निकल आए। लेकिन जो कीचड़ में फंसा है, उसे सताकर तुम बाहर निकालोगे! वैसे ही दुर्बल है और सताओगे!
ख्याल करना, तुम नरक में पड़े हो और तुम्हारे पंडित-पुजारी तुमसे कहते हैं कि अगर तुम नहीं निकले तो और बड़े नरक में भेज दिए जाओगे।
थोड़ी तो दया करो! थोड़ी तो मनुष्यता दिखलाओ! आदमी वैसे ही नरक में पड़ा है। और कहां नरक है! और इससे बदतर क्या नरक होगा! और आप आ गए कि कहते हैं कि अगर नहीं निकले इससे तो और बड़े नरक में भेज दिए जाओगे। इसी से निकलने का उपाय नहीं सूझ रहा है और तुम और बड़े नरक में भेजने का इंतजाम कर रहे हो! लोग सोचते हैं, शायद भय से लोगों के जीवन बदले जा सकें! उन नए महावतों
ने भय दिया होगा। सताया होगा। यही तो महावत जानते हैं। मारे होंगे बरछे, उकसाया होगा कि शायद भय में, पीड़ा में, निकल आए बाहर। लेकिन पीड़ा से कोई बाहर नहीं निकलता। पीड़ा मुक्तिदायी नहीं है। पीड़ा तो हमने वैसे ही बहुत झेल ली!
तुम क्या सोचते हो, उस बूढ़े महाबलवान हाथी को, जिसका सुंदर अतीत था, कीचड़ में फंसे देखकर पीड़ा नहीं हो रही होगी! वह मरा जा रहा होगा। वह गड़ा जा रहा होगा। वह प्रार्थना कर रहा होगा कि हे प्रभु, पृथ्वी फट जाए तो मैं इसमें समा जाऊं, मेरी मौत हो जाए, यह दिन देखने को बदा था! कि इस साधारण सी तलैया की कीचड़ में उलझ जाऊंगा और निकल न सकूंगा! यह कमजोरी! यह दुर्बलता! यह दिन देखने को बदा था! और पीड़ा क्या होगी? तुम्हारे बरछे और क्या चुभेंगे? उसका सारा अहंकार चुभा पड़ा है, उसकी सारी अस्मिता चुभी पड़ी है, और तुम उसे मारोगे, पीटोगे!
या शायद महावतों ने प्रलोभन दिया हो। सुंदर-सुंदर भोजन सामने रखे हों
कि शायद भोजन को देखकर बाहर निकल आए। लेकिन जो कीचड़ में फंसा है, वह भोजन को देखकर भी बाहर निकल नहीं सकता।
लोभ और भय काम न करेंगे। और यही दो बातें काम में लायी जाती रही हैं-- स्वर्ग का लोभ, नरक का भय। सदियां बीत गयी हैं, तुम्हारे पंडित-पुरोहित तुम्हारे किनारे खड़े हैं तालाब के और चिल्ला रहे हैं कि अगर कीचड़ में

ज्यादा देर रहे तो नरक; अगर जल्दी निकल आओ तो स्वर्ग; अगर अभी निकल आओ तो अच्छा इंतजाम कर देंगे स्वर्ग में। मगर न लोभ का कोई परिणाम होता है, न भय का कोई परिणाम होता है। और सुनते-सुनते तुम इन बातों के आदी हो गए हो। अब न तुम्हें स्वर्ग की चिंता है, न तुम्हें नर्क का कोई भय है। अब तुम कहते हो, जब होगा तब होगा, अब हम जानते हैं कि हमसे तो निकलते नहीं बनता इस कीचड़ से, तुम्हारे भय और तुम्हारे लोभ तुम समझो!
लेकिन पुराना महावत आया। उसने कुछ और किया। उसने बड़ी अदभुत बात की।
यह छोटी सी घटना है, मैं चाहता हूं ताकि तुम समझ सको कि छोटी-छोटी घटना से खूब निचोड़ा जा सकता है।
राजा ने पुराने महावत को बुलाया। सोचा शायद वही काम आ सके।
पुराना महावत वैसा ही वृद्ध हो गया है जैसा हाथी। दोनों साथ-साथ बड़े हुए, साथ-साथ बूढ़े हो गए हैं। दोनों के जीवन का संग-साथ का अनुभव है। एक-दूसरे से पहचान है। एक-दूसरे को जानते हैं। एक-दूसरे से बहुत गहरी मैत्री है। एक-दूसरे की चेतना से संबंध है। जानता है बूढ़ा महावत कि इस हाथी पर कौन सी बात काम करेगी! इसने देखा है उसको युद्धों के मैदानों में! इसने कई बार वे क्षण भी देखे होंगे जब हाथी कमजोर पड़ा जाता था, लहूलुहान हो गया था, और बजा नगाड़ा और हाथी भूल गया लहूलुहान होना और फिर दौड़ पड़ा, फिर जूझ गया! इसे याद होंगे वे दिन। यह जानता है इस हाथी को कि एक ही बात इसको बाहर निकाल सकती है कि इसका योद्धा जाग जाए, इसका संकल्प प्रज्वलित हो जाए। एक ही बात इसे बाहर ला सकती है कि यह भूल जाए कि मैं यह जीर्ण-जर्जर देह हूं, इसे याद आ जाए कि मैं आत्मवान हूं।
और यह बूढ़ा महावत जब से अवकाश प्राप्त हुआ, राजा की नौकरी से छूटा, तब
से बुद्ध के सत्संग में रहा था, वह सत्संग भी शायद उसे यह बोध दे गया हो। यह कहानी जुड़ी है। शायद बूढ़े महावत ने बुद्ध से सीखा हो और फिर बुद्ध ने बूढ़े महावत को हाथ में लेकर अपने और भिक्षुओं को भी जगाने की कोशिश की। बूढ़ा महावत बुद्ध के पास जाता है, सुनता है, बैठता है। उसे शायद याद आया हो, बुद्ध किस तरह जगाते हैं! कीचड़ में ही तो फंसे हैं लोग! किस तरह पुकारते हैं! किस तरह बजाते हैं नगाड़े युद्ध के! किस तरह फुसलाते हैं तुम्हारे भीतर की आत्मा को! किस तरह तुम्हें स्मरण दिलाते हैं कि तुम कौन हो? अमृतस्य पुत्रः! कि तुम अमृत के पुत्र, तुम मृत्यु की कीचड़ में दबे पड़े हो! पुकारते हैं कि देख तू कौन है! भगवान स्वयं तू है, और इस छोटी सी बात से नहीं छूट पा रहा है!
इस भेद को समझना। बुद्ध न तो भय देते हैं, न लोभ देते हैं। बुद्ध तो सिर्फ तुम्हें स्मृति देते हैं। इसलिए बुद्ध की भाषा में सबसे महत्वपूर्ण जो शब्द है, वह है सम्यक-स्मृति। तुम्हें स्मरण आ जाए कि तुम कौन हो।
तुमने प्रसिद्ध कहानी सुनी होगी--विवेकानंद को बहुत प्रिय थी--कि जंगल में एक शेरनी गर्भवती थी, छलांग लगाती थी एक पहाड़ी से दूसरी पहाड़ी पर और तभी उसका गर्भ गिर गया। नीचे भेड़ों का एक समूह जा रहा था। वह बच्चा, सिंहनी का बच्चा, सिंह-शावक भेड़ों में पड़ गया। सिंहनी तो चली गयी, वह बच्चा भेड़ों में ही बड़ा हुआ। तो स्वभावतः उस बच्चे ने यही जाना कि मैं भेड़ हूं। हम वही तो सीख लेते हैं जो हमें सिखाया जाता है। जिन में तुम बड़े हुए, वही तो तुम हो गए--हिंदू-घर में हुए तो हिंदू, जैन-घर में हुए तो जैन, मुसलमान-घर में हुए तो मुसलमान; हिंदुस्तान में पैदा हुए तो हिंदुस्तानी और चीन में पैदा हुए तो चीनी--जिनके बीच रहे, उन्होंने तुम्हें अपने में ढाल लिया।
भेड़ों में बड़ा हुआ तो जानता था कि मैं भेड़ हूं। भेड़ों के साथ ही घसर-पसर चलता था। भेड़ें डरती थीं जैसे छोटी-छोटी चीजों से, ऐसा ही वह भी डरता था। भेड़ों जैसा मिमियाता था। सिंह-गर्जना तो उसे आती ही नहीं थी--सुनी ही नहीं थी, पहचान ही न थी उससे। जिसकी पहचान न हो, जिसको सुना ही न हो, वह आए भी तो कहां से आए! संस्कार ही न था कोई। फिर बड़ा होने लगा--लेकिन था तो सिंह, तो थोड़े ही दिनों में भेड़ों से ऊपर उठ गया। फिर भी याद न आयी, क्योंकि सिंहों के पास दर्पण तो होते नहीं। और भेड़ों ने भी कोई फिकर न की, उसी के

साथ बड़ी होती रही थीं तो धीरे-धीरे उसकी आदी हो गयी थीं कि इस ढंग की भेड़ है मान लो, कि इसी तरह की है, इसको यही रंग है। वह बड़ा भी हो गया, लेकिन शाकाहारी का शाकाहारी! घास-पात खाता था। भेड़ों के साथ घसर-पसर चलता था। लेकिन एक दिन बड़ी अजीब घटना घट गयी। एक बूढ़े सिंह ने भेड़ों के इस झुंड
पर हमला किया। वह बूढ़ा सिंह तो चौंककर खड़ा हो गया, वह तो भूल ही गया हमला इत्यादि--इनके बीच में एक जवान सिंह भागा चला जा रहा है! यह तो उसने कभी सुना न देखा, न शास्त्रों में पढ़ा! यह हो क्या रहा है! उसे अपनी आंख पर भरोसा न आया होगा, उसने आंखें मींड़ी होंगी कि यह हुआ क्या, यह बात क्या है, ऐसा तो कभी देखा नहीं! वह बीच में जैसे भेड़ों में भेड़। वह तो भूल ही गया, भूख-प्यास लगी थी, वह तो भूल ही गया, वह भागा। भेड़ें भागीं, उनके साथ यह युवा सिंह भी भागता रहा, बामुश्किल बूढ़ा सिंह पकड़ पाया।
पकड़ा तो मिमियाने लगा, रोने लगा, गिड़गिड़ाने लगा, कहने लगा, छोड़ दो महाराज, मुझे जाने दो, मेरे सब संगी-साथी जाते हैं! उस बूढ़े ने कहा, ऐसे नहीं जाने दूंगा, यह तो बड़ा चमत्कार है! तुझे हुआ क्या है? तेरा होश खो गया है? तेरा होश खो गया है वह भी ठीक, भेड़ों को क्या हुआ? ये तेरे साथ खड़ी कैसे हैं? उसने कहा, मैं भेड़ हूं, इसमें कुछ भी नहीं हुआ, मैं जरा बड़ी भेड़ हूं, मगर मैं हूं तो भेड़ ही। मेरा रंग-ढंग अलग है, ऐसा कभी-कभी हो जाता है। लेकिन मुझे छोड़ो, मुझे जाने दो--उसको पसीना उतरने लगा।
लेकिन बूढ़ा सिंह छोड़ा नहीं। घसीटकर ले गया नदी के किनारे, झुका खुद, झुकाया उसे और कहा, पानी में देख! जैसे ही उस नए युवा सिंह ने पानी में दो तस्वीरें देखीं--बूढ़े सिंह की और अपनी--गर्जना निकल गयी। सिखानी न पड़ी। ऐसी गर्जना कि पहाड़ कंप गए, कि बूढ़ा सिंह कंप गया। बूढ़े सिंह ने कहा, अब तू जा तुझे जहां जाना हो।
एक क्षण में सब बदल गया। अब वह भेड़ नहीं था, वह दुख-स्वप्न टूट गया, उसे अपने स्वरूप का बोध हो गया।
बुद्धपुरुष यही करते हैं। बुद्धपुरुष बूढ़े सिंह हैं। कोई तुममें आदमी बनकर बैठ गया है, कोई स्त्री बनकर बैठ गया है, वह पकड़-पकड़कर ले जाते हैं नदियों के किनारे, कहते हैं जरा झांककर देखो, तुम वैसे ही हो जैसा मैं हूं। वैसा ही अमृत तुममें भरा है, जैसा मुझमें। वैसी ही भगवत्ता तुममें जैसी मुझमें। जरा देखो मेरी शकल, अपनी शकल पहचानो, न तुम स्त्री हो न तुम पुरुष हो, तुम चैतन्य हो। न तुम जवान हो, न तुम बूढ़े हो; न तुम दीन हो, न दरिद्र हो, न अमीर हो; न तुम गोरे हो, न काले हो; तुम निराकार, निर्गुण।
इस बूढ़े महावत ने शायद बुद्ध से ही यह बात सीखी होगी--निश्चित बुद्ध
से ही सीखी होगी। इस हाथी को भी जानता था, फिर बुद्ध की चर्चाओं में सूत्र पकड़ आ गया होगा। आया बूढ़ा महावत, उसने अपने पुराने अपूर्व हाथी को कीचड़ में फंसे देखा। ऐसी दुर्दशा उसने कभी देखी नहीं थी। सोचा भी नहीं था, सपने में नहीं सोचा था, कि यह अपूर्व शक्तिशाली हाथी इतना दुर्बल हो जाएगा कि कीचड़ से न निकल सके--कीचड़ से न निकल सके! जो किसी भी युद्ध-व्यूह से बाहर निकल आया था, उसे एक दिन कीचड़ के साथ मात खानी होगी!
वह हंसा। क्यों हंसा? हंसा होगा देखकर जगत की स्थिति। ऐसे सबल दुर्बल
हो जाते हैं! ऐसे धनवान दरिद्र हो जाते हैं! ऐसे सम्राट भिखारी हो जाते हैं! ऐसे जवान थे, अर्थियों पर लद जाते हैं! हंसा देखकर यह भी कि यह भूल कैसे गया? अपना स्मरण इसे नहीं रहा कि मैं कौन हूं! कैसे यह विस्मृति हुई? बड़े युद्धों का विजेता, हाथियों में सम्राटों जैसा सम्राट, यह हस्तिराज, इसे भूल कैसे हो गयी? यह आज कीचड़ से नहीं निकल पा रहा है! इसे अपनी स्मृति बिल्कुल ही चली गयी! इसलिए हंसा होगा।
और उसने किनारे से संग्राम-भेरी बजवायी। बुद्ध के पास यही सीखा होगा। युद्ध-बाजे बजवाए। जानता था इस हाथी को कि शायद वह संगीत सुनकर इसे याद आ जाए।
इसीलिए तो सत्संग का मूल्य है। सत्संग का अर्थ होता है, शायद किसी बुद्धपुरुष के पास बैठकर तुम्हें अपने बुद्धत्व की याद आ जाए। शायद किसी सदगुरु के पास बैठे-बैठे तुम्हें याद आ जाए कि जो इस व्यक्ति के भीतर है, वही मेरे भीतर भी तो है। मैं नाहक परेशान हो रहा। मैं नाहक चिंतित, उदास हो

रहा। मैं नाहक हताश हो रहा। शायद किसी खिले हुए फूल को देखकर बंद कली को भी खिलने का सपना पैदा हो जाए। शायद किसी जले दीए को देखकर बुझे दीए को भी स्मरण आ जाए कि मैं भी जल सकता हूं--तेल है, बाती है, सब है, कमी क्या है?
इस बूढ़े महावत ने बड़ी कला की। बड़ा होशियार रहा होगा। बड़ा बुद्धिमान रहा होगा। बैंड-बाजे बजवा दिए। उन बैंड-बाजों की चोट--हाथी भूल ही गया होगा, कैसी कीचड़! कैसा तालाब! एक क्षण को जैसे सारी बात विस्मृत हो गयी। भविष्य, अतीत, सब विस्मृत हो गया। उन बैंड-बाजों की चोट में वर्तमान में आ गया होगा। देह को भूल गया, जाग गयी भीतर की स्मृति कि मैं कौन हूं--महा बलशाली हो गया।
युद्ध के नगाड़ों की आवाज सुन जैसे अचानक बूढ़ा हाथी फिर जवान हो गया और कीचड़ से उठकर किनारे पर आ गया।
बुद्ध का बड़ा प्रसिद्ध वचन है, तुम वही हो जाते हो जो तुम सोचते हो कि तुम हो! पुरानी बाइबिल कहती है, एज ए मैन थिंकेथ, जैसा आदमी सोचता वैसा ही हो जाता। तुम्हारा विचार ही तुम्हारी नियति है। तुम्हारा विचार ही तुम्हारा भाग्य-निर्माता है। सोचता था कमजोर हो गया, बूढ़ा हो गया, तो बूढ़ा था। अब इस नगाड़े की आवाज में भूल गया और याद आ गयी पुरानी और सोचा कि मैं महा बलशाली, मैं हस्तिराज, मैंने इतने युद्ध देखे, इतने युद्ध जीता, भूल ही गया, कीचड़ इत्यादि कैसे छूट गयी पता ही नहीं चला, छूटने की चेष्टा भी नहीं करनी पड़ी। उस स्मरण में ही मुक्ति हो गयी।
इसलिए बुद्ध कहते हैं, सम्यक-स्मृति मुक्ति है। तुम्हें याद आ जाए कि तुम कौन हो। तुम परमात्म-स्वरूप हो। अहं ब्रह्मास्मि, जैसा उपनिषद कहते हैं कि मैं ब्रह्म हूं; कि अलहिल्लाज मंसूर कहता है, अनलहक, कि मैं सत्य हूं; कि महावीर कहते हैं, अप्पा सो परमप्पा, जो आत्मा है वह परमात्मा है। वह उठकर किनारे आ गया। इतनी सरल बात, ऐसे चला आया जैसे कीचड़ इत्यादि
थी ही नहीं। वह जैसे भूल गया अपनी वृद्धावस्था, अपनी कमजोरी। उसका सोया योद्धा जाग उठा और यह चुनौती काम कर गयी।
चुनौती काम करती है। बुद्धपुरुष तुम्हें चुनौती देते हैं। बुद्धपुरुष तुम्हें भयभीत नहीं करते। जो भयभीत करे, समझ लेना वह बुद्धपुरुष नहीं है। जो तुम्हें डराए, धमकाए, वह तो राजनीतिज्ञ है। जो कहे कि नरक भेज देंगे, वह तो बड़ी राजनीति चल रहा है। जो कहता है स्वर्ग में बिठा देंगे, वह तो बड़ी राजनीति चल रहा है। लोभ और भय तो राजनैतिक दांव-पेंच हैं। बुद्धपुरुष चुनौती देते हैं। बुद्धपुरुष पुकारते, बुद्धपुरुष संगीत पैदा करते तुम्हारे चारों तरफ, परलोक का संगीत, कि उस संगीत की चोट में तुम्हारे भीतर कुछ जग जाए।
नगाड़े, बैंड-बाजे काम कर गए। हाथी उस भाषा को समझ गया। समझा उसने युद्ध में हूं। क्षण भी देर न लगी। ऐसा भी नहीं कि सोचा-विचारा कि अब क्या करूं, क्या न करूं? अब युद्ध में कहीं सोच-विचार का मौका होता है! युद्ध में तो वही जीतता है जो सोच-विचार में नहीं पड़ता, जो सीधा जूझ जाता है। युद्ध में तो वही जीतता है जो क्षण को भी सोच-विचार में नहीं खोता, क्योंकि क्षण गया कि तुम पिछड़ गए, दूसरा हाथ मार लेगा। वहां तो प्रतिपल जीना पड़ता है। पुराना योद्धा था, पुराना सिपाही था वह हाथी, उसे क्षण देर न लगी।
वह तो ऐसी मस्ती और ऐसी सरलता और सहजता से बाहर आया जैसे कि वहां कोई कीचड़ थी ही नहीं, और जैसे कि वह कभी फंसा ही न था।
जब बुद्ध को ज्ञान हुआ और किसी ने पूछा कि आपको क्या मिला? तो वह हंसे, उन्होंने कहा, मिला कुछ भी नहीं, क्योंकि मैंने कभी कुछ खोया ही नहीं था। मिला कुछ भी नहीं, क्योंकि जो मेरे पास था बस उसका मुझे पता चला; मिला कुछ भी नहीं।
कहते हैं, झेन फकीर बोकोजू जब समाधि को उपलब्ध हुआ तो हंसने लगा और फिर जिंदगीभर हंसता रहा। जब भी कोई कुछ पूछे, तो वह हंसे। लोग उससे पूछते थे, आप हंसते क्यों हैं? हर बात में हंसते क्यों हैं? वह कहता है, इसलिए हंसता हूं कि कोई भी यहां फंसा नहीं है और सभी को यह ख्याल है कि लोग फंसे हैं। कीचड़ है नहीं और लोग फंसे हैं। मान्यता।

तुमने देखा, धन तुम्हें पकड़े हुए है? धन तुम्हें पकड़ता नहीं। तुम धन
को क्या खाक पकड़ोगे? कैसे पकड़ोगे? सिर्फ एक भ्रांति है। धन तुम्हारा नहीं है। तुम तो नहीं थे तब भी धन था, तुम नहीं रहोगे तब भी धन होगा। जमीन का टुकड़ा कहते हो मेरा है, तुम्हारे होने से कुछ लेना-देना नहीं, जमीन को पता ही नहीं कि आप आए और गए; कब आए, कब गए, कुछ पता नहीं है। जमीन का टुकड़ा तुम्हें नहीं पकड़ता है, तुम कैसे पकड़ोगे? बस सिर्फ एक ख्याल है--मेरा! और सारा ख्याल ख्याल का मजा है।
एक आदमी के घर में आग लग गयी और वह छाती पीटकर रोने लगा। और किसी ने कहा, मत रो पागल, तुझे पता नहीं कि तेरे बेटे ने कल मकान तो बेच दिया; रात सौदा हो गया है। बस आंसू सूख गए, वह हंसने लगा। वह बोला, ऐसा! यह तो बड़ा अच्छा हुआ! तो मकान बिक गया? अब भी मकान जल रहा है, वैसे ही जल रहा है, और भी ज्यादा जल रहा है, मगर अब रोना-धोना नहीं हो रहा है। तभी बेटा भागा आया, उसने कहा कि आप खड़े क्या देख रहे हैं, लुट गए! उसने कहा, अरे, लुट गए और किसी ने तो मुझे कहा मकान बेच दिया! उसने कहा, बात हुई थी, लेकिन बयाना आज होने का था। फिर छाती पीटने लगा।
मकान वही है, आदमी वही है, बस बीच में मेरा नहीं है ऐसा ख्याल आ गया था
तो आंसू रुक गए। अब मेरा है तो फिर आंसू आ गए। जो हमारा जीवन जिसे हम कहते हैं, वह हमारी धारणा मात्र है।
वह हाथी ऐसे बाहर आ गया जैसे फंसा ही न हो, जैसे वहां कोई कीचड़ हो ही न, ऐसी सरलता और सहजता से।
ऐसी सरलता और सहजता से ही मिलती है समाधि। संसार से आदमी ऐसे ही निकल आता है। सिर्फ स्मरण आ जाए, आत्म-स्मरण आ जाए।
इसलिए मैं भी तुम्हें संसार छोड़ने को नहीं कहता, क्योंकि मैं कहता हूं, पकड़ ही नहीं सकते, पहली तो बात, छोड़ोगे कैसे? छोड़ना तो नंबर दो होगा, पहले तो पकड़ना होना चाहिए। इसलिए मैं तुमसे भागने को भी नहीं कहता। भागोगे कहां? जागने को कहता हूं। यह हाथी जाग गया। यह बैंड-बाजे की चुनौती इसे जगा गयी। बस जागो।
आकर किनारे पर ऐसा चिंघाड़ा जैसा वर्षों से लोगों ने उसकी चिंघाड़ न सुनी थी। वे पुराने युद्ध फिर जैसे जीवंत हो उठे।
चेतना तो कभी न बूढ़ी होती, न दुर्बल होती। चेतना तो न कभी जन्मती और न मरती। चेतना तो शाश्वत है। और चेतना तो सदा एक जैसी है। एकरस है।
वह हाथी बड़ा आत्मवान था। इतने जल्दी याद आ गयी। लोग भी इतने आत्मवान नहीं हैं। बड़ा संकल्पवान था। इतनी चुनौती में संकल्प जग गया! घोषणा हो गयी। बड़े जल्दी जागा।
भगवान के भिक्षुओं ने जब यह बात भगवान को कही, तो उन्होंने कहाः भिक्षुओ, उस अपूर्व हाथी से कुछ सीखो। उसने तो कीचड़ से अपना उद्धार कर लिया, तुम कब तक कीचड़ में पड़े रहोगे? और देखते नहीं कि मैं कब से संग्राम-भेरी बजा रहा हूं! भिक्षुओ, जागो, और जगाओ अपने संकल्प को। वह हाथी भी कर सका, क्या तुम न कर सकोगे? क्या तुम उस हाथी से भी गए-बीते हो? चुनौती तो लो उस हाथी से! कुछ तो शरमाओ, कुछ तो संकोच करो, कुछ तो लजाओ, तुम भी आत्मवान बनो! और एक क्षण में ही क्रांति घट सकती है।
एक क्षण में क्रांति घट सकती है, ऐसा महासूत्र बुद्ध ने दिया है। जन्म-जन्म का अंधेरा एक क्षण में कट सकता है। जिस घर में रात ही रात रही है जन्मों से, सदियों से जहां अंधेरा ही अंधेरा रहा है, एक दीया जले, छोटा सा दीया जले, अंधेरा कट जाता है। अंधेरा यह थोड़े ही कहता है कि मैं सदियों पुराना हूं, अभी नए-नए दीए से कैसे कटूंगा? अंधेरे की कोई उम्र थोड़े ही होती है। हजार साल पुराना अंधेरा हो कि एक रात पुराना अंधेरा हो, कुछ फर्क नहीं पड़ता, जब दीया जलता है तो दोनों मिट जाते हैं। अंधेरे की कोई शक्ति होती नहीं, अंधेरा नपुंसक है। संसार नपुंसक है।
जिस दिन आत्मा का दीया जलता है, कोई शक्ति नहीं रोकती। इसलिए बुद्ध ने
यह नहीं कहा है कि क्रमिक-विकास होता है; क्रमिक होता है इसलिए कि तुम आत्मवान नहीं हो। तुम हिम्मत ही नहीं लेते, तो सीढ़ी-सीढ़ी चढ़ो, इंच-इंच सरको। जिनमें हिम्मत है, वे छलांग लगा जाते हैं। एक क्षण में घट जाता है।

अक्रमिक। एक क्षण में, बिना समय को खोए घटना घट सकती है, तुम्हारी त्वरा पर निर्भर है।
इसलिए बुद्ध ने कहा--एक क्षण में क्रांति घट सकती है। त्वरा चाहिए, भिक्षुओ। तीव्रता चाहिए। ऐसी तीव्रता कि तुम्हारा संपूर्ण प्राण-मन उसमें संलग्न हो जाए। अपनी शक्ति पर श्रद्धा चाहिए, भिक्षुओ।
बुद्ध कहते हैं, अपनी शक्ति पर श्रद्धा। बुद्ध यह भी नहीं कहते कि बुद्ध की शक्ति पर श्रद्धा। क्योंकि बुद्ध की शक्ति पर श्रद्धा तो फिर किसी तरह का परालंबन बन जाएगी। फिर तुम परतंत्र हो जाओगे। और परतंत्रता संसार है। इसलिए बुद्ध कहते हैं, अप्प दीपो भव! अपने दीए खुद बनो। अपने पर श्रद्धा करो। बुद्ध कहते हैं, मैं तुम्हारी श्रद्धा तुममें जगा दूं, मेरा काम पूरा हो गया। मैं फिर बीच से हट जाऊं।
और देखो मैं कब से संग्राम-भेरी बजा रहा हूं, सुनो। तभी उन्होंने ये गाथाएं कही थीं--

अप्पमादरता होथ स-चित्तमनुरक्खथ।
दुग्गा उद्धरथत्तानं पंके सत्तोव कुंजरो।।
सचे लभेथ निपकं सहायं सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा।।
नो चे लभेथ निपकं सहायं सिद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
राजाव रट्ठं विजितं पहाय एको चरे मातंगरोंंव नागो।।
एकस्स चरितं सेय्यो नत्थि बाले सहायता।
एको चरे न च पापानि कयिरा।
अप्पोस्सुक्को मातंगरोंंव नागो।।
सुखं याव जरा सीलं सुखा सद्धा पतिट्ठिता।
सुखो पांंय पटिलाभो पापानं अकरणं सुखं।।

"अप्रमाद में रत होओ।"
जागो। अप्रमाद यानी सोओ मत। बहुत सो लिए!
"अप्रमाद में रत होओ, अपने चित्त की रक्षा करो।"
अपने चैतन्य की रक्षा करो। जड़ मत बनो। चैतन्य को स्मरण रखो। चैतन्य
को सुलगाओ। चैतन्य को निखारो। जिस-जिस भांति ज्यादा चेतना पैदा हो, उस-उस भांति सब उपाय करो। जिस भांति मूर्च्छा होती हो, वे उपाय छोड़ो। जिन कारणों से जड़ता पैदा होती हो, वे कारण छोड़ो।
"अप्रमाद में रत होओ, अपने चित्त की रक्षा करो, दलदल में फंसे हाथी की तरह तुम भी अपना उद्धार कर सकोगे।"
"यदि साथ चलने वाला कोई बुद्धिमान अनुभवी मिल जाए, तो सभी विघ्नों को दूर कर उसी के साथ स्मृतिवान और प्रसन्न होकर धीरपुरुष चले।"
यदि कोई मिल जाए ऐसा जो जागा हो, यदि कोई मिल जाए ऐसा जो बुद्धिमान हो
और अनुभवी हो--बुद्धिमान अकेला काम नहीं आता। कभी-कभी ऐसा होता है, लोग बुद्धिमान होते हैं लेकिन अनुभवी नहीं होते। तो बुद्धि तो बड़ी प्रखर होती है, तो तर्क तो खूब बिठा लेते हैं, लेकिन अनुभव कोई नहीं होता, उनकी बातों में मत पड़ जाना। उनकी बातें बड़ी झंझट में डाल देंगी। उन्हें जीवन का कोई अनुभव तो है नहीं। उन्हें सिर्फ गणित का अनुभव है। उन्हें तर्क का अनुभव है।
मैंने सुना है, जिस आदमी ने औसत का सिद्धांत खोजा--यूनानी गणितज्ञ था, बड़ा बुद्धिमान था; अनुभवी न रहा होगा--अपने बच्चों को लेकर पिकनिक पर गया था। उसने एवरेज, औसत का सिद्धांत खोजा था। और जब कोई सिद्धांत खोजता है नया-नया, तो उसी-उसी में लगा रहता है, उसी-उसी में डूबा रहता है। नदी पार करते थे, उसके पांच-छह बच्चे थे, पत्नी थी। उसने जल्दी से सब बच्चों की ऊंचाई नापी। पत्नी ने कहा, यह क्या कर रहे हो? उसने कहा कि औसत निकाल रहा हूं। गया जल्दी से पांच-छह जगह पानी भी नापा, कितना गहरा है! औसत गहराई नाप ली, औसत ऊंचाई नाप ली, बोला पत्नी से, कोई फिकर नहीं, आने दो बच्चों को।

अब कोई बच्चा लंबा था, कोई छोटा था, कहीं पानी गहरा था, कहीं उथला था।
चल पड़ा वह, बीच में बच्चे, पत्नी पीछे। पत्नी चिल्लायी, क्योंकि एक बच्चा डुबकी खाने लगा। फिर दूसरा बच्चा डुबकी... पत्नी चिल्लायी कि तुम चले क्यों जा रहे हो? ये बच्चे डुबकी खा रहे हैं! उसने कहा, यह हो ही नहीं सकता, वह लौटकर भी नहीं देखता। वह कहता है, यह हो ही नहीं सकता, मेरे सिद्धांत में भूल तो हो ही नहीं सकती।
इधर पत्नी बच्चों को बचाने में लगी है, वह दौड़कर गया वापस रेत पर, उसने जहां गणित किया था अपना, फिर से देखने कि कोई भूल तो नहीं हो गयी। भूल कुछ भी न थी, लेकिन औसत! बुद्धिमानी की तो बात है, अनुभव की बात नहीं है। औसत आदमी कहीं होता है! अब कोई दो फीट का बच्चा था, कोई चार फीट का बच्चा था, दोनों औसत तो तीन फीट के हो गए--तीन फीट का कोई भी नहीं है उसमें!
इसी तरह औसत आमदनी होती है। किसी की आमदनी का नाम औसत आमदनी नहीं है। उसमें बिरला की आमदनी जुड़ी है, उसमें भिखारी की आमदनी जुड़ी है। दोनों को जोड़कर औसत निकाल ली, तो भिखारी भी अमीर हो जाता है, बिरला भी भिखारी हो जाते हैं।
औसत झूठ है। गणित तो ठीक है, तर्क तो ठीक है। औसत उम्र निकाल ली जाती
है कि भारत की औसत उम्र कितनी है। उन्होंने कहा, पैंतीस साल। अब इसमें सत्तर-अस्सी साल, नब्बे साल जीने वाला आदमी भी जुड़ा है, इसमें पहले दिन जो बच्चा पैदा होकर मर गया, वह भी जुड़ा है। पैंतीस साल शायद किसी की भी औसत उम्र न हो। शायद एक आदमी ऐसा न मिले जो ठीक पैंतीस साल जीता है। मगर औसत! कहते हैं, रूस में जब क्रांति हुई तो एक स्कूल की रिपोर्ट छपी और रिपोर्ट में छपा कि यहां सौ प्रतिशत शिक्षा में विकास हुआ है। और जब खोजबीन की गयी तो पाया यह गया कि कुछ ज्यादा नहीं हुआ था, स्कूल में एक ही शिक्षक था, पहले एक विद्यार्थी, अब दो विद्यार्थी हो गए थे--सौ प्रतिशत! सौ प्रतिशत सुनकर ऐसा लगता है कि भारी विकास हो गया।
दिल्ली में ऐसे ही आंकड़े चलते हैं। बड़ा विकास हो रहा है! ऐसा हो गया, वैसा हो गया! आंकड़ों का सारा जाल! और आंकड़े इतना झूठ बोलते हैं जिसका कोई हिसाब नहीं। जिसको झूठ बोलना हो, उसे आंकड़े सीखने पड़ते हैं। आंकड़ों से इतनी सुविधा से झूठ बोला जा सकता है और झूठ इतना सच मालूम होता है! बुद्धिमान अकेले से काम नहीं चलता। बुद्धिमान--इसलिए बुद्ध दो शब्द जोड़ते हैं--बुद्धिमान और अनुभवी।
"यदि साथ चलने वाला कोई बुद्धिमान... ।"
कोरे बुद्धिमान के चक्कर में मत पड़ जाना, कोरे पंडित के चक्कर में मत
पड़ जाना। अनुभवी चाहिए। जिसने जीवन के अनुभव से जाना हो। जो कहता हो, उसे जीआ हो। जो कहता हो, उसका साक्षात्कार किया हो। अगर समाधि की बात करता हो तो शास्त्र में पढ़कर समाधि की बात न करता हो, अनुभव से करता हो। समाधिस्थ हुआ हो।
कुछ लोग बुद्धिमान होते हैं, लेकिन अनुभवी नहीं होते। और कुछ लोग अनुभवी होते हैं, लेकिन बुद्धिमान नहीं होते। अनुभव तो हो जाता है, लेकिन बताने में सफल नहीं होते। वे भी किसी काम के नहीं हैं। उनके लिए तो गूंगे का गुड़ है। गुड़ तो खा गए, मगर बोल नहीं सकते। तो उनसे तुम कुछ न सीख पाओगे। बुद्धत्व पैदा होता है उस आदमी में जिसने अनुभव भी किया और अनुभव के साथ-साथ जिसके पास इतनी क्षमता है कि तुम्हें तर्कयुक्त रूप से समझा भी सके। वही सदगुरु।
"यदि साथ चलने वाला कोई बुद्धिमान अनुभवी मिल जाए, तो सभी विघ्नों को दूर कर उसी के साथ स्मृतिवान और प्रसन्न होकर धीरपुरुष चले।"
दो फिर शर्तें बतायीं।
"स्मृतिवान होकर।"
बुद्धपुरुषों के पास भी सोया-सोया न रहे, नहीं तो कोई सार नहीं है। जागा-जागा रहे। दीया जल रहा हो और तुम झपकी लेते रहो, तो भी कोई फायदा नहीं है। दीया जला कि न जला बराबर।

भेरी, संग्राम-भेरी बज रही हो और हाथी सोया रहता, नींद में पड़ जाता, अफीम चढ़ाए होता, तो कोई मतलब हल नहीं होने वाला था। सोचता कि कौन उपद्रव कर रहा है नींद में!
बुद्धपुरुषों के पास रहना स्मृतिवान होकर, जागे हुए होकर, सजग। एक शब्द न चूक जाए, एक मुद्रा न चूक जाए, बुद्ध की एक झलक न चूक जाए। ऐसा जो जागा हुआ रहेगा, वह सीखेगा।
और दूसरी बात कहते हैं, "प्रसन्नचित्त होकर।"
उदास होकर भी मत रहना बुद्धों के पास। क्योंकि उदासी में तुम खिल न पाओगे। मूर्च्छित रहे तो सुन न पाओगे, उदास रहे तो खिल न पाओगे। उत्सव में रहना।
अब यह तुम जरा बात सुनो। बौद्ध भिक्षु भी यह नहीं माने कि प्रसन्न रहना। बौद्ध भिक्षुओं को देखो तो लंबे चेहरे, उदास, मरे-मराए--बड़ा बोझ ढो रहे हैं! जैसे धर्म कोई बोझ है। मैं तुमसे कहता हूं, धर्म उत्सव है, नृत्य है। धर्म संगीत है। धर्म गीत है। रसो वै सः। धर्म तो रस है। मूल रस है। बुद्ध का यह वचन सुनो, "स्मृतिवान और प्रसन्न होकर।"
स्मृतिवान, ताकि बुद्ध में जो तुम्हारी तरफ बह रहा है, वह चूक न जाए।
और प्रसन्न होकर, क्योंकि प्रसन्न होकर ही तुम्हारे प्राण नाचेंगे। और तुम नाचोगे तो बुद्ध के साथ हो पाओगे।
"सारे विघ्नों को दूर करके साथ हो जाए।"
फिर कोई बाधाएं न माने। हजार बाधाएं हों तो उनका त्याग कर दे बाधाओं का। क्योंकि ऐसे अवसर बार-बार नहीं मिलते हैं।
"यदि साथ चलने वाला कोई बुद्धिमान अनुभवी मित्र न मिले, जैसे राजा अपने विजित राज्य को छोड़कर अकेला घूमता है, या जैसे एकल हाथी अकेला जंगल में घूमता है, तो फिर वैसा ही अकेला विचरण करे।"
बुद्ध कहते हैं, अगर कोई सदगुरु न मिले, तो अकेला ही विचरण करे। असदगुरु से तो बचे। उससे तो अकेला ठीक। कोई मित्र मिल जाए तो ठीक, कोई कल्याण-मित्र--बुद्ध ने जो ठीक उपयोग किया है शब्द गुरु के लिए, वह है कल्याण-मित्र।
दोनों शब्द बड़े प्यारे हैं। एक तो मित्र वे कहते हैं, क्योंकि गुरु मित्र है। उससे बड़ा और कौन मित्र! और वह कल्याण-मित्र है। मित्र तो और भी होते हैं बहुत, लेकिन अक्सर अकल्याण के मित्र होते हैं। शराब पीने जा रहे हो तो बहुत मित्र बन जाते हैं। मांस खा रहे हो तो बहुत मित्र आ जाते हैं। धन-पैसा है तो बहुत साथी हो जाते हैं। धन-पैसा गया तो साथी भी गए। अकल्याण में तो बहुत मित्र हो जाते हैं--जुआघर की दोस्ती। कल्याण-मित्र, जो तुम्हारी शांति में, तुम्हारी समाधि में, तुम्हारे ध्यान में मित्रता बांधे। जिसके सहारे तुम आगे बढ़ने लगो। जो तुम्हें धीरे-धीरे तुम्हारे पंक से खींचे।
वह जो बूढ़ा महावत है, वह कल्याण-मित्र। उसने आकर बैंड-बाजा बजा दिया, हाथी जाग पड़ा। उसने कुछ भी तो नहीं किया। हाथी को न मारा, न पीटा, न हाथी को पुकारा, न कुछ किया, सिर्फ एक स्थिति पैदा कर दी। कल्याण-मित्र का अर्थ होता है, जो तुम्हारे लिए एक परिस्थिति पैदा कर दे जिसमें तुम जाग सको। "नहीं तो अकेला विचरण करे।"
"अकेला रहना श्रेष्ठ है, मूर्ख के साथ मित्रता अच्छी नहीं। अकेला विचरे, पाप न करे। हस्तिराज की तरह अनुत्सुक होकर रहे।"
या तो मित्रता करना तो कल्याण-मित्रता करना, या मित्रता करना ही मत, फिर एकल रहे, अकेला रहे, फिर ऐसे ही चले जैसे अकेला हाथी विचरता है। और अनुत्सुक रहे। जैसे हाथी रास्ते पर चलता है, कुत्ते भौंकते हैं, फिकर नहीं करता, देखता ही नहीं लौटकर, अपना चलता चला जाता है।
"फिर अकेला ही विचरे।"
सिर्फ एक ही ख्याल रहे अकेले में--क्योंकि अकेले में पाप घेरेगा-- इसलिए पाप न करे। बस इतना ही स्मरण रखे कि पाप नहीं करना है। किसी को हानि पहुंचे, ऐसा कुछ भी नहीं करना है। अपना लाभ भी होता हो दूसरे को हानि पहुंचने से, तो भी दूसरे को हानि नहीं पहुंचानी, अपना लाभ भी छोड़ देना है।

बस, दूसरे को हानि न पहुंचे; ऐसे कृत्यों से बचता रहे और अकेला विचरता रहे, तो धीरे-धीरे यात्रा हो जाएगी। अगर संगी-साथी मिल जाए कोई, कल्याण-साथी, तो काफी अच्छा है। जल्दी यात्रा होगी। सुगम हो जाएगा मार्ग।
"वृद्धावस्था तक शील का पालन सुख है। स्थिर श्रद्धा का होना सुख है। ज्ञान का लाभ होना सुख है। पापों का न करना सुख है।"
और बुद्ध ने कहा, सुख एक ही है, श्रद्धा का होना सुख है। स्वयं में श्रद्धा का होना सुख है। सोचो, वह बूढ़ा हाथी जब बाहर निकला होगा कीचड़ से तो कैसे महासुख को न उपलब्ध हो गया होगा! कीचड़ से निकलने का ही सुख नहीं था वह, उससे भी बड़ी बात घटी थी--शायद भीड़ में किसी को भी न दिखायी पड़ी हो; भीड़ ने तो यही देखा होगा कि हाथी कितना मस्त, कीचड़ से निकल आया इसलिए मस्त हो रहा है। बुद्ध कहते हैं, अगर गौर से देखो तो कीचड़ से निकलना तो गौण था, हाथी को अपने पर श्रद्धा आ गयी, इसलिए सुखी हो रहा है। उसे बात दिखायी पड़ गयी कि अरे, मेरा ही विचार था जो मुझे कमजोर बनाए था। मैं बूढ़ा मान रहा था तो बूढ़ा था और बैंड-बाजे में मैं जवान हो गया तो जवान हो गया। तो मेरा विचार ही मेरी नियति है। मैं जो चाहूं, वही हो सकता हूं। मैं जो हो गया हूं, मेरे ही विचारने से हो गया हूं। तो मेरा विचार मेरा बल है। श्रद्धा लौट आयी। स्वयं पर श्रद्धा सुख है।
"शील का पालन सुख है।"
शील का अर्थ होता है, दूसरे को सुख मिले, ऐसा व्यवहार करना। पाप और शील में वही फर्क है जो नकारात्मक नीति और विधायक नीति में होता है। पाप का अर्थ होता है, दूसरे को दुख न मिले। यह नकारात्मक, यह पहला कदम, कि मुझसे दूसरे को दुख न मिले। इतना सध जाए, तो फिर दूसरा कदम शील है, कि मुझसे दूसरे को सुख मिले।
जब तुम दूसरों को दुख न दोगे, तो दूसरे तुम्हें दुख न देंगे। यह आधी यात्रा है। जब तुम दूसरों को सुख देने लगोगे, सब तरफ से सुख की धाराएं तुम्हारे ऊपर बरसने लगेंगी, महासुख होगा।
तो पाप से बचे, शील में संलग्न हो, श्रद्धा को जगाए, वही श्रद्धा अंत में ज्ञान बन जाती है। यही महासुख है। बुद्ध कहते हैं, स्वयं में प्रतिष्ठित हो जाना सुख है।

सुखं याव जरा सीलं सुखा सद्धा पतिट्ठिता।

स्वयं में प्रतिष्ठित हो जाना।

सुखो पांंय पटिलाभो पापानं अकरणं सुखं।।

स्वर्ग कहीं और नहीं है, नर्क भी कहीं और नहीं है। स्वर्ग है अपनी श्रद्धा में प्रतिष्ठित हो जाना, और नर्क है अपने ऊपर श्रद्धा खो देना।
स्वर्ग है इस ढंग से जीना कि तुम्हारे तरफ सुख की धाराएं अपने आप बहें।
इस जगत में प्रतिध्वनियां होती हैं। तुम जो कहते हो, वही तुम पर लौट आता है। तुम गाली दो, गालियां लौट आती हैं। तुम प्रेम बांटो, प्रेम लौट आता है। इस जगत में तो प्रतिध्वनि होती है। तुम दुख बांटो, दुख घना हो जाएगा। तुम सुख बांटो, सुख घना हो जाएगा। जो दोगे, अंततः वही पा लोगे। तुम जो बोओगे, वही काटोगे। यह छोटा सा सूत्र है, लेकिन कितना बड़ा!
इस छोटे से सूत्र पर जीवन महाक्रांति से गुजर जाता है। स्वर्ग तुम्हारे हाथ में है और नर्क भी तुम्हारे हाथ में है--तुम निर्माता हो। अगर तुमने अब तक दुख पाया है, तो स्मरण करना, अपने ही कारण पाया है। दूसरे पर दोष मत देना। दूसरे पर जो दोष देता है, वही अधार्मिक। जो यह स्वीकार कर लेता है कि मैं दुख पा रहा हूं तो जरूर मैंने ही बोया होगा, वही धार्मिक। और धार्मिक के जीवन में विकास होता है, अधार्मिक के जीवन में विकास नहीं होता। क्योंकि अधार्मिक सदा कहता रहता है, दूसरे मुझे दुख दे रहे हैं। इसमें कैसे विकास होगा?

पहली तो बात, दूसरे तुम्हें दुख दे नहीं रहे। दूसरी बात, दूसरे दुख दे रहे हैं तो अब तुम क्या करोगे? जब तक वे देना बंद न करें, तब तक तुम्हारे हाथ में तो कुछ नहीं रहा, तुम तो परतंत्र हो गए। और दूसरे बहुत हैं। इतने बहुत हैं कि जब सब तुम्हें दुख देना बंद करेंगे तब तुम शायद स्वतंत्र हो पाओ, ऐसी घड़ी कभी आएगी, इसका भरोसा करना मुश्किल है।
बुद्ध कहते हैं, तुम्हीं अपने दुख के कारण हो। जब तुम दूसरों को दुख देते हो, तो तुम दुख को निमंत्रण दे रहे हो। और तुम्हीं अपने सुख के कारण हो। जब तुम दूसरों को सुख देते हो, तो तुम सुख को बुलावा देते हो। सुख चाहते हो, सुख दो। दुख चाहते हो, दुख दो। गणित बहुत सीधा-साफ है।
और हर जीवन के अनुभव को माला बनाओ। जागकर जीवन के एक-एक फूल को पिरोओ, ताकि तुम्हारे पास जीवन-सूत्र हाथ में आ जाए। और फिर, अंतिमरूपेण, जीवन के सारे फूलों को निचोड़ लो, सार-सार निचोड़ लो, असार को छोड़ दो, वही सार बुद्धत्व है। वही सार बोधि है।
और जैसे हाथी कीचड़ से निकल आया, तुम भी निकल आओगे। चुनौती स्वीकार करो। धन्यभागी हैं वे, जो बुद्धों की चुनौती को स्वीकार कर लेते हैं।
आज इतना ही।